वीरशैव संस्कृति एवं दर्शन

(पीठारोहण रजत जयंती स्मृति ग्रंथ)



सम्पादक : डॉ. रमा घोष

प्रकाशक :
शैवभारती शोधप्रतिष्ठान
जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१००१

First Edition : 2017

Price : 300.00

ISBN : 978-93-82639-27-5
Series of Book No. 87

मुद्रक : मित्तल ऑफसेट
वाराणसी

संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी टाईप सेटिंग
अदिति भट्टाचार्या

श्रीकाशीज्ञानसिंहासनाधीश्वर
श्रीश्री १००८ जगद्गुरु विश्वाराध्य
डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का
मङ्गलाशीर्वाद

वीरशैव आगम के ऊपर सम्पन्न हुए अन्ताराष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़े गये निबन्धों का संग्रह डॉ. रमा घोष के संपादकत्व में ग्रंथ के रूप में प्रकाशन करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। वीरशैव एक सनातन धर्म माना जाता है। यह धर्म आगमों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है। इस धर्म में वेदों का भी सम्मान किया गया है, इसलिए यह धर्म वेदागम-समन्वयात्मक माना गया है। इस धर्म के धर्मग्रंथ श्रीसिद्धान्तशिखामणि में–

वेदसिद्धान्तयोरैक्यमेकार्थप्रतिपादनात् ।
प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयोः सदा ।।

इस तरह बताकर वीरशैव धर्म के समन्वयस्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

वीरशैवसाहित्य मूलतः संस्कृत में ही है, शिवागमों के आधार पर लगभग ६वीं शताब्दी में श्रीशिवयोगी शिवाचार्य, जो वेदागमों के पारंगत थे, श्रीसिद्धान्तशिखामणि की रचना की। इसके बाद विपुल संस्कृतसाहित्य की रचना हुई। इसके अलावा भारत के विभिन्न प्रांतों जैसे कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र आदि प्रदेशों के लोकभाषा में भी साहित्य की रचना हुई है। कुछ विद्वानों ने मूल संस्कृतसाहित्य को अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में भी अनुवाद किया। हमारे शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के विद्वानों ने विचार किया कि काशी में इन सभी प्रान्तीय विद्वानों को एक संगोष्ठी के निमित्त काशी में बुलाकर परस्पर विचार-विनिमय किया जाय। इसके लिए एक सुअवसर की प्रतीक्षा रही, उस समय एक सुअवसर ऐसा निकला, मेरे (वर्तमान जं. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का) पट्टाभिषेक का रजत जयंती महोत्सव के उपलक्ष्य में चातुर्मास पर्यंत १२ करोड़ महामंत्र का जप यज्ञ, प्रारंभ हो चुका था। इस कार्यक्रम के लिए देश के सभी प्रांतों एवं विदेशों से भी भक्तगण का इस बृहद् धार्मिक महासभा में आने-जाने का सिलसिला आरंभ हो चुका था, तब यह निश्चिय किया गया कि इस रजत जयंती समारोह के समापन प्रसंग में इस अन्ताराष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया जाय तथा ९ से ११ नवम्बर, २०१४ में इस संगोष्ठी के आयोजन के लिए तिथि की घोषणा हुई।

काशी पीठ के परम भक्त, उद्योगपति पुणे के भारत फोर्ज कंपनी के संस्थापक एवं अध्यक्ष पद्मश्री डॉ. नीलकण्ठ राव कल्याणी का लिंगैक्य प्राप्ति का एक वर्ष पूर्ण हो रहा था, उन्हीं के प्रथम पुण्य स्मरणोत्सव के उपलक्ष्य में इस संगोष्ठी के आयोजन का निश्चय

हुआ, इस संगोष्ठी का संपूर्ण आर्थिक भार भारत फोर्ज कंपनी के वर्तमान अध्यक्ष व डॉ. नीलकण्ठ राव कल्याणी के सुपुत्र श्री डॉ. बाबा कल्याणी तथा उनकी धर्मपत्नी सौ. सुनीता कल्याणी ने वहन किया।

इस संगोष्ठी में १. शैवागमों में वीरशैव धर्म-दर्शन, २. वेद और उपनिषदों में वीरशैव धर्म-दर्शन, ३. पुराणसाहित्यों में वीरशैव धर्म-दर्शन, ४. प्रस्थानग्रन्थों के भाष्य में वीरशैव धर्म-दर्शन, ५. अन्य संस्कृतसाहित्य में वीरशैव धर्म-दर्शन, ६. श्री सिद्धान्तशिखामणि के हस्तप्रति और मुद्रित साहित्य के आधार पर श्रीसिद्धान्तशिखामणि का चिकित्सात्मक संपादन, ७. तमिल भाषा में वीरशैव मूल और अनुवाद साहित्य, ८. तेलगु भाषा में वीरशैव मूल और अनुवाद साहित्य, ९. कन्नड भाषा में वीरशैव मूल और अनुवाद साहित्य, १०. मलयालम भाषा में वीरशैव मूल और साहित्य, ११. मराठी भाषा में वीरशैव मूल और अनुवाद साहित्य, १२. हिन्दी भाषा में वीरशैव मूल और अनुवाद साहित्य, १३. उत्तर भारत के हरियाणा, पंजाब, जम्मू-काश्मीर, राजस्थान और उड़िसा प्रदेश में रहनेवाले वीरशैवों की स्थिति और साहित्य, १४. नेपाल देश के वीरशैवों के जीवनक्रम और साहित्य, १५. रशिया देश में वीरशैवों की स्थिति और साहित्य–इन विविध विषयों पर देशी और विदेशी विद्वानों ने अपने-अपने विषयों पर विद्वत्तापूर्ण निबंध प्रस्तुत करके संगोष्ठी को सफल बनाया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय के धर्मागम विभाग और जंगमवाडी मठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संयुक्त तत्त्वावधान में इस संगोष्ठी का आयोजन किया गया। मैं (पूज्य महास्वामीजी) इस आयोजन कमिटी का प्रमुख रहा। इसके अलावा प्रो. कमलेश झा और डॉ. बसवप्रभु जिर्ली दोनों महासचिव पद पर विराजमान रहे। डॉ. जी.सी. केण्दडमठ ने कोशाध्यक्ष पद संभाला और विभागीय प्राध्यापक डॉ. भक्तिपुत्र रोहतम, डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय, डॉ. रमा घोष, डॉ. एस.डी. प्रसारकर, श्रीमती गौरी उक्रेन आदि विद्वद्गण इस कमिटी के सदस्य रहे। सभी लोगों ने अपने-अपने निर्धारित समय पर सहभाग देकर संगोष्ठी को सफल बनाया। इसलिये इस समय इन सभी विद्वानों को अनन्त मंगलाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

रजत जयंती

'काशी विश्वाराध्य ज्ञान सिंहासन' के पीठारोहण का रजत जयंती महोत्सव–

काशी महापीठ की परंपरा युगयुगों से चली आ रही है, इस परंपरा में ८५ जगद्गुरु हो चुके हैं। इस परंपरा के आधार पर इस पीठ पर वर्तमान ज. महास्वामीजी ८६वें जगद्गुरु हैं, आपका पट्टाभिषेक १७.११.१९८९ में हुआ था, २०१४ ई. के ११ नवंबर को महास्वामीजी के २५ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। इन २५ वर्ष के कार्यकाल में काशी जंगमवाडी मठ में भक्तों के उदार, दान-दक्षिणा के माध्यम से नवीन भक्त-निवासों का निर्माण हुआ है। जिसमें तीन से चार हजार पर्यन्त भक्तगण सर्वसुविधा के साथ निवास कर सकते हैं। इतने ही लोगों के महाप्रसाद की व्यवस्था भी हो चुकी है। मठ में आनेवाले यात्रियों को किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता है। संस्कृत भाषा और विविध शास्त्रों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को सर्वसुविधा उपलब्ध की जाती है। इसके अलावा सर्व प्रांतीय गरीब और बुद्धिमान् विद्यार्थियों को मेडिकल और इंजीनियरिंग उच्च विद्या-अध्ययन के लिये विशेष छात्रवृत्ति की व्यवस्था मठ के द्वारा की गयी है। अप्रकाशित दुर्लभ आगम ग्रंथों को विद्वानों के द्वारा राष्ट्रीय-अन्तराष्ट्रीय भाषाओं में अनुवाद एवं संपादन कराकर मुद्रण कार्य भी निरंतर चल रहा है, अबतक ८६ ग्रंथों का शिवार्पण हो चुका है। यह ८७वें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इनके प्रकाशन में पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदीजी का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इनके स्वर्गवास के बाद प्रकाशन की जिम्मेदारी डॉ. रमा घोष अच्छी तरह निभा रही हैं, यह एक आनन्द का विषय है।

पूज्य महास्वामीजी ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि ग्रंथ पर शोध-प्रबंध लिखकर, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से विद्यावारिधि उपाधि प्राप्त की है। इसके अलावा महास्वामीजी अपने विविध भाषा के प्रवचन के माध्यम से सामान्य जनता को सुलभ कराया। इसके अलावा विविध भाषा के मूर्धन्य विद्वानों के द्वारा संस्कृत, कन्नड, तेलगु, तमिल, मलयालम, मराठी, हिन्दी, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, गुजराती, नेपाली, रसियन, उड़िया, अंग्रेजी इन १५ भाषाओं में उक्त ग्रंथ का अनुवाद कराकर ११ नवंबर, २०१४ के दिन पंजाब के राज्यपाल महामहिम श्री शिवराज पाटिल के करकमलों द्वारा लोकार्पण कराकर सभी लोगों को उपलब्ध कराया गया। आजकल तंत्रज्ञान का उपयोग सभी लोग कर रहे हैं। इसका ख्याल करते हुए पूज्य महास्वामीजी ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि का एक मोबाइल अप्लीकेशन तैयार करके इंटरनेट के द्वारा पूरे विश्व को इस ग्रंथ को विश्व के हर एक व्यक्ति को सुलभता से उपलब्ध कराया है।

महाशिवरात्रि काशी जंगमवाडी मठ का बहुत बड़ा उत्सव का दिन है। इसके उपलक्ष्य में एक विशिष्ट संस्कृत के विद्वान् को श्री ज. विश्वाराध्य विश्वभारती पुरस्कार

मठ के द्वारा प्रदान किया जाता है। विगत २५ वर्षों में उत्तर व दक्षिण भारत के अनेक विद्वान् इस पुरस्कार से गौरवान्वित हुए हैं। यह जंगमवाडी मठ के लिए विशेष गौरव की बात है। पूज्य महास्वामीजी अपने २५ वर्ष के कार्यकाल में दक्षिण भारत के आंध्र, तमिलनाडु और केरल प्रदेशों में तथा उसी प्रकार हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, और उड़िसादि में धर्म-प्रचार दौरा करके लोगों में धार्मिकता जगाने का एक अपूर्व कार्य किया है। इसके अलावा नेपाल, रसिया और हाँगकाँग देशों में भी धर्मप्रचार दौरा करके वहाँ की जनता में भी धर्मजागृति के साथ शिवयोग भी सिखाया। महास्वामीजी के कार्यकाल को सुवर्णयुग माना जाता है।

*

Editorial

All the teachers, student and members of the faculty along with Dr. Kendadmath and Dr. Basavprabhu Jirli worked so hard that no thanks is sufficient for them. I extend my good will for them from the core of my heart.

Major portion of the expenditure of 'Peetharohan' of 1008 Sri Sri Dr. Chandra Shekhar Shivacharya has been bared by his son Padmashree Baba Neelakantha Kalyani, Pune and Smt. Sunita Baba Kalyani, Pune. Prof. Kamalesh Jha and his colleague Prof. Shitla Prasad Pandey and Dr. Bhaktiputra Rohtam are also eligible of many a thanks. At last but not the least but the help of Sri Praveen and Madhav the publication would not be probably possible.

Siddhānta Śikhāmaṇi is the core book of Vīra Śaiva religion and philosophy. It includes all the philosophical and religious aspects of the Vīra Śaiva culture.

Learned scholars have propagated the teachings from various standpoints. People are not aware that the sect has been spread in Northern India and Tamil Nadu also apart from Karnataka, Maharashtra and Andhra Pradesh. Scholars have also presented that important cultural information of Vīra Śaivism. There are some more articles on different philosophical points.

It is a very happy augury for me that I have been entrusted with the responsibility of compiling the whole thing.

I pray that may God showers his grace to all.

।। श्री विश्वाराध्यो विजयते ।।



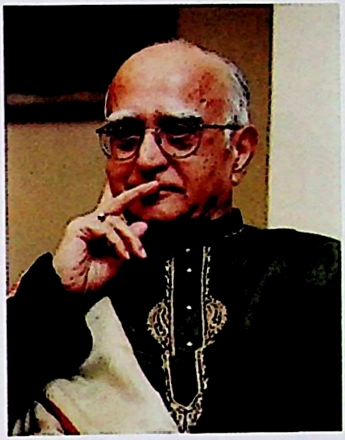
The celebration of the silver jubilee of
Peetharohan of Sri 1008
Jagadguru Dr. Chandra Shekhar Shivacharya
is dedicated to the lotus feet of
Sri Jagadguru Vishvaradhya, Bhagavatpada,
the original founder of Veerashaiva sect



जगद्गुरु श्री १००८ डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्यजी
के पट्टाभिषेक की रजत जयंती उपलक्ष्य में
धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
में अन्ताराष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न हुआ
(9 से 11 नवम्बर, 2014)
उस संगोष्ठी में पढ़े गये
निबन्धों का संकलन

International Seminar on Veerashaivagama on 9th to 11th November 2014 in the revered memory of First Shivaganaradhane of "Veerashaivaratna"

Padmashree Dr. Neelakanth A. Kalyani



Founder of Bharat Forge Ltd. Pune

Theme of the International Seminar

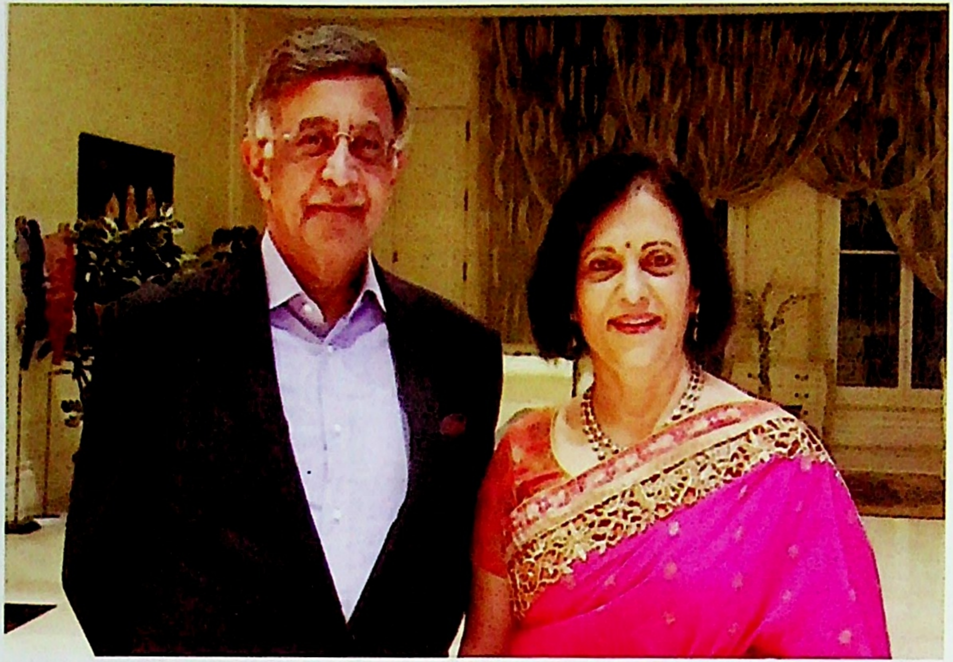
Ancient Philosophical Literature of Veerashaiva Religion and its Global Human Beneficiaries

Organised by

Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

Jangamawadimath, Varanasi

Faculty fo Sanskrit Vidya Dharma Vijnan, B.H.U., Varanasi



पद्मश्री बाबा नीलकंठ कल्याणी पुणे सौ सुनिता कल्याणी पुणे
अन्ताराष्ट्रीय संगोष्ठी एवं ग्रन्थ प्रकाशन के महनीय सहयोग दाता
महाप्रबन्धक, भारत फोर्ज लि. कम्पनी पुणे



१६ भाषा में श्रीसिद्धान्तशिखामणि का प्रकाशन, वाराणसी



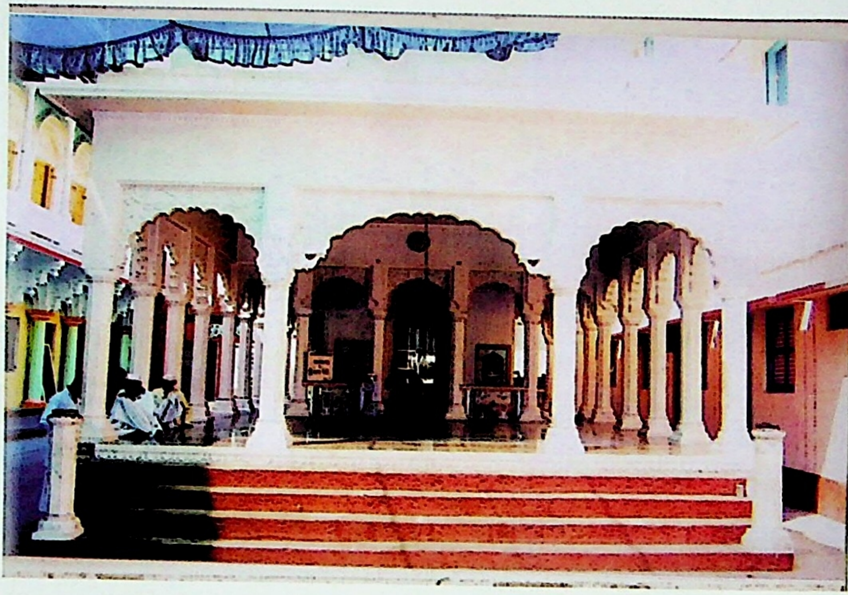
उड़िसा में श्रीसिद्धान्तशिखामणि का प्रकाशन



रशिया के मास्को मं रशियन श्रीसिद्धान्तशिखामणि का प्रकाशन



नेपाल में श्रीसिद्धान्तशिखामणि का प्रकाशन



विश्वनाथ मन्दिर जंगमवाडीमठ, वाराणसी



भक्त निवास जंगमवाडीमठ, वाराणसी

सूची पत्र

डॉ चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का मङ्गलाशीर्वाद i-iv

प्रथम पर्याय

1. उत्तर प्रदेश, बिहार और दिल्ली प्रदेश में वीरशैव-साहित्य — प्रवीण कुमार द्विवेदी — 1
2. उत्तर-पश्चिमी भारत में वीरशैव लोगों का जीवन स्तर एवं वीरशैव साहित्य — डॉ. रामनिवास — 21
3. नेपाल में वीरशैव धर्म-दर्शन का स्थान — डॉ. भरत जंगम — 31
4. अनूदितं मौलिकं च वीरशैवसाहित्यं मलयालभाषायाम् — डॉ. एम्. वी. नटेश: — 46
5. वीरशैवों का मराठी-साहित्य — डॉ. शे. दे. पसारकर — 54
6. राजस्थान में लुप्त होता वीरशैव जंगम संप्रदाय — ललित किशोर जंगम — 64
7. Original and Translated Virasaiva Works in Telugu... — Dr. K. Pratap — 66
8. Original and Translated Vīraśaiva Literatue in Tamil — Dr. T. Ganesan — 79
9. हिन्दी में वीरशैव साहित्य — 96

द्वितीय पर्याय

10. Critical Analysis of Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi — D.S. Basveshwar — 128
11. सिद्धान्तशिखामण्युत्तरकालीनं वीरशैवसंस्कृतसाहित्यम् — को.रं. बसवराजु: — 168

12. श्रीसिद्धान्तशिखामणि और उसका हिन्दी में अनुवाद	डॉ. गोविन्द सप्तर्षि	174
13. सिद्धान्तशिखामणि का मराठी आविष्कार	शिवप्पा खके	185
14. The Unique Features of Saivagamas	Dr. M.N. Joshi	191
15. Veerashaiva Religion and Philosophy in Shaivagama	Sri C. Takkalaki	214
16. वीरशैवागम सिद्धान्त का पौराणिक आधार तथा उसकी दार्शनिकता	डॉ. अर्चना गिरि	224
17. शिवशक्त्योरद्वैतदर्शनम् अथवा शिवशक्त्योरद्वैतत्त्वविमर्श:	डॉ. नरेन्द्रनाथठाकुर:	231
18. वीरशैवसंस्कृतसाहित्ये षट्स्थलमार्ग:	डॉ. प. म. धारवाड	235
19. शैवागम में वीरशैवधर्म एवं दर्शन	डॉ. रामनारायण पण्डित	247
20. शिवागमों में वीरशैव धर्म एवं दर्शन	पं. शिवाप्पा खके	258
21. वातुलशुद्धागमसमीक्षा लिङ्गपूजामहत्त्वञ्च	श्री राचोटि देव	296
22. वीरशैव दर्शन का योगदान	पूर्णेन्दु प्रताप सिंह	307
23. अनुभवसूत्र में वर्णित लिङ्ग का स्वरूप	माधुरी यादव	313
24. लिङ्गतत्त्व-चिन्तनम्	ऐरचेनकोव ओ.एन. अक्षय	316
25. श्वेताश्वतरोपनिषद् में वीरशैव...	पूजा सिंह	319
26. वीरशैव दर्शन में जीवात्मा	रेखा मल्ल	322
27. वीरशैव धर्म के पौराणिक एवं ऐतिहासिक स्रोत एवं उसके सम्प्रदाय	राघवेन्द्र प्रकाश श्रीवास्तव	326
28. वीरशैव धर्म दर्शन में शिव-शक्ति का सम्बन्ध	धीरज कुमार शुक्ल	331
29. A Glimpse of Sūkṣmāgama	Dr. Rama Ghose	335
30. वीरशैव आगम में अष्टावरण	उपेन्द्र मणि	345
31. वीरशैव धर्म एवं दर्शन में षड्स्थल...	दीपेश कुमार शुक्ल	351

★

प्रथम पर्याय

उत्तर प्रदेश, बिहार और दिल्ली प्रदेश में वीरशैव-साहित्य (मूल एवं अनुवाद)
(Original and Translated Literature in Uttar Pradesh, Bihar and Delhi)

प्रवीण कुमार द्विवेदी
शोध छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

भगवान् शिव सृष्टि के आदिदेव माने गये हैं। अकारण सत्ता परब्रह्म शिव का स्वयम्भू अभिधान भी इसी तथ्य को दर्शाता है। शिव को परब्रह्म के रूप में माननेवाले सम्प्रदाय शैव पद से अभिहित होते हैं। सिद्धान्तशिखामणि तथा सिद्धान्तागम के अनुसार शिवप्रोक्त आगम शैव, पाशुपत, सोम तथा लाकुल भेद से बहुविध हैं, जिनमें शैव के चार भेद हैं– वामशैव, दक्षिणशैव, मिश्रशैव तथा सिद्धान्तशैव। वामशैव शक्तिप्रधान, दक्षिणशैव भैरवप्रधान, मिश्रशैव सप्तमातृकाप्रधान तथा सिद्धान्तशैव वेदप्रधान थे।[१] पारमेश्वरागम के अनुसार शैव सप्तविध हैं–वीरशैव, अनादिशैव, आदिशैव, अनुशैव, महाशैव, योगशैव तथा ज्ञानशैव।[२] सूक्ष्मागम में इन्ही सप्तविध शैवों के नामभेद पाये जाते हैं–आदिशैव, अनादिशैव, महाशैव, अनुशैव, अवान्तरशैव, प्रवरशैव तथा अन्त्यशैव।[३] इनमें शिव अनादिशैव, आदिशैवों में (शिव के पञ्चमुख से प्रथम दीक्षित होने के कारण) कौशिक, कश्यप, भारद्वाज, अत्रि तथा गौतम परिगणित हैं। शैवागमों में उल्लिखित दीक्षाविधि से दीक्षित ब्राह्मण महाशैव तथा दीक्षासम्पन्न क्षत्रिय एवं वैश्य अनुशैव कहलाते हैं। यदि कोई शूद्र भी योग्यता के आधार पर शिवदीक्षा को प्राप्त करता है, तो वह अवान्तर शैव कहलाता है। कुलाल (कुम्हार), पार्श्वक (पीठमर्दक) इत्यादि दीक्षा प्राप्त कर लेने पर प्रवरशैव कहलाते हैं। तदभिन्न अन्य जातियों के दीक्षासम्पन्न व्यक्ति अन्त्यशैव की कोटि में परिगणित किये जाते हैं। यह शैवों का सप्तविध विभाजन जाति पर आधारित है। सिद्धान्तशिखोपनिषद् के अनुसार शिव के पञ्चमुखों में सद्योजात मुख से ब्राह्मण, वामदेव मुख से क्षत्रिय, अघोर मुख से वैश्य, तत्पुरुष मुख से शूद्र तथा ईशान मुख से पञ्चशिवगणों (वीर, नन्दी, भृङ्गी, वृषभ तथा स्कन्द) का आविर्भाव हुआ–

सद्योजाताद् ब्राह्मणाः सम्बभूवुः, वामदेवात् क्षत्रिया विशश्च ।
अघोरात् शूद्रास्तत्पुरुषात् शिवस्य, पञ्चात्मकस्य गणा ईशानतः स्युः ।।[४]

तत्पश्चात् आचाराधारित शैवों का विभाजन भी सूक्ष्मागम में अवलोकित होता है। तदनुसार आचारभेद से शैवों के चार प्रकार है–सामान्यशैव, मिश्रशैव, शुद्धशैव तथा

वीरशैव। शिव के दर्शन और सामान्य पूजा करनेवाले सामान्यशैव, शिव-विष्णु-ब्रह्मा-स्कन्द-गणेश-आदित्य तथा अम्बिका की समान भाव से पूजा करनेवाले मिश्रशैव, शिव को एकमात्र सर्वशक्तिशाली माननेवाले तथा उनकी पूर्णभक्तिभाव से विधिवत् पूजा करनेवाले शुद्धशैव एवं जिनके राग-द्वेषादि दोष दूर हो गये हैं, आत्मतत्त्व की विचारणा में जो सदा लगे रहते हैं तथा जिनके सारे विकल्पजाल नष्ट हो गये हैं, वे ही वीरशैव कहलाते हैं।[५] चन्द्रज्ञानागम में अष्टविध शैवों का वर्णन है। इनके नाम इस प्रकार हैं– अनादिशैव, आदिशैव, पूर्वशैव, मिश्रशैव, शुद्धशैव, मार्गशैव, सामान्यशैव तथा वीरशैव।[६]

षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न ने शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालामुख इन्हीं चारों वर्गों को माना है।[७] वामनपुराण के अनुसार भी चतुर्विध शैव ही हैं–शैव, पाशुपत, कालवदन तथा कापालिक।[८] स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार भी पाशुपत, लाकुल, मौसुल तथा कारुकवैमल ये चार शैव सम्प्रदाय हैं।[९] यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण शैव मत से, क्षत्रिय पाशुपत मत से, वैश्य कालामुख मत से तथा शूद्र कापाल मत से शिव की अर्चना करे।[१०] यामुनाचार्यप्रणीत आगमप्रामाण्य में कापालिक[११] तथा कालामुख एवं रामानुजार्यप्रणीत ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्य में कापाल तथा कालामुख[१२] द्विविध शैव ही वर्णित हैं। कर्णाटक प्रदेश में बहुतायत रूप में प्रचलित कालामुख का ही आधुनिक अभिधान वीरशैव है।[१३] जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग के मत में वेदान्त के आठ ही सम्प्रदाय हैं–शाङ्कर, वीरशैव, रामानुज, माध्व, वल्लभ, निम्बार्क, गौड़ तथा रामानन्द।[१४] सिद्धान्तप्रकाशिकाकार के अनुसार वेदान्त के केवल चार ही सम्प्रदाय हैं–भास्करीय, मायावादी, शब्दब्रह्मवादी, क्रीडाब्रह्मवादी।[१५]

सम्पूर्ण शैव सम्प्रदाय में वीरशैव का अपना विशेष महत्त्व है। इसका अपर अभिधान शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन, लिङ्गायत सम्प्रदाय, अत्याश्रमी आदि है। यह मत आज भी पूर्णरूपेण जीवन्त अवस्था में है। न केवल धर्म के रूप में, अपितु दर्शन के क्षेत्र में भी इसकी भलीभाँति व्याप्ति है। इसके ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन आज भी हो रहा है। वीरशैव दर्शन के साहित्य, कन्नड़, तमिल, मराठी, तेलगु, गुजराती, मलयालम, अंग्रेजी आदि भाषाओं में हैं। प्रदेशान्तर्गत वीरशैव साहित्य की अवस्थिति निम्नलिखित है–

उत्तर प्रदेश में वीरशैव साहित्य

उत्तर प्रदेश भारतवर्ष का एक प्रमुख राज्य है। वाराणसी, अयोध्या, मथुरा आदि धार्मिक तीर्थस्थलों से विभूषित इस राज्य के अन्तर्गत वीरशैव साहित्य की अवस्थिति निम्नलिखित है–

विश्वाराध्य–काशी क्षेत्र के विश्वनाथ ज्योतिर्लिङ्ग से विश्वाराध्य का प्रदुर्भाव हुआ। इन्होंने धर्मप्रचार के लिए काशी में एक पीठ की स्थापना की। उस ज्ञानपीठ को आज

जङ्गमवाड़ी मठ के नाम से जाना जाता है। विश्वाराध्य **''स्कन्दगोत्र''** तथा **''पञ्चवर्णसूत्र''** के प्रतिपादक आचार्य माने जाते हैं। इनके सिंहासन को विश्वकर्ण शाखा सिंहासन तथा ज्ञानसिंहासन कहा जाता है। वाराणसी में विद्यमान यह मठ बहुत प्राचीन माना जाता है। काशीनरेश जयनन्ददेव के द्वारा इस मठ को प्रदत्त दानपत्र के आधार पर इतिहासवेत्ता इसे ४००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन मानते हैं। काशीनरेश जयनन्ददेव लिखित पृष्ठ अतीव जीर्ण हो जाने के कारण उन्हीं के वंशज प्रभुनारायण सिंह ने उसको पुनः ताम्रपत्र पर लिखवाकर मठ को प्रदान किया और यह दोनों पत्र आज भी इस मठ में अवस्थित हैं। एतदतिरिक्त हुमायूँ-अकबर-जहाँगीर-शाहजहाँ तथा औरंगजेब आदि मुगल राजाओं के भी दानपत्र इस मठ में उपलब्ध होते हैं। इस पीठ के ८५वें पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु-विश्वेश्वर शिवाचार्य तथा सम्प्रति डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य हैं। इस जङ्गमवाड़ी मठ की एक शाखामठ नेपाल देश के भक्तपुर (भातगाँव) में है। सम्प्रति वहाँ भी नेपालनरेश के द्वारा ६९२ विक्रमाब्द में प्रदत्त भूमिदानविषयक शिला विराजमान है। यह संस्थान वीरशैव धर्म दर्शन के लिए पूर्णतः समर्पित है। सम्प्रति यहाँ के पीठाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी ने अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन इस संस्थान के माध्यम से करवाया है। केवल सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ जो कि शिवयोगी शिवाचार्यविरचित है, उसको भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय १६ भाषाओं में उपनिबद्ध करवाकर इस मठ ने जो वीरशैव साहित्य की प्रतिष्ठा विश्व के विद्वत्समाज में की है; वह अतुलनीय है।

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित वीरशैव मत के ग्रन्थ–

- **सिद्धान्त-शिखामणि (हिन्दी व्याख्या)**–इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवादक और व्याख्याकार प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी हैं। इसका प्रथम संस्करण शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ से २००६ ई. में प्रकाशित हो चुका है।
- **सिद्धान्त-शिखामणि (अवधी अनुवाद)**–अवधी भाषा हिन्दी की प्राचीन सहायक भाषा के रूप में ख्याति प्राप्त करती है। यह गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस की भाषा के साथ ही उत्तर प्रदेश की लोकभाषाओं में प्रमुख स्थान रखती है। इसीलिए सिद्धान्तशिखामणि का अवधी अनुवाद जङ्गमवाड़ी मठ द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसके अनुवादक प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी में आचार्य हैं।
- **ईशावास्योपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित)**–(अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.।
- **केनोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित)**–(अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ

शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई।

- **कैवल्योपनिषद् (सदाशिवभाष्यसहित)**—सदाशिवशिवाचार्य, (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.।
- **पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम्**—सिद्धनञ्जेश शिवाचार्य, (अनुवादक एवं सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.।
- **मुण्डकोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित)**—(अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई. ।
- **श्रीमद्भगवद्गीता-वीरशैवभाष्य**—(भाष्यकर्ता) डॉ. टी.जी. सिद्धाप्पाराध्य, प्रकाशक श्रीजगद्गुरुमल्लिकार्जुनमुरुघराजेन्द्रमहास्वामी, चित्रदुर्ग, श्री जगद्गुरु उरुघराजेन्द्र विद्यापीठ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश प्रथम मुद्रण, १९६५ ई.।
- **शिवाद्वैतमञ्जरी**—स्वप्रभानन्द शिवाचार्य, (सम्पादक) डॉ. चन्द्रशेखर शर्मा हिरेमठ, (प्रकाशक) संस्थान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८६ ई.
- **शिवाद्वैतदर्पण**—भगवत्पादशिवानुभव शिवाचार्य, (सम्पादक) वे. ब्र. श्री. सिद्धान्तसिद्धबसवशास्त्री, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९९ ई.।
- **श्वेताश्वतरोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित)**—(भावार्थदीपिकाकार एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.।
- **सिद्धान्तसारावलि**—त्रिलोचन शिवाचार्य, (अन्वयार्थकार) मरुळसिद्धशिवाचार्य, (विस्तरार्थकार एवं सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.।
- **सिद्धान्तप्रकाशिका**—सर्वात्मशम्भु, (सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.।

- **Siddhāntaprakāśikā**–Translated by T. Ganeshan, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh.
- **सिद्धान्तशिखोपनिषद्**–उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित, (अनुवादक एवं सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.।
- **सिद्धान्तशिखामणि**–शिवयोगिशिवाचार्य, (हिन्दीव्याख्याकार) प्रो. डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.।

आगम

- **कारणागम (क्रियापद)**–(सम्पादक) प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.।
- **चन्द्रज्ञानागम (क्रिया एवं चर्यापाद)**–(सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.।
- **Candrajnānāgam**–Translated by Dr. Ramā ghose, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh.
- **देवीकालोत्तरागम**–(अनुवादक एवं सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००० ई.।
- **पारमेश्वरागम**–(सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.।
- **Pāmeśvarāgam**–Translated by Dr. Ramā Ghose, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh.
- **मकुटागम (क्रियापाद एवं चर्यापाद)**–(सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.।

- **Makuṭānāgam**–Translated by Dr. Ramā Ghose, Saiva Bhāratī Sodha Pratiṣthān, Jangamvādi Math, Vārānasi, Uttar Pradesh.
- **सूक्ष्मागम (क्रियापाद)**–(सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९४ ई.।
- **अनुभवसूत्र**–मायिदेव, (सम्पादक) गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकर, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.।
- **निगमागमसंस्कृतिदर्शनम्**–(सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९५ ई.।
- **वातुलशुद्धाख्य-तन्त्र**–(सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक), शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००४ ई.।
- **श्रीकरभाष्यचतुःसूत्री**–जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९५६ ई.।
- **शिवपञ्चविंशतिलीलाशतकम्**–वीरभद्रशर्मा, (सम्पादक) व्रजवल्लभ द्विवेदी, (लीलासंग्राहक) डॉ. ददन उपाध्याय (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, २००६ ई.।
- **शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श (डी. लिट्. थिसिस)**–डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९९६ ई.।
- **सिद्धान्तशिखामणिमीमांसा**–(सम्पादक) राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी, (प्रकाशक) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण २००० ई.।
- **शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त**–शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९३७ ई.।
- **वीरशैवेन्दुशेखर**–जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९३२ ई.।
- **लिङ्गधारणचन्द्रिका**–नन्दिकेश्वर शिवाचार्य, श्रीशिवकुमारशास्त्रिविरचित शरन्नामिटीकया संवलित, सम्पादक, व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती भवन, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण १९८८ ई.।

- **सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा**—डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, शैवभारती भवन, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९८९ ई.।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वीरशैव अष्टावरण-विज्ञान (डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी), निगमागमसंस्कृति (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), निगमागमीयसंस्कृतिदर्शनम् (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), श्रीगुरुगीता (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), तन्त्रागम-सारसर्वस्व (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी) धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी), पाशुपतसूत्र (आचार्य चक्रपाणि त्रिपाठी) आदि ग्रन्थों का प्रकाशन, शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी से हुआ है। इस मठ द्वारा सर्वदा वीरशैव धर्म-दर्शन के कार्यक्रम आयोजित होते रहते हैं और विद्वत्परिचर्चा में जो नवीन तथ्य उद्भूत होते हैं, उसका प्रकाशन भी होता है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन के रूप में वीरशैव-दर्शन का अध्ययन-अध्यापन होता है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित वीर शैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ—

- **अनुभवसूत्र (तंत्रसंग्रह भाग—१)**—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, १९६० ई.।
- **काशीस्थितिचन्द्रिका**—श्रीसदाशिवप्रणीता, सम्पादक श्री रमापद चक्रवर्ती।
- **द्वैताद्वैतनिर्णय (शोध निबन्ध)**—सम्पादक डॉ. राजाराम शुक्ल।
- **लुप्तागमसंग्रह**—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८३ ई.।
- **शैवदर्शनबिन्दु**—डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संवत् २०२९।
- **शिवपुराण**—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८८ ई.।

उत्तर प्रदेश के अन्य प्रकाशनों के अन्तर्गत वीरशैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ—

- **अनुभवसूत्र**—मायिदेव, प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.।
- **कन्नड़ साहित्य का सुबोध इतिहास**—काशीनाथ एम. हल्लीखेड़े, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण १९७३ ई.।

- **तान्त्रिक साहित्य**—म.म.पं. गोपीनाथ कविराज, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला २००, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९७२ ई.।
- **भारतीय दर्शन**—आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, पुनर्मुद्रित संस्करण २००१ ई.।
- **लिङ्गमहापुराणम्**—महर्षिव्यासप्रोक्त, अनुवादक एवं सम्पादक, द्वारका मिश्र शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००८ ई.।
- **वातुलशुद्धाख्यतन्त्र**—प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९८७ ई.।
- **हिन्दी एवं कन्नड़ साहित्य की प्रमुख धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ. एम.एस. कृष्णमूर्ति, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) प्रकाशन के वीरशैव साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **काशी का इतिहास**—डॉ. मोतीचन्द्र।
- **काशी की पाण्डित्य-परम्परा**—पं. बलदेव उपाध्याय।
- **शिवकाशी (पौराणिक परिप्रेक्ष्य एवं वर्तमान संदर्भ)**—डॉ. प्रतिभा सिंह, प्रा. प्रो. राणा पी.बी. सिंह।
- **शिव की अनुग्रह मूर्तियाँ**—डॉ. शान्तिस्वरूप सिन्हा।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश के द्वारा प्रकाशित वीरशैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **आगमतत्त्वविलास**—हिन्दी टीका सहित (प्रथम भाग)
- **आगमरहस्य**—शैवागमान्तर्गत। पं. श्री सरयू प्रसाद द्विवेदी विरचित। सुधा हिन्दी व्याख्या परिशिष्ट सहित, व्याख्याकार डॉ. सुधाकर मालवीय, उत्तरार्द्ध।
- **भारतीय तन्त्रशास्त्र और सिद्धान्त साधना**—हिन्दी व्याख्याकार डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी आनन्द।
- **रुद्रपद्धति**—हिन्दी टीकासहित, रुद्रोपासना का सम्पूर्ण शास्त्रीय विवेचन, अनुवादक पं. दौलतराम गौड़।
- **रुद्रचण्डीयागपद्धति**—पं. अशोक कुमार गौड़।

- **रुद्रस्वाहाकारपद्धति**—पं. गोपालचन्द्र मिश्र।
- **रुद्राध्याय**—आचार्य नारायणराम।
- **रुद्रप्रतिष्ठाविधि**—हिन्दी टीका सहित, पं. अशोक कुमार गौड़।
- **रुद्रयागविधि**—रुद्रभेद-कुण्ड-मण्डप-प्रायश्चित्त-पञ्चाङ्ग-वास्तुरुद्रार्चनावरण-महान्यास-होमान्यास-होमादियज्ञान्तस्नानसंवलित। डॉ. कैलाशचन्द दुबे।
- **रुद्रयाग-हवन-विधि**—पं. वेणीराम शर्मा गौड़।
- **रुद्रयागहवन मन्त्रविधि**—पं. वेणीराम शर्मा गौड़।
- **रुदार्चनप्रदीप**—पं. सोहनलाल व्यास।
- **रुद्राक्षधारणविधि**—हिन्दी टीका सहित।
- **रुद्रोपासनपद्धति**—परिशिष्टसहित। पं. अशोक कुमार गौड़।
- **लिङ्गमहापुराणम्**—(हिन्दी अनुवादक एवं सम्पादक) द्वारका प्रसाद मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००८ ई.।
- **शिवगीता (पद्मपुराणोक्त)**—पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी टीका।
- **शिवसंहिता**—हरिं हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार पं. हरिहर प्रसाद त्रिपाठी।
- **शिवसंहिता**—राघवीय भाषानुवाद सहित। राघवेन्द्र शर्मा।
- **शिवसंहिता**—गो. श्रीरामचरणजी पुरी कृत हिन्दी टीका।
- **शिवस्वरोदय**—हिन्दी टीका सहित। डॉ. सत्येन्द्र मिश्र।
- **शिवस्वरोदय (ज्ञानस्वरोदय सहित)**—भाषा टीका सहित पं. अभय कात्यायन।
- **शिवस्वरोदय (स्वरोदय शास्त्र)**—राघवीय भाषानुवाद सहित। राघवेन्द्र शर्मा।
- **शिवस्वरोदय**—पं. मिहिरचन्दजी कृत हिन्दी टीका सहित।
- **शिवशक्तियागरहस्य**—पं. अशोक कुमार गौड़।
- **Linga Purana**–English translation only by J.L. Shastri, Chaukhamba Surbharati Prakashana, Varanasi, Uttar Pradesh.
- **Linga Purana**–Text with English translation by S.L. Nagar, Chaukhamba Surbharati Prakashana, Varanasi, Uttar Pradesh.
- **Sivasvarodaya**–Text with Sveta Englilsh Translation Edited by Goswami Prahlad Giri Vedantakeshari.

- **The Hindu Systems of Moral Science**–Kishori Lal Sarakar.

  The Systems of Vedanta–Dr. Paul Deussen.

अमर स्वामी प्रकाशन विभाग, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित वीरशैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **शिवलिङ्ग पूजा क्यों**–लेखक श्रीराम आर्य (कासगंज निवासी), प्रस्तुत पुस्तक शिवपूजा के ऊपर लिखी गयी है। जिसमें माननीय डॉ. साहब ने पुराणों के प्रमाण एवं अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों के द्वारा शिवलिङ्ग पूजा की वास्तविकता का दिग्दर्शन कराया है। अपने विषय की यह उत्तम पुस्तक है। जो सज्जन शिवलिङ्ग पूजा में विश्वास रखते हैं; उन्हें इस ग्रन्थ का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यह पुस्तक न्यायालयीय विवाद के उपरान्त निर्दोष सिद्ध हुयी है; जिसका विवरण इस पुस्तक के अन्त में दिया गया है।
- **हरविजयम्**–राजानक रत्नाकर।

इसके साथ ही भारतीय विद्या भवन, वाराणसी से सम्प्रति वीरशैव से सम्बन्धित दो ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है–वीरशैव दर्शन का उद्गम एवं विकास और वीरशैव दर्शन की तत्त्वमीमांसा। इस प्रकार उत्तर प्रदेश राज्य में वीरशैव साहित्य का प्रणयन हुआ है, किन्तु इस शास्त्र के अध्येताओं की संख्या अत्यल्प है। इस दिशा में अत्यधिक प्रयत्न की आवश्यकता है कि इस धर्म-दर्शन के साहित्य से छात्रों को परिचित कराया जाय; जिससे कि भविष्य में इस मत के अध्येताओं की संख्या में वृद्धि हो सके।

बिहार प्रदेश में वीरशैव साहित्य

बिहार राज्य उत्तर प्रदेश का समीपवर्ती राज्य है। इस राज्य की सीमा नेपाल से भी सम्बद्ध है। वाराणसी से नेपाल तक का गमन बिहार राज्य से होकर भी किया जाता है। वाराणसी में जङ्गमवाड़ी मठ और नेपाल में भाँतगाव वीरशैव मत से सम्बद्ध है। इस राज्य में वीरशैव साहित्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है; तथापि इस राज्य से सम्बद्ध व्यक्तियों ने वीरशैव साहित्य की सेवा की है। काशी के प्रख्यात विद्वान् पं. शिवकुमार शास्त्रीजी जो बिहार के दरभङ्गा मण्डल के निवासी थे; उन्होंने वीरशैव दर्शन की पुस्तक लिङ्गधारणचन्द्रिका की शरत् नाम्नी टीका का प्रणयन किया है। लिङ्गधारण चन्द्रिका के रचयिता नन्दिकेश्वर शिवाचार्य हैं और इसका द्वितीय संस्करण १९८८ ई. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी के सम्पादन में शैवभारती भवन, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित किया गया है। लिङ्गधारणचन्द्रिका की शरत् नाम्नी टीका में वीरशैव मत के लिङ्गधारणविधि के वैदिकत्व को सिद्ध किया

गया है। जैसा कि नाम से ही प्रश्न उपस्थित होता है कि लिङ्ग धारण की जो चन्द्रिका है वह किस मास की है? पं. शिवकुमार शास्त्रीजी ने इस चन्द्रिका को यथार्थतः प्रमाणपुरस्सर शरत् मास की चन्द्रिका सदृश प्रतिष्ठित किया है।

बिहार राज्य के अन्तर्गत वीरशैव मत साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त**–म. म. पं. गोपीनाथ कविराज, अनुवादक पं. हंसकुमार तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार, प्रथम संस्करण, १९७९ ई.। इस ग्रन्थ में अन्य सम्प्रदायों के साथ वीरशैव मत के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है। वीरशैव सम्प्रदाय आगमिक सम्प्रदाय है और आगम और तन्त्र अपर पर्याय हैं। इसी उपक्रम में वीरशैव सम्प्रदाय की आगमिकता उपर्युक्त ग्रन्थ में दर्शायी गयी है।
- **शैवमत**–डॉ. यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार, १९८८। डॉ. यदुवंशी रचित इस ग्रन्थ में अन्य सम्प्रदायों के साथ वीरशैव मत के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है। वीरशैव सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय है और शैव सम्प्रदाय के वर्णन के उपक्रम में इसका भी अध्ययन उपर्युक्त ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।
- **श्रीकरभाष्य : सिद्धान्त और प्रतिपक्ष (ब्रह्मसूत्र विरोधपरिहाराध्याय के सन्दर्भ में)**–डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००८ ई.। शैवागमों पर आधारित वीरशैवदर्शन शैवपरम्परा में अपनी विशिष्ट उपासना एवं आचरण पद्धति के लिए ख्यात है। लिङ्गोपासना को सर्वाधिक महत्त्व देने एवं शिवदीक्षा के उपरान्त इष्टलिङ्ग को प्राणवत् धारण करने के कारण वीरशैवमतानुयायी ''लिङ्गायत'' भी कहलाते हैं। वीरत्व का तात्पर्य शारीरिक बलप्रयुक्ति से नहीं, अपितु शिव में भक्ति की पराकाष्ठा एवं उत्साहातिरेक से है। वस्तुतः धारित लिङ्ग को यावज्जीवन शरीर से वियुक्त नहीं करनेवाले तथा प्रसङ्ग उपस्थित होने पर परशिव के लिये अपने प्राणत्याग रूप वीरव्रत के परिपालन में तत्पर एवं विरोधभावनारहित होकर प्राणिमात्र से प्रेम करते हुये शिव-जीवैक्य बोधिका विद्या में रमण करनेवाले एकनिष्ठ शिवभक्त वीरशैव कहलाते हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह मत ब्रह्म एवं जीव के मध्य अग्निस्फुलिङ्गवत् भेदाभेद संबंध को युक्तिसंगत मानता है। सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वादि संपन्न शिव (शक्ति) एवं अल्पज्ञत्व, अल्पकर्तृत्वादि संपन्न जीव (द्वितीय शक्ति) का अद्वैत प्रतिपादन करने के कारण यह दर्शन शक्तिविशिष्टाद्वैत के नाम से भी प्रख्यात है। इस ग्रन्थ के कर्ता डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय बिहार प्रदेश के सिवान

जिले के मूल निवासी हैं और सम्प्रति वीरशैव के अन्तर्गत एम्. फिल्. और पीएच. डी. शोधोपाधि प्राप्त कर कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल में सहाचार्य के पद पर कार्यरत हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुखतया वीरशैव मत को पुष्ट करने के लिए अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। तदनुसार एकमात्र वीरशैव में ही सभी श्रुतियों का समन्वय स्थापित होता है। इनकी पीएच. डी. शोधोपधि का विषय निम्नलिखित है–**वीरशैव मत में परमत खण्डन (पीएच. डी. थिसिस)** दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

- **शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन में जीव का स्वरूप**–डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई.। स्व की जिज्ञासा से ही दर्शन का उद्भव हुआ है। इसलिए जीवन का स्वरूप-विमर्श दर्शन की प्रत्येक धारा का प्रतिपाद्य विषय है। जीव चैतन्य एवं कर्तृत्व का संयुक्त रूप है तथा इन्द्रियों से संयुक्त शरीररूपी पंजर का स्वामी भी। नानात्व, द्वंद्व और प्रपञ्च जीव से संपृक्त है, किन्तु जीव-जागतिक विषयों के साथ जो तादात्म्य का अनुभव करता है, वह सत्य है कि मिथ्या। यही अन्तर्द्वन्द्व जीव के वास्तविक स्वरूप को जानने की उत्कण्ठा उत्पन्न करता है। प्रस्तुत स्वल्पकाय ग्रन्थ शक्तिविशिष्टाद्वैत (वीरशैव) संप्रदाय की दृष्टि से जीव के स्वरूप को स्पष्ट करता है। प्रासङ्गिक रूप से विभिन्न दर्शनों में जीवविषयक मीमांसा का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय विरचित इस ग्रन्थ में वीरशैव दर्शन के महत्त्वपूर्ण उपादानों की परिचर्चा की गयी है। वीरशैव दर्शन में जीव को अङ्ग और शिव को लिङ्ग अभिधान प्रदान किया गया है। इनका लिङ्गाङ्गसामरस्य ही मोक्ष पद को व्याख्यायित करता है। इसी उपक्रम में त्यागाङ्ग (स्थूल शरीर), भोगाङ्ग (सूक्ष्म शरीर) और योगाङ्ग (कारण शरीर) की परिचर्चा यथास्थान की गयी है; साथ ही वीरशैव दर्शन की संक्षिप्त परम्परा को भी दर्शाया गया है।
- **शिवलीलार्णव महाकाव्य का सांस्कृतिक अध्ययन**–(पीएच. डी. थिसिस) भक्तिकर झा, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार (शोधरत)।
- **वीरशैव दर्शन में तत्त्वमीमांसा का स्वरूप**–इस विषय पर प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र ने एम्. फिल्. (दर्शन-निष्णात) शोधोपाधि प्राप्त की है। प्रवीण कुमार द्विवेदी, बिहार प्रदेश के गोपालगंज के मूल निवासी हैं। इस लघु शोध-प्रबन्ध में इन्होंने वीरशैव दर्शन की परम्परा, वीरशैव दर्शन के मान्य छत्तीस तत्त्वों का लक्षण और वर्तमान समय में वीरशैव दर्शन की प्रासङ्गिकता को दर्शाया है।

- **भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के सन्दर्भ में वीरशैवमत का पर्यालोचन**–इस विषय पर प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र पीएच. डी. (विद्यावाचस्पति) शोधोपाधि के लिए शोध कार्यरत हैं।
- **सिद्धान्तशिखामणि (भोजपुरी अनुवाद)**–बिहार की प्रमुख भाषा मैथिली, मगही और भोजपुरी है। वीरशैव धर्म-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि के भोजपुरी अनुवादक प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र हैं। भोजपुरी भाषा जनसामान्य की भाषा है और इस भाषा में वीरशैव ग्रन्थ का अनुवाद होने से वीरशैव धर्म-दर्शन के विषय में भोजपुरीभाषी भी लाभान्वित होंगे।
- **शिवाद्वैतमञ्जरी (हिन्दी अनुवाद)**–शिवाद्वैतमञ्जरी, स्वप्रभानन्द शिवाचार्य विरचित काश्मीर प्रदेश में वीर शैव मत का लिखित ग्रन्थ है। शिवाद्वैतमञ्जरी के हिन्दी अनुवादक प्रवीण कुमार द्विवेदी सम्प्रति विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के शोध छात्र हैं।

प्रवीण कुमार द्विवेदी (शोध छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) द्वारा वीरशैव साहित्य के अन्तर्गत प्रकाशित और पठित शोध पत्र–

- Published with ISBN 978-81-920639-1-1 in the two day 1st International Conference on Vedic Foundations of Indian Management in Program Haridwar, Uttarakhand, entitled "**धार्मिक चिन्तन एवं वेद–वीरशैव मत के सन्दर्भ।**" (page no. 417-425) in Apr. 2012.
- अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका वर्ष ४ अंक, जनवरी २०१४ में प्रकाशित शोध लेख "**वीरशैव दर्शन में राष्ट्रवाद की अवधारणा**"। ISBN 2231-2552 (पृष्ठ संख्या ३३.३५)।
- Published research paper in Samajiki Sandarsh with ISBN 2348-0076 No. Two entitled "**वीरशैव दर्शन में नारी की अवधारणा**" page no. 3-8).
- Publilshed research paper with IBSN 976-8645 in first EPQRST Journal (www.jahnvisanskritejournal.com) entitled "**भारतीय शैवागमिक पर्यालोचन**" (page 171-179) Issue 17th, Vol. V. Date 14/01/2014.

- वागुल्लास: प्रथम: भाग: ISBN 978-93-80651-78-1 (विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) के प्रथम संस्करण, २०१४ में **"लोकोपयोगदृष्ट्या वीरशैवयज्ञानां महत्त्वम्"** (पृष्ठ संख्या २८६.२९३) से प्रकाशित।
- Presented a paper in Department of Sanskrit, University of Kashmir in the 3 day National Conference entitled **"वीरशैव दर्शन का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व"** in Oct. 2011.
- Presented a paper in Department of Sanskrit, Hindu College, University of Delhi in the 2 day National Conference entitled **"वीरशैव मत में नारी की सशक्तावस्था"** in Feb. 2012.
- Presented a paper in Dev Sanskriti University, Haridwar, Uttarakhand, in the 2 day International Conference & 15th India Conference of WAVES entitled **"आर्थिक चिन्तन एवं वेद–वीरशैव मत के सन्दर्भ में"** in Fev. 2012.
- Presented a paper in Shree Somnath Sanskrit University, Verbal and Sanskrit Sahitya Academy, Gandhinagar, Gujarat in the 2 day International Conference entitled **"संस्कृतशास्त्रान्तर्गत वीरशैव मत का धार्मिक चिन्तन"** in Mar. 2012.
- Presented a paper and also published with ISBN 978-81-920639-1-1 in the two day 1st International Conference on Vedic Foundations of Indian Management in Yoggram Haridwar, Uttarakhand, entitled **"धार्मिक चिन्तन एवं वेद–वीरशैव मत के सन्दर्भ में"** in Apr. 2012.
- Presented a paper, Organized by Delhi Sanskrit Academy and SCSS JNU New Delhi, in the 2 day National Conference entitled **"वेद एवं आगम (वीरशैव मत के आलोक में)"** in 2-3 Sep. 2012.

- Presented a paper, Organized by SCSS JNU New Delhi, in the 2 day National Conference entitled **"लोकोपयोगदृष्ट्या वीरशैवयज्ञानां महत्त्वम्"** in 6-7 Sep. 2012.
- Presented a paper, Organized by WCP, AFP, YPAI and SCSS JNU Neq Delhi, in the 2 day International Conference entitled **"वीरशैव दर्शन में चैतन्य का स्वरूप"** in 24-26 Sep. 2012.
- Presented a paper, Organized by AIOC, Dept, of Sanskrit at Srinagar, University of Kashmir in the 3 day National Conference entitled **"शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन में शक्ति (नारी) का स्वरूप"** in 1-3 Oct. 2012.
- Presented a paper, Organized by Akhil Bhartiya Itihas Samkalana Yojna in Gwalior (M.P.), 3 day National Conference entitled **"वीरशैव दर्शन में राष्ट्रवाद"** in 26-28 Oct. 2012.
- Presented a paper, Organized by Maharishi Sandipani Rashtriya Ved Vidya Pratishthana in Ujjain (M.P.) the 3 day International Conference (2nd World Veda Conference) entitled **"वेद एवं चिन्तन : वीरशैव मत के सन्दर्भ में"** in 1-3 Oct. 2012.

दिल्ली प्रदेश में वीरशैव साहित्य की स्थिति

दिल्ली भारतवर्ष की राजधानी है। यह भौगोलिक दृष्टिकोण से उत्तर भारत के अन्तर्गत आता है। राजधानी होने के कारण यहाँ पर प्रत्येक क्षेत्र के व्यक्ति मिलते हैं। वीरशैव मत के न केवल अनुयायी, अपितु वीरशैव साहित्य पर शोध कार्य करनेवाले विद्वान् यहाँ हैं। वर्तमान समय में दिल्ली विश्वविद्यालय के शोध छात्र श्री कुलदीप सिंह **"श्रीकरभाष्य और पूर्णप्रज्ञभाष्य का तुलनात्मक अध्ययन"** विषय पर शोध कार्यरत हैं। विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के शोध छात्र की घनश्याम मिश्र ने भी अपने तत्त्वमसि आदि चार महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण क्रम में श्रीपतिविरचित श्रीकरभाष्यसहित शिवाद्वैत परिभाषा आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे हैं।

दिल्ली प्रदेश के अन्तर्गत वीरशैव साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–

- **आगममीमांसा**–पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, श्रीलालबहादुरशास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-१६, प्रथम संस्करण १९८२ ई.।

- **आगम और तंत्रशास्त्र**–पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम आवृत्ति, १९८४।
- **ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (भाग १ - ३)**–श्रीपतिपण्डितभगवत्पादाचार्य, (सं.) सी. हयवदना राव, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनः प्रकाशित २००३ ई.।
- **पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य**–भासर्वज्ञकृतगणकारिकारत्नटीकासहित, सम्पादक एवं अनुवादक डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९८ ई.।
- **शिवज्ञानबोधोपन्यास**–निगमज्ञानदेशिक, (सम्पादक) टी. जानसन, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, लोकप्रिय साहित्य ग्रन्थमाला-२।
- **शिवशतक**–गोकुलनाथ, (प्रधान सम्पादक) डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी, नई दिल्ली, संस्करण २०१०, लोकप्रिय साहित्य ग्रन्थमाला-२१।
- **साम्बपञ्चाशिका**–पेनमैन प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९९ ई.।
- **धर्म और समाज**–डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, सिलवर बैल प्रकाशक, दिल्ली-३२, प्रथम संस्करण, २०१२ ई.।
- **पाशुपत शैवधर्म एवं दर्शन**–(भाग २, खण्ड ३) डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९८ ई.।
- **पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य**–भासर्वज्ञकृतगणकारिकारत्नटीकासहित, सम्पादक एवं अनुवादक डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९८ ई.।
- **भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**–प्रो. राममूर्ति शर्मा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई.।
- **लिङ्गपुराणम्**–(शिवतोषिणीसंस्कृतटीकासहित), संस्कर्ता जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८० ई.।
- **वैदिक संस्कृति का विकास (मराठी से हिन्दी में अनुदित)**–तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, मोरेश्वर दिनकर पराड़कर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५७ ई., पुनर्मुद्रण २००५ ई. तथा २००७ ई.।
- **A Handbook of Viraśaivisam**–S.C. Nandimath, Motilal Banarasidas, New Delhi, 1979.

- **Saivism and Viraśaivism**–S.C. Nandimath, Motilal Banarasidas, New Delhi, 1943.

शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित वीरशैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **प्राचीन मिथिला में शैवमत**–भास्करनाथ ठाकुर।
- **Principals of Tantra (in Two Vols)**, A. A. Avalon (J. Woodroffe).
- **The Dance of Shiva, (Fourteen Indian Essays)**–by Ananda Kumar Swami.

परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली के वीरशैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **देवाधिदेव महादेव शिव : पुराणों के विशेष सन्दर्भ में**–शिप्रा बैनर्जी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २०१० ई.।
- **पुराणों में संस्कृत शिव-कथा : एक अध्ययन :** शिवपुराण के विशेष सन्दर्भ में, आशुतोष शुक्ला, अवध, २०००, पीएच. डी.।
- **पुराणों में शिव-विवाह एक परिशीलन :** हरिमंगल त्रिपाठी, वाराणसी, पीएच. डी., (शोधरत)।
- **पुराणेषु शिवावतारतत्त्वम् :** (डॉ. श्रीमती मिनाती रथ, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००८ ई.) इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में शिवावतारतत्त्व तथा अवतार का उद्देश्य, द्वितीय अध्याय में स्वरूपावतार (कायावतार), पूर्णावतार, अंशावतार लीलावतार तथा योगावतार और तृतीय अध्याय में शिव के सौ अवतार का वर्णन किया गया है। जिसके लिए लिङ्गपुराण के अनेक उद्धरण लिये गये हैं।
- **Ling Mahapurana (With an exhaustive Introduction Sanskrit Text, English Translation and Index of Verses)**–(Tr.) S.L. Nagar, Primal Publications, Delhi, First Edition, 2008.

प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित वीरशैव मत से सम्बन्धित ग्रन्थ–

- **Synthesis of Buddhist Saiva and Sakta Tantras**–Surendra Jha, 2009.

उत्तर प्रदेश, बिहार और दिल्ली में उपलब्ध लिङ्गपुराण की पाण्डुलिपियाँ[२६]

- **लिङ्गपुराणम्**–पूर्ण, अधिगम संख्या ५१४३, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या ४२,

देवनागरी लिपि, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद।

- **लिङ्गपुराणम्**–पूर्ण अधिगम संख्या ५१४२, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या १२१, देवनागरी लिपि, इलाहाबाद।
- **लिङ्गपुराणम्**–अपूर्ण, परिग्रहण संख्या १७२, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २६६, देवनागरी लिपि, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार।
- **लिङ्गपुराणम्**–अपूर्ण (जीर्ण-शीर्ण, नष्टप्राय), परिग्रहण संख्या ९०, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २९८, देवनागरी लिपि, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार।
- **लिङ्गपुराणम्**–पूर्ण, परिग्रहण संख्या २६२७, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २०५, मैथिली लिपि, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार।
- **लिङ्गपुराणम्**–पूर्ण, परिग्रहण संख्या २६७१, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २३३, देवनागरी लिपि, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार।
- **लिङ्गपुराणम्**–पेपर-अपूर्ण, संग्रह संख्या १०९९१, फोलियो की संख्या ३२७, साईज ३१×१५.३ एसेशन नम्बर ११८०२, देवनागरी लिपि, वृन्दावन शोध संस्थान, उत्तर प्रदेश।
- **लिङ्गपुराणम्**–अपूर्ण, क्रमसंख्या ७२०६८, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २८१, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **लिङ्गपुराणम्**–अपूर्ण, क्रमसंख्या ७१८७०, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या १२, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **लिङ्गपुराणम्**–अपूर्ण, क्रमसंख्या ७१८६२, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या १२७, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **लिङ्गपुराणम्**–अपूर्ण, क्रमसंख्या ७१६४८, उपलब्ध पृष्ठों की संख्या २३, देवनागरी लिपि, सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **लिङ्गपुराणं तन्त्रशास्त्रञ्च**–पूर्ण, (लेखक) विनायक शर्मा प्राञ्जपे, क्रमसंख्या-६, अंक-२, जुलाई, १९६४ ई.।
- **लिङ्गपुराणं कालनिर्णयः**–पूर्ण, (लेखक) विनायक शर्मा प्राञ्जपे, क्रमसंख्या-२, अंक-१-२, जुलाई, १९६० ई.।

- **लिङ्गपुराण में आयुर्वेदतत्त्व**–पूर्ण, (लेखक) मण्डनलाल, क्रमसंख्या-१६, अंक-६, दिसम्बर, १९७३ ई.।
- **A Devi in the form of a Linga**–Purna, (Author) Bonazzali Giorgio, Vol. XVII, No. 2, July 1975.
- **Devillinga: A Note**–Purna, (Author) Bonazzali Giorgio, Vol. XX, No. 1, January 1978.
- **The Linga: Origin of its concept and worship**–Purna, (Author) N. Gangadharan, Vol. XX, No. 1, January 1978.
- **Ling Purana Khand-1** (MN/Devanagri)–Allahabad, 238476,AM_032,AM_0274 to AM_0276,AM357 (In IGNCA Library).
- **Ling Purana Khand-2** (MN/Devanagri)–Allahabad, 78,156,AM_032,AM_0277 to AM_0358,AM358 (In IGNCA Library).
- **Lingsatakam-1** (MN/Devanagri)–Allahabad, 2,4, AM_038,AM_14,AM_0328,AM_592 (In IGNCA Library).
- **Lingsatakam** (MN/Devanagri)–Allahabad, 2, 4, AM_038,AM_14,AM_0328,AM_592 (In IGNCA Library).
- **Lingsatakam** (MN/Devanagri)–Allahabad, 2, 4, AM_038,AM_14,AM_0327,AM_593 (In IGNCA Library)

यह सर्वविदित है कि वीरशैव धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार उत्तर प्रदेश, बिहार और दिल्ली राज्य में अत्यल्प है, तथापि इस प्रकार (अध्ययन के क्षेत्र में वीरशैव साहित्य) की उपलब्धता यह सूचित करती है कि वीरशैव धर्म-दर्शन से इन क्षेत्रों का भले ही जन-सामान्य अपरिचित है, किन्तु इसकी प्रतिष्ठा विद्वत्समाज में पूर्णरूपेण है। विद्वत्समाज के अन्तर्गत शास्त्रार्थ प्रक्रिया में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। इस धर्म-दर्शन का प्रयोग दोनों प्रकार से हुआ है। महर्षि दयानन्द आदि ने इसको पूर्वपक्ष के रूप में खण्डित किया है, तो अन्य आचार्यों ने इसका समर्थन भी किया है।

इस धर्म-दर्शन को आज एक सम्प्रदायविशेष से संयुक्त कर देखा जाता है, जो कि

उचित नहीं है। सामान्य जन भी यही अवबोध करता है कि यदि वीरशैव धर्म-दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन करना है, तो उसे उस मत में दीक्षित होना पड़ेगा। जबकि ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। यदि कोई भी व्यक्ति इन ग्रन्थों का अध्ययन धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टिकोण से करता है, तो एक नयी जीवन्त भारतीय दृष्टि विकसित होती है। वीरशैव दर्शन के अनुसार रोग-निवारण के लिये केवल औषधि का ज्ञान पर्याप्त नहीं होता है, अपितु उसका भक्षण या लेप भी आवश्यक होता है। कर्म और ज्ञान रूपी सोपान से ही इस लोक में आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुये अन्ततः शिवसायुज्य या मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। केवल द्वैत और केवल अद्वैत दोनों ही एक दूसरे के बाधक हैं। इन दोनों का सामञ्जस्य ही व्यवहार और मोक्ष का प्रतिपादन करने में समर्थ है। किसी भी धर्म का जिज्ञासु इन ग्रन्थों का अध्ययन कर सकता है। यह धर्म-दर्शन विश्वव्यापी शक्तिविशिष्टाद्वैत का संदेशवाहक है; अतः इसके अध्ययन-अध्यापन की अत्यन्त आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य, द्वितीय सम्पुट, पृष्ठसंख्या ४४-४५।
२. पारमेश्वरागम, १/१६-१७।
३. सूक्ष्मागम, क्रियाभाग ४-६।
४. सिद्धान्तशिखोपनिषद्; ११, पृष्ठसंख्या ५४।
५. सूक्ष्मागम, क्रियाभाग श्लोक ४-३०।
६. चन्द्रज्ञानागम, १०/४-५।
७. भारतीय दर्शन का इतिहास, पृष्ठसंख्या ९।
८. वामनपुराण, ६/८७।
९. स्वच्छन्दतन्त्र, ११/७१-७२।
१०. आगममीमांसा, पृष्ठसंख्या ३२।
११. वही।
१२. आगममीमांसा, पृष्ठसंख्या ३३, श्रीभाष्य २/२/३५।
१३. वही।
१४. सिद्धान्तशिखोपनिषद् प्रस्तावना, पृष्ठसंख्या ८।
१५. सिद्धान्तप्रकाशिका, पृष्ठसंख्या २४।
१६. लिङ्गपुराण की एक पाण्डुलिपि (तेलुगु लिपि) शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश में भी संग्रहीत है।

★

उत्तर-पश्चिमी भारत में वीरशैव लोगों का जीवन स्तर एवं वीरशैव साहित्य
(Status of Veerashaiva People and Veerashaiva Literature in North-Western India)

डॉ. रामनिवास
एसिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीतिविज्ञान विभाग,
राजकीय महिला महाविद्यालय, मड़लौडा (पानीपत), हरियाणा

भारतवर्ष अपनी अनोखी संस्कृति के कारण संपूर्ण विश्व में जाना जाता है। इसके विभिन्न प्रांतों में अनेक प्रकार की संस्कृति पाई जाती है। इस कारण अन्य प्रांतों के साथ-साथ हरियाणा का भी भारतीय संस्कृति में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रदेश जहाँ अपनी अनोखी संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है, वहीं विभिन्न प्रकार के संप्रदायों के लिए भी देशभर में विख्यात हैं। इन्हीं प्रान्तों में एक विलक्षण संप्रदाय है–वीरशैव, जिसके आचार्यों की उत्पत्ति शिवलिंग से मानी जाती है। पश्चिमोत्तर भारत में वीरशैव लोगों का प्रमुख निवास स्थान हरियाणा राज्य है। इस क्षेत्र में वीरशैव के नाम पर केवल जंगम लोग ही बचे हुए हैं। यह संप्रदाय प्राचीन काल से ही समस्त भारत में शिवभक्ति का उपदेश देता आया है। इस संप्रदाय के जंगम स्वामियों ने भारत की राजतंत्रीय व्यवस्था में राजाओं को प्रजाहित के निर्देश व शिवज्ञान का उपदेश देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। राजस्थान के अनेक राजपूत राजाओं के धर्मगुरु हरियाणवी जंगम ही थे। इन्होंने ही समस्त भारत के अनेक राजाओं व उनकी प्रजा को शिवसिद्धांत की शिक्षा-दीक्षा देकर भगवान् शिव द्वारा निर्धारित अपना कर्तव्य निभाया है। ***इनके इस गौरवमयी महत्त्व को देखते हुए हाल ही (नवम्बर २०११) में संयुक्त राष्ट्र संघ के सांस्कृतिक संगठन 'यूनेस्को' ने भी हरियाणा की वीरशैव जंगम परम्परा को लुप्तप्राय: परम्परा घोषित[१] करके हरियाणा के जंगम आचार्यों की संस्कृति को बचाने के लिए भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय को विशेष बजट जारी किया है।*** [२] यह शोधपत्र यूनेस्को द्वारा घोषित पश्चिमोत्तर भारत की इस लुप्तप्राय गौरवमयी वीरशैव संस्कृति (जंगम परम्परा) के महत्त्व पर प्रकाश डाल कर इसे बचाने का एक आंशिक प्रयास है।

भारत में लिंगपूजा का संबंध भगवान् लिंग व जंगम से है। शिवलिंग जिस पीठिका (जलैहरी) पर स्थापित किया जाता है, वह स्त्रीलिंग का प्रतीक है। इसी कारण अर्धनारीश्वर के प्रतीकस्वरूप भी लिंगार्चना की जाती है। जंगम द्वारा लिंगपूजा के माहात्म्य से भारत का धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है।

सर्वेषां शिवलिङ्गानां मुने संस्था न विद्यते ।
सर्वा लिङ्गमयी भूमिः सर्वं लिङ्गमयं जगत् ।।

(शिवपुराण, रुद्रसंहिता, श्लोक ९)

इससे यह विदीत होता है कि विश्व के सभी देशों जैसे यूनान, रोम, चीन (हांगकांग) मिस्त्र के अतिरिक्त पाश्चात्य व भूमध्यरेखीय देशों में भी शिवलिंग या लिंग देवता का पूजन संतानोत्पत्ति की आकांक्षा से किया जाता है। भारत में वीरशैव आचार्यों द्वारा लिंगपूजा करने की प्राचीनता के यथोचित प्रमाण मिलते हैं, जिनमें सिंधु घाटी की सभ्यता से लेकर आज तक लिंगपूजा के सम्यक् ऐतिहासिक प्रमाण विभिन्न मंदिरों, मठों व संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। एकमूर्तिस्त्रयो भागा गुरुलिङ्गं तु जङ्गमः–अर्थात् परमशिव चैतन्य के ये तीन रूप माने जाते हैं। गुरु, लिंग व जंगम। इनमें जंगम शब्द की परिभाषा है–

जानन्त्यतिशयाद्ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम् ।
स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिताः ।।

(श्रीसिद्धान्तशिखामणि, पृष्ठ १०४)

इस प्रकार शैव व वीरशैव संस्कृति में जंगम का अर्थ है–जिसके प्रकाश से सूर्य, चंद्रसहित यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है, उस स्वयंज्योतिस्वरूप परमशिव को जो अपनी आत्मा से अभिन्न जानता है अर्थात् शिव के साथ जिसे अभेद बोध उत्पन्न हुआ है, उस आत्मज्ञानी को शैवदर्शन में जंगम कहा गया है। जंगम शब्द के अक्षरार्थ भी जं–जननरहित, ग–गमनरहित, म–मरणरहित। इस प्रकार जनन-मरण रूप गमनागमनरहित जीवन्मुक्त महापुरुष ही जंगम है। इसको शिवयोगी भी कहा जाता है। जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द जातिसूचक बन गया, उसी प्रकार जंगम शब्द भी साम्प्रदायिक दृष्टि से जाति का ही वाचक बन गया है अर्थात् वीरमहेश्वर वंश में (जिसे महाभारत काल में लिंगी ब्राह्मण भी कहा जाता था) उत्पन्न लोगों को जंगम कहते हैं।[3]

इसके अतिरिक्त जंगम का अर्थ–गतिमान अर्थात् निरंतर चलने वाला व्यक्ति भी है। यह अर्थ भी जंगम के लिए उचित मालूम होता है; क्योंकि जंगम गुरु शिवलिंग पूजा करने के लिए भक्तों के घर-घर जाते हैं तथा उन्हें शिवतत्त्व का ज्ञान कराते हैं। जंगम की उत्पत्ति के बारे में हरियांणा के कुछ जंगम बताते हैं कि जंगम को भगवान् शिव ने अपनी शादी का दान देने के लिए अपने जंघा अर्थात् लिंग से उत्पन्न किया। इस कारण जंगम को शिव का स्वरूप माना जाता है। कुछ विद्वान् जंगमों का कहना है कि जब भगवान् शिव ने ब्रह्मा जी को सृष्टि रचने का निर्देश दिया, तो ब्रह्मा ने शिवजी से कहा कि उन्हें मनुष्य बनाना सिखाएँ, तब भगवान् शिव ने सृष्टि रचने से पहले अपने लिंग से एक मनुष्य बनाया, जो जंगम कहलाया तथा उसे अपना स्वरूप (देरु अर्थात् देवरूप) बता कर सब देवताओं से

उसे पूजने (नमस्कार करने, सजदा करने) को कहा। तब सभी देवों ने जंगम की पाद-पूजा करके उसे अनेक प्रकार की भेटें प्रदान कीं, जिनमें स्वयं भगवान् शिव द्वारा सर्पमुकुट, पार्वती द्वारा कर्णफूल, नंदीगण द्वारा टल्ली, श्रीहरि विष्णु द्वारा मोरपंखी मुकुट, ब्रह्मा जी द्वारा कमंडलु तथा भगवान् भास्कर द्वारा सूर्यचिह्न भेंट किया गया।[४] इसके बाद भगवान् शिव ने इनको ब्रह्मदेव द्वारा रचे इस संसार में अपना उपदेश देते हुए पवित्र ग्रंथों में रचित अमूल्य ज्ञान को जनसाधारण की भाषा में प्रचारित करने, शिववाणी गाने तथा समाज में सदाचार की भावना को बढ़ाने का निर्देश दिया। इस प्रकार शिव-आज्ञा पालन करते हुए निरंतर गतिमान रह कर अर्थात् घर-घर घुम कर शिवभक्ति का प्रचार करने के कारण ये जंगम कहलाये। इसी कारण पश्चिमोत्तर भारत के जंगम लोग आज भी यहीं परिधान धारण करते हैं और अपने नाम के साथ 'देरु' शब्द जोड़ते हैं तथा श्रीअन्रत देरु जंगम को आदि व प्रथम जगद्‌गुरु मानते हुए इनकी महिमा का वर्णन शिववाणी गायन में करते हैं।

जंगम की उत्पत्ति के बारे में दक्षिण भारत के वीरशैव संतों का इतिहास भी यही बताता है कि भगवान् शिव ने अपने पाँच मुखों (ज्योतिर्लिंगों) से पाँच मनुष्य बनाये। ये पाँचों मनुष्य पञ्चाचार्य कहलाये व अतिवर्णी अर्थात् ब्रह्मा द्वारा बनाए गए चारों वर्णों से ऊपर माने गये। शिवभक्ति से संबधित कार्यो को संपन्न करने के लिए भारत में जंगमों के पाँच सिद्ध पीठ (मठ) हैं। जिनके नाम रम्भापुरी पीठ, बालेहोनपुर (कर्नाटक), सधर्म पीठ, बलारी (कर्नाटक), वैराग्य पीठ, केदारनाथ (उत्तरांचल), सूर्य पीठ, श्रीशैलम् (आंध्रप्रदेश) व ज्ञानपीठ, काशी-वाराणसी (उत्तरप्रदेश) में हैं। जंगमों के हर पीठ की अपनी एक विशेष पहचान और हर पीठ का एक जगद्‌गुरु होता है, जिसका अपना एक विशेष पदनाम है।[५]

वीरशैव आचार्यों के प्राचीन महत्त्व के बारे में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित पुस्तक अष्टावरण विज्ञान में विस्तृत वर्णन किया गया है। स्कन्दपुराण के अनुसार धर्म की ग्लानि होने पर भगवान् शिव अपने विशेष अंश वाले शिवगणों के रूप में अवतरित होकर प्रत्येक युग के आरंभ में धर्म की स्थापना करते हैं। सनातन धर्म के संस्थापक ये जंगम शिवाचार्य शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुख के रूप में विराजमान कुल्यपाक के श्री सोमेश्वर लिंग, वटक्षेत्र के श्रीसिद्धेश्वर लिंग, द्राक्षाराम क्षेत्र के श्रीरामनाथ लिंग, सुधाकुंड क्षेत्र के श्री मल्लिकार्जुन लिंग तथा काशी क्षेत्र के श्रीविश्वनाथ लिंग से क्रमश: श्री रेवणाराध्य, श्री मरुलाराध्य, श्री एकोरामाराध्य, श्री पंडिताराध्य और श्री विश्वाराध्य नाम के पीठ आचार्य प्रत्येक युग में विभिन्न नामों से अवतरित होकर वीरशैव व सनातन धर्म की स्थापना करते आये हैं।[६] इन्हीं पंचाचार्यों में जगद्‌गुरु श्री रेणुकाचार्य जंगम ने महर्षि अगस्त्य को शिवज्ञान की दीक्षा दी, श्रीराम के हाथों रामेश्वर लिंग की प्रतिष्ठा करवाकर शिवतत्त्व का उपदेश दिया। उन्होंने ही श्रीलंका में रावण द्वारा संकल्पित दस करोड़ शिवलिंग को पूरा करने के लिए उनकी मृत्यूपरांत

विभीषण के हाथों शेष तीन करोड़ शिवलिंगों की स्थापना करवायी। कलियुग में इसी पीठ को जगद्गुरु जंगम शिवाचार्य ने राजा वीर विक्रमाजीत को (जिनके नाम से विक्रम संवत् शुरु हुआ। विजय खड्ग प्रदान की, कांची के राजा विजेंद्र चोल को भूपाल का अनुग्रह, कोल्हापुर में गोरक्षनाथ का गर्वहरण तथा जगद्गुरु आदि शंकराचार्य को भी चंद्रमौलीश्वर लिंग की दीक्षा दी। इसके अतिरिक्त जगद्गुरु शिवाचार्य मरुलाराध्य जंगम ने सुप्रसिद्ध दधीचि महर्षि को शिवतत्त्व का उपदेश देकर कृतार्थ किया। श्रीशेलम पीठ से द्वापर युग के जगद्गुरु शिवाचार्य श्री धेनुकर्ण जंगम ने महर्षि सान्नद को शिवज्ञान की दीक्षा दी।

यदि ऐतिहासिक प्रमाणों पर दृष्टिपात किया जाये तो पश्चिमोत्तर भारत में स्थित केदारपीठ के जगद्गुरु शिवाचार्य घंटाकर्ण जंगम ने काशी में गंगा नदी के तट पर महर्षि व्यास जी को शिवसिद्धांत का उपदेश दिया। केदार मठ में महाभारतकालीन पांडवों के प्रपौत्र राजा जनमेजय द्वारा दिया गया भूमिदान ताम्रपात्र आज भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में स्थित ज्ञानपीठ काशी के जगद्गुरु शिवाचार्य श्री विश्वकर्ण जंगम ने सुप्रसिद्ध महर्षि दुर्वासा को शिवसिद्धान्त का उपदेश दिया।[७] जंगमवाड़ी मठ, काशी के तत्कालीन जगद्गुरु मल्लिकार्जुन जंगम को काशीनरेश जयनंद देव द्वारा दिया गया भूमिदान का १४०० वर्ष पुराना राजपत्र आज भी मठ में सुरक्षित है। हुमायूं बादशाह ने मिर्जापुर (उत्तरप्रदेश) जिले के चुनार नामक स्थान में जंगमवाड़ी मठ के सहायतार्थ ३०० बीघा जमीन दान देने का शाही फरमान जारी किया। उनके बाद के सभी मुगल शासकों ने इस फरमान को स्वीकार करते हुए नये फरमान भी जारी किये, जो अब तक मठ में विद्यमान हैं। मुगल बादशाहों के दानपत्र १५३० से १७८४ ईसवीं के मध्य के हैं। हूमायूं के बाद अकबर ने ४८० बीघा भूमि दान की। अकबर के ३ फरमान, जहांगीर के २ फरमान तथा शाहजहाँ के समय के १६ फरमान मठ में सुरक्षित हैं।[८]

काशी मठ में ही सबसे आश्चर्यजनक फरमान तो मुगलों के क्रूरतम तथा हिंदूद्रोही बादशाह औरंगजेब का है। इनके बारे में कहा जाता है कि जब मंदिरों के ध्वंस अभियान में औरंगजेब काशी आया, तो वह काशी विश्वनाथ मंदिर तोड़कर जंगमवाड़ी मठ पहुँचा। किंतु मठ के द्वार में प्रवेश करते ही उसे लगा कि साक्षात् महाकाल उनकी ओर लाल-लाल आँखों से निहार रहा है, मानों उसे निगल जायेगा। यह देख साम्राज्य और सैन्यबल से सुसज्जित सम्राट् बुरी तरह काँप उठा और तत्काल मठ से बाहर निकल आया। तब उसने उसी समय मठ तोड़ने का विचार त्याग कर तत्कालीन जगद्गुरु शिवाचार्य जंगम से क्षमा-याचना की व शिवज्ञान की दीक्षा लेकर मठ को भूमिदान दी। असली हस्ताक्षरयुक्त पत्र (शाही फरमान) अब तक मठ में सुरक्षित है, जिसमें यह सब लिखा हुआ है। इन सब फरमानों को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने भी लंबी जांच प्रक्रिया के बाद प्रमाणित किया है।[९] इसी ऐतिहासिक काशी मठ का एक शाखामठ हमारे पड़ोसी देश नेपाल के भक्तपुर

में स्थित है। इसे भी जंगमवाड़ी मठ के नाम से जाना जाता है तथा नेपाल के प्रसिद्ध पशुपतिनाथ मंदिर की देखरेख भी सदियों से जंगम ही करते आये हैं।

पश्चिमोत्तर भारत के राज्यों में भी दक्षिण भारतीय राज्यों की तरह ही शैव व वीरशैव धर्म में उत्पन्न हुए जंगम लोगों की बड़ी प्रतिष्ठा है। अनेक त्यौहार और विशिष्ट धार्मिक कार्यों में इनको निमंत्रण देकर इनसे पूजा करवाकर ही धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। इस प्रथा से यह सिद्ध होता है कि जंगम वंश में बहुत पहले अनेक जीवन्मुक्त महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिनकी महत्ता को जानते हुए उनकी संतान की पूजा की प्रथा चली आयी है। जंगम वंश में आज भी कहीं-कहीं जीवन्मुक्त लोग दिखायी देते हैं। सभी जंगम लोगों में ज्ञान की पराकाष्ठा न होने पर भी अपने परिशुद्ध आचार-विचार व व्यवहार के कारण शैव मत के लोग इन्हें परमपूज्य मानते हैं।

जंगम निंदा करते लिंग की उपासना, करने वाले भक्त का साहस कैसा ?

शिव-शिव निंदा करते उपासना करने का पातक सुना नहीं जा सकता।

गुरु के गुरु हैं जंगम, ऐसा है कुंडल संगम देव का वचन।

(महात्मा बसवेश्वर के वचन, ४२४)

अपनी इस वाणी में गुरु का जो गुरु होता है, जिसे परमगुरु कहते हैं, उनको जंगम कहा है। संसार में जैसे पितामह (दादा) पिता व पुत्र दोनों से श्रेष्ठ होता है। वैसे ही जंगम लिंग व गुरु से भी श्रेष्ठ होता है। अतः घर में जंगम के आने पर गुरु और लिंग की पूजा छोड़कर जंगम की पादपूजा करने का विधान शैवमत में है। लिंगमुखं वै जंगम–इस उक्ति के अनुसार लिंग का मुख ही जंगम है। जिस वस्तु या पदार्थ को लिंगार्पित करना हो, उसे शैव व वीरशैव लोग जंगम को अर्पित करते हैं। जैसे किसी पदार्थ को मुँह में डालने से पेट की तृप्ति होती है, वैसे ही जंगम को खिलाने से लिंग की भी तृप्ति हो जाती है; क्योंकि जंगम लिंग का मुख माना जाता है। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध महात्मा बसवेश्वर ब्राह्मण कहते हैं कि–मुझे हजार जन्म भी मिले, तो हर जन्म में जंगम सेवा का अवसर मिले। इसी कारण उन्होंने जनसाधारण के लिए कहा है कि–लिंग में सत्य ढूँढना हो, तो जंगम पर विश्वास रखो, उन्हें चलता लिंग, बोलता लिंग, मुख लिंग ही मानो।

इसी मान्यता के आधार पर आज भी पश्चिमोत्तर भारतीय राज्यों में शिवकथा व लिंगपूजा का दान जंगम ही ग्रहण करते हैं। जंगम गुरु हमेशा अपने साथ टल्ली रखते हैं और दान उसी टल्ली में ग्रहण करते हैं। ये सोने, चाँदी व पीतल के कर्णफूल, सूर्य-चिह्न तथा सर्पमुकुट के अतिरिक्त सिर पर मोर पंख से बनी कलंगी भी धारण करते हैं। जंगम जब किसी से भेंट करता है, तो शिवशरणम् बोलता है तथा प्रत्युत्तर में साधु-संन्यासी शंभुशरणम् शब्द का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार शिवशरणम् जंगम को ओंकार

कहा जाता है। शिव पुरोहित के कारण दशनामी साधु-संन्यासी इन्हें शिवाचार्य, परमगुरु व पुरोहित कहकर पुकारते हैं और वीरशैव संप्रदाय के जंगम लोगों को अपना शिष्य बनाने का निषेध करते हैं। नागा साधु तो इन्हें और भी अधिक महत्त्व देते हैं; क्योंकि कुंभ मेले के अवसर पर नागा साधुओं द्वारा सबसे पहले जंगमों को गंगास्नान करवाकर दान-दक्षिणा दी जाती है। इस प्रक्रिया को दशनामी साधु समाज के संत शाहीस्नान कहते हैं। जंगमों के बाद नागा साधु, नागाओं के बाद संत समाज तथा उनके बाद सामान्य जनता स्नान करती है।[१०] इसी महत्ता के कारण जंगम स्वामी शिवलिंग के समान पवित्र माने जाते हैं तथा इनके संस्कार व परंपरायें भी बड़ी विलक्षण होती हैं।

जंगम गुरु शिक्षाकाल के दौरान अपने शिष्य को साथ में रख कर शिव-पार्वती विवाह, लिंगपूजा, मंत्रोच्चार विधि कंठस्थ करवाने के अतिरिक्त साधु-संन्यासी व सामान्य जनता में व्यवहार करने की शिक्षा देने के पश्चात् अंत में उसे लिंग दीक्षा देकर 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का जप करते हुए शिवमहिमा का प्रचार करने का निर्देश देता है। जंगम द्वारा गायी जाने वाली शिवकथा शिवपुराण में रचित कथा से मिलती-जुलती है और आदिकाल में जगद्गुरु श्री अनन्त देरु जंगम शिवाचार्य द्वारा रची गयी है।[११] इस कथा में सृष्टि की रचना से लेकर अंत तक का वैज्ञानिक वर्णन किया गया है।

हरियाणा का जंगम संप्रदाय एक ऐसा संप्रदाय है, जो धार्मिक एकता को भी दर्शाता है; क्योंकि हिंदुओं व सिखों के अतिरिक्त जंगम आचार्यों का ईसाई व मुसलिम धर्म के लोग भी बड़ा आदर सत्कार करते हैं तथा इनके वचनों को सुनकर इन्हें अनेक प्रकार की भेंट भी देते हैं। इसके साक्ष्य वीरशैव संप्रदाय के मठों में आज भी विद्यमान हैं। आजादी से पहले अंग्रेज लोग इन्हें हिंदू पादरी के नाम से संबोधित करते थे। इस संदर्भ में सन् १९९९ में शिवैक्य स्वामी श्री पालाराम जंगम से साक्षात् करके मैंने जंगमवाणी के कुछ अंश सुने। उदाहरण के लिए जंगम द्वारा गायी जाने वाली मुसलिम वाणी[१२] का कुछ अंश प्रस्तुत है–

आभू बेल का हिंदू कहिए, अबदुला के मुसलमान जी।
ख्वाजा की अजमेर बोलिए, रत्तनपीर का बना भटिंडा।
नौबत बाजे रत्तन, ख्वाजी, सत्तर पीर मियां होगे राजी,
माई हूरजहां, माई नूरजहां, माई फातमां ने खैर कमाई।
भूखे रजाए, नंगे उठाए, मोम्मद के कलमें भरवाए,
जन्मे नबीं रसूल बालकै.................................।

इस प्रकार यह वाणी हिंदू धर्मगुरु जंगमों द्वारा गायी जाने के कारण हिंदू-मुस्लिम

एकता को बढ़ावा देती है। इस संप्रदाय के विशिष्ट व्यक्तियों के अनुसार हरियाणा के जंगम आचार्य प्राचीन भारत के लाहौर, पेशावर, काबुल, कंधार, हैदराबाद, करांची तथा नेपाल व बंगला देश के कुछ भागों में अपनी जान जोखिम में डालकर वहाँ पर स्थापित मठों का संचालन करते हुए शैवमत प्रचार के लिए जाया करते थे। लेकिन भारत विभाजन के बाद इनका प्रचारक्षेत्र काफी सीमित हो गया और वर्तमान में ये अधिकतर पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, जम्मू-कश्मीर, उत्तरप्रदेश व राजस्थान में शैवमत का प्रचार करते हैं। इन स्थानों पर जंगम को अद्वितीय प्रकार के शिवाचार्य मानकर अत्यधिक सत्कार किया जाता है और इनके द्वारा शिवलिंग पूजा करवाकर व उनके मुख से शिववाणी सुनकर लोग अपने आपको धन्य समझते हैं।[१३] वीरशैव संप्रदाय का धार्मिक एकता के अतिरिक्त राष्ट्रीय एकता में भी महत्त्वपूर्ण स्थान हैं; क्योंकि यह संप्रदाय उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण भारत में भी शिवभक्ति व लिंगपूजा का प्रचार करके भारत की एकता व अखंडता को बढ़ावा दे रहा है।

प्राचीन काल से ही हरियाणा (अविभाजित पंजाब) पश्चिमोत्तर भारतीय राज्यों में शिवभक्ति के प्रचार का प्रमुख केन्द्र रहा है; क्योंकि हरियाणा में स्थित विश्व की प्राचीनतम सभ्यता सिंधु घाटी के प्रमुख केन्द्र हिसार जिले के राखीगढी गाँव की खुदाई से ७ ऐसे मानव-कंकाल मिले हैं, जिनके हाथ छोटे-छोटे शिवलिंग रखे हुए थे। इस प्रकार के लिंगधारी कंकाल इस सभ्यता के अन्य किसी भी केन्द्र पर नहीं मिले। सिंधु घाटी में प्राप्त लिंगधारी कंकालों की तरह हरियाणा में आज भी जंगम स्वामियों को मृत्यु के पश्चात् छोटा शिवलिंग बाँधकर भूसमाधिस्थ करने की परम्परा जीवित है। इन साक्ष्यों के आधार पर पुरातत्त्वविदों व धार्मिक शोधकर्त्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिंधु घाटी की सभ्यता के समय हरियाणा शैवमत का प्रमुख केन्द्र था तथा उस समय भी समस्त भारतवर्ष में जंगम आचार्य लिंगपूजा करवाते थे। इसी कारण इस सभ्यता के सबसे बड़े नगर का नाम भी हरप्पा था और यह नाम शिवाचार्यों के कारण पड़ा; क्योंकि हरप्पा का अर्थ है–हर + अप्पा अर्थात् शैवमत के पिता या शिवाचार्य अर्थात् जंगम स्वामी। इसके अतिरिक्त सिंधु घाटी में सभी स्थानों पर केवलमात्र शिवपूजा अर्थात् लिंगपूजा की जाती थी तथा पूजासम्बन्धी सभी कार्य जंगमों द्वारा कराये जाते थे। इन्हीं कार्यों को सम्पन्न करवाने के लिए हरप्पा नगर में बहुसंख्या में जंगम शिवाचार्य वास करते थे और उन्हें जीवित व मृत्यूपरांत शिवलिंग बाँधकर भूसमाधिस्थ किया जाता था। इसी कारण इस सभ्यता को हरप्पा संस्कृति भी कहा जाता है।[१४]

पश्चिमोत्तर भारतीय राज्यों में वीरशैव संप्रदाय के नाम पर केवल जंगम लोग ही बचे हुए हैं। हरियाणा में आज इस संप्रदाय की जनसंख्या लगभग बीस हजार है। इनका परम्परागत व्यवसाय शिवभक्ति का प्रचार करना है। इससे जो आय होती है, उसी से ये

लोग अपना गुजारा करते हैं। आजकल भौतिकवाद के कारण लोगों में धार्मिक आस्था बहुत कम हो रही है, जिससे इन जंगम आचार्यों की दान-दक्षिणा से प्राप्त होने वाली आय घटने के कारण इनका गुजारा नहीं हो पाता। इसलिए अब इन्होंने अपने बच्चों को शिक्षित करके अन्य रोजगार करने शुरु कर दिए हैं, जिससे इस प्राचीनतम संस्कृति के वाहक जंगम आचार्यों की संख्या लगातार घट रही है।[१५] इस संप्रदाय का हरियाणा में एकमात्र प्रसिद्ध मठ कुरुक्षेत्र जिले के पेहवा कस्बे में सरस्वती नदी के शिव प्राँचीघाट पर स्थित जंगमवाड़ी मठ है, जिसमें वीरशैव जंगम लोगों की प्राचीन संस्कृति को कायम रखने के लिए गत वर्ष विश्वप्रसिद्ध काशी जगद्गुरु श्री श्री १००८ डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी द्वारा श्रीजगद्गुरु पंचाचार्य जंगम वेद पाठशाला की स्थापना की गयी।[१६] इस समय *'जंगम तथा हरियाणा'* के अध्यक्ष श्री जगमाल जंगम जीन्द व *'वीरशैव समाज उत्तर भारत'* के संस्थापक अध्यक्ष श्री महेन्द्र जंगम व उपाध्यक्ष श्री रामकुमार जंगम हरियाणा के आदियाना तथा निलोखेड़ी गाँव के निवासी हैं।

इस प्रकार वीरशैव संप्रदाय के महत्त्व को देखते हुए जहाँ इस अल्पसंख्यक संप्रदाय ने समस्त भारतवर्ष में अपनी आध्यात्मिक व धार्मिक पहचान बना रखी है, वहीं पश्चिमोत्तर भारतीय राज्यों में इस संप्रदाय का निरंतर पतन हो रहा है। अल्पसंख्या व गरीबी के कारण इस समाज के लोगों ने हरियाणा से विस्थापित होकर अन्य राज्यों, विशेषकर पंजाब, हिमाचल प्रदेश व जम्मू-कश्मीर में पलायन करना शुरु कर दिया है तथा हरियाणा में शेष बचे हुए जंगम लोगों ने अल्पसंख्या में होने के कारण सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से अपने आपको जंगम जोगी कहना शुरु कर दिया है। इसके अतिरिक्त बहुत से गैर जंगम लोग भी जंगम का बाणा (परिधान) पहन कर अर्थात् नकली जंगम बन कर शिववाणी व लिंग पूजा करवाने लग गये हैं। जिससे शिवलिंग से उत्पन्न इस पवित्र जंगम संप्रदाय की पवित्रता तो समाप्त हो ही रही है, साथ ही उन शिवभक्तों की आस्था को भी बड़ी ठेस पहुँच रही है, जो शिवकथा या लिंगपूजा जंगम आचार्यों से करवाना चाहते हैं और नकली जंगमों द्वारा पूजा करने से उनको शिवकथा व पूजा का पूरा प्रतिफल नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त अन्य समाज के लोगों द्वारा नकली जंगम बनकर असामाजिक कार्य करने के कारण इस पवित्र संप्रदाय की छवि निरंतर धूमिल हो रही है। इस समस्या के समाधान के लिए समाज के कुछ शिक्षित व वरिष्ठ व्यक्तियों ने 'वीरशैव समाज आफ नोर्थ इंडिया' (आध्यात्मिक गुरु जंगम संगठन) नाम का गैर सरकारी सामाजिक संगठन बनाकर सभी जन्मजात जंगम आचार्यों को पहचान-पत्र दिया है, जिससे नकली जंगमों द्वारा की जाने वाली आपराधिक व असामाजिक गतिविधियों पर रोक लगाई जा सके। जंगमों के पहचान-पत्र चेक करने के लिए २००३ से अब तक हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश व जम्मू-कश्मीर सरकार को बार-बार लिखने के बाद भी ये राज्य सरकारें इस ओर ध्यान न देकर,

यूनेस्को द्वारा लुप्तप्राय परम्परा घोषित करने के बाद भी जंगम के अस्तित्व को बचाने का कोई प्रयास नहीं कर रही।[२७] अत: हरियाणा के इस एकमात्र अद्भुत व अल्पसंख्यक घुमन्तु धार्मिक कबीले की संस्कृति के अस्तित्व को बचाये रखने के लिए हरियाणा सरकार को चाहिए कि वह जंगम को जोगी समाज की उपजाति (जंगम जोगी) न लिखकर केवल जंगम ही लिखे तथा जंगम संप्रदाय को पिछड़े वर्ग की बजाय घुमन्तु जनजाति (एस. टी.) की सूची में शामिल करके इसके आर्थिक व सामाजिक विकास में सहयोग दे। जिससे कि इस धार्मिक संप्रदाय के युवा राज्य तथा केन्द्र सरकार की नौकरियाँ प्राप्त करके सम्मानपूर्वक जीवन जी सकें। ऐसा करने से ही यूनेस्कों द्वारा घोषित हरियाणा की इस लुप्तप्राय परम्परा को लुप्त होने से बचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस धार्मिक संप्रदाय के विकास व अस्तित्व के लिए राष्ट्रीय स्तर पर समाज के विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा उचित कदम उठाने की आवश्यकता है। जिससे विलक्षण प्रतिभा के धनी हरियाणा का यह वीरशैव संप्रदाय समस्त उत्तर भारत में अपने खोये हुए धार्मिक महत्त्व को फिर से प्राप्त करके, शिवभक्तों की आस्था व पुराणों में वर्णित विधि द्वारा शिवलिंग-पूजा को संपन्न करवाने के लिए जीवित रह सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. *हरियाणा विधानसभा डिबेट*, ५ मार्च, २०१२।

२. जय जंगम : अब यूनेस्को करेगा दक्षिणा दान, ***अमर उजाला***, चण्डीगढ़, ३ दिसम्बर, २०११, पृष्ठ १५।

३. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी, ''जंगम'', *अष्टावरण विज्ञान*, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, २०११, पृष्ठ २७।

४. रामनिवास बैनिवाल, ''हरियाणवी संस्कृति और धार्मिक एकता'', *हरियाणा संवाद*, वर्ष ३२, अंक ५, चण्डीगढ़, मई २०००, पृष्ठ ९-१२।

५. *साक्षात्कार*, डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी, जंगमवाड़ी मठ, पेहवा, ९ नवम्बर, २०११।

६. राधेश्याम चतुर्वेदी (हिन्दी व्याख्याकार), *श्रीसिद्धांतशिखामणि*, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, २००६।

७. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी, ''उपोद्घात'', *अष्टावरण विज्ञान*, पूर्व उद्धृत।

८. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी, ''उपोद्घात'', *अष्टावरण विज्ञान*, पूर्व उद्धृत।

९. वही।

१०. धर्मेन्द्र तिवारी, ''शिव उपासक जंगम'', *अजीत समाचार*, जालंधर, १६ मई, २०००।

११. *साक्षात्कार*, महेन्द्र जंगम, अध्यक्ष, वीरशैव समाज ऑफ नोदर्न इंडिया, जंगम मठ, शिवपुरी, लुधियाना, ५ अगस्त, २०११।

१२. रामनिवास बैनिवाल, *पूर्व उद्धृत।*

१३. *साक्षात्कार,* गौरीशंकर, (वयोवृद्ध जंगम), जंगम मठ, अदियाना (पानीपत), हरियाणा, १४ अगस्त, २०११।

१४. रामनिवास बैनिवाल, "शिव शरणम है जंगमवाणी", *दैनिक भास्कर,* पानीपत, १२ मार्च, २०१२, पृष्ठ १४।

१५. रामनिवास बैनिवाल, "शिव स्तुति में जुटे जंगम", *दैनिक जागरण* (साँझी), हिसार, २० जनवरी, २०१२, पृष्ठ ४।

१६. *साक्षात्कार*, शिवचरण जंगम (अध्यक्ष, जंगम सभा, हरियाणा), जंगमवाड़ी मठ, पेहवा (कुरुक्षेत्र), १० जनवरी, २०१२।

१७. वरिन्दर सिंह, "डाईग ट्राडिसन", *दा ट्रिब्यून* (सपेक्ट्रम), ७ अगस्त, २०११।

✶

नेपाल में वीरशैव धर्म-दर्शन का स्थान

डॉ. भरत जंगम
काठमाण्डु, नेपाल

वैदिक सनातन धर्म-दर्शन में वीरशैव धर्म-दर्शन का विशिष्ट स्थान है। इस धर्म का संस्थापक रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण और विश्वकर्ण नाम के पाँच प्रमुख शिवगणों की उत्पत्ति स्वयं देवाधिदेव महादेव 'शिव' की कृपा से हुई है। इन पाँच शिव गणों को जगद्गुरु पञ्चाचार्य कहते हैं। यह पाँच पीठ भारत के आंध्र प्रदेश में सोमनाथ, उज्जैन में सिद्धेश्वर, श्रीशैल क्षेत्र में मल्लिकार्जुन, काशी में विश्वेश्वर और उत्तराञ्चल में केदारनाथजी के नाम से अलग-अलग क्षेत्र में स्थित हो गये हैं। युगोयुग से चले आये यह वीरशैव सनातन धर्म नेपाल मण्डल वा पशुपतिक्षेत्र में भी प्राचीन काल से ही एक उच्च शैव संप्रदाय के रूप में अपनी पहिचान स्थापित करके विशेष पीठ के रूप में स्थापित है। इस वीरशैव धर्म दर्शन को नेपाल और हिमालय प्रदेश क्षेत्र में प्रतिनिधित्व करनेवाले यह केन्द्र रावल मठ के नाम से प्रसिद्ध है।

नेपाल स्थित रावल मठ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

नेपाल मण्डल में वीरशैव धर्म दर्शन का प्रवेश कब से हुआ और कैसे हुआ, इस विषय में लिखित दस्तावेज मिला नहीं, लेकिन चौथी सदी से बारहवी सदी तक नेपाल मण्डल का राज लिच्छवी वंश के राजाओं ने सम्हाला था। उसी लिच्छवी वंश के राजा श्री नरेन्द्रदेव ने नवीं सदी में अनन्तलिङ्गेश्वर मन्दिर परिसर में स्थित शिलालेख में जङ्गम प्रतिष्ठान का वर्णन किया है, जिसमें प्रतिष्ठान के प्रमुख को कुलपति के नाम से सम्बोधित करते हुये उनका कार्य और कर्तव्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस लिखित प्रमाण के आधार से कह सकते हैं कि नेपाल में वीरशैव धर्मदर्शन का प्रवेश नवीं सदी से पहले ही हुआ है।

चौदहवीं सदी में भारत बंगाल के सुल्तान समसुद्दीन मोहमद ने हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करते हुए नेपाल पहुँचा और नेपाल स्थित पशुपतिनाथजी का लिङ्ग नष्ट करके मन्दिर तहसनहस कर दिया। तत्कालीन बनेपा के राजा जयवर्धन सिंह के राजगुरु श्रीपद आराध्य शर्मा वीरशैव जङ्गम थे। उनकी प्रमुख संलग्नता से उसके एक साल के बाद सन् १३६० में वर्तमान पशुपतिनाथ का लिङ्ग निर्माण करके स्थापित किया गया है। इसका प्रमाण कर्नाटक युनिवर्सिटी में है बोल के 'नेपाल कर्नाटक सांस्कृतिक सम्बन्ध' नाम के कन्नड भाषा के ग्रन्थ, में लेखक प्रोफेसर डॉ. चिदानन्द मूर्ति ने लिखा है। इस प्रमाण से साबित

होता है कि वर्तमान पशुपतिनाथ के लिङ्ग वीरशैव मत के जङ्गम ने पुन:स्थापित किया है और पूजा अर्चना विधि और पद्धति भी उन्होंने ही स्थापित की है।

नेपाल के प्राचीन नगर भक्तपुर में जङ्गम मठ है। मठ के प्रथम परिसर में नेपाल संवत् ६९२ (सन् १५७२) का एक मल्लकालीन शिलालेख है। उस शिलालेख में मल्ल वंश के संस्थापक हरिसिंहदेव मल्ल के समय में जङ्गम मठ का जीर्णोद्धार का उल्लेख है। इससे प्रमाणित होता है कि वीरशैव सम्प्रदाय का स्थायी रूप से वसोवास तेरहवीं सदी से है। जEd d7 d] सन् १५७२ के बाद का शिलापत्र और ताम्रपत्र मिला है। मठ के मूल रसोइ परिसर में एक पत्थर के ऊपर 'चन्द्रवीर देवरु वि.सं. १६२८ (सन् १५७१)' लिखा गया है, जो कन्नड लिपि में है। इससे अनुमान कर सकते हैं कि चन्द्रवीरदेवरु मठाधीश या व्यवस्थापक रूप में काम करनेवाले मुख्य व्यक्ति हैं। मूल शिलालेख के आधार पर अनुमान कर सकते हैं कि मठ का निर्माण तेरहवीं सदी के पूर्व काल में ही हुआ है। इस शिलालेख में स्पष्ट रूप से मठ का नाम 'रावल मठ' लिखा गया है। मल्ल काल के अन्तिम राजा रणजीत मल्ल का सन् १६६१ का ताम्रपत्र भी मठ में सुरक्षित है।

प्राचीन और पूर्व प्राचीन नेपाल में वीरशैव सम्प्रदाय के अतिरिक्त और भी शैव सम्प्रदाय का बाहुल्य था, जैसे पाशुपत, घण्टाकर्ण और कापालिक। लेकिन आज उस शैव सम्प्रदाय का अस्तित्व मिट गया है। वर्तमान नेपाल में शैव शंकराचार्य का बाहुल्य होते हुए भी वीरशैव सम्प्रदाय का भी समाज में उचित स्थान है।

नेपाल उपत्यका के समाज में वीरशैव सम्प्रदाय का प्रभाव

भारत में जैसे बारह ज्योतिर्लिङ्ग हैं, ऐसे ही नेपाल में भी चौसठ ज्योतिर्लिङ्ग हैं। उस चौसठ ज्योतिर्लिङ्ग के मन्दिर में आठ ज्योतिर्लिङ्ग मन्दिर के प्रशासकीय अधिकार भक्तपुर स्थित जङ्गम मठ में ही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नेपाल में शैव सम्प्रदाय के विकास के लिए करीब तेरह प्रतिशत जिम्मेदारी वीरशैव जङ्गम के ही कन्धे पर है। चौदहवीं सदी में पशुपतिनाथ का वर्तमान लिङ्गस्थापना और पूजा अर्चना का जिम्मा लेना, वैष्णव सम्प्रदाय की बढ़ती हुई चाप को निस्तेज करना, शैव सम्प्रदाय की विकृत व्यवस्था को अन्त करना और वीरशैव धर्म दर्शन को नेपाल भूमि में प्रतिस्थापित करने का महत्त्वपूर्ण नेतृत्व जङ्गम मठ ने ही किया था।

कर्णाटक वंशीय राजा नान्यदेव ग्यारहवीं सदी में उत्तर भारत में राज्य विस्तार करके मिथिला प्रदेश का शासक हो गये। राजगुरु के रूप में वीरशैव धर्मावलम्बी जङ्गम साथ में थे। दो सौ चालीस साल मिथिला के राज्य सम्हालने के बाद नान्यदेव का वंश हरिसिंहदेव नेपाल मण्डल के राजा हो गये। नेपाल मण्डल की राजधानी भक्तपुर नगर में स्थापित किये और साथ में इष्टदेवी तुला भवानी का भी प्रतिष्ठापन करके जङ्गम गुरु का

साथ लेकर धर्म और संस्कृति के विकास में जुट गये। नेपाल मण्डल में जब मल्ल वंश की शुरुआत हुई, तबसे ही वीरशैव जङ्गम नेपाल में स्थायी रूप से ही स्थापित हो गये। इससे पूर्व वीरशैव परम्परा का स्थायी रूप से बसोवास नहीं था तो भी जङ्गम लिङ्ग की प्रकृति के मुताबिक नेपाल मण्डल में जाना आना और धर्म का प्रचार करना चल रहा था, जो हम अनुमान कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि नेपाल में वीरशैव धर्म-दर्शन का प्रचार-प्रसार प्राचीन काल से ही होते आ रहा है।

नेपाल की संस्कृति का विकास

प्राचीन नेपाल को 'नेपाल मण्डल' के नाम से पहचानते थे। उस नेपाल मण्डल की राजधानी भक्तपुर था। भक्तपुर राजकीय केन्द्र होने के कारण भक्तपुर नगर में जो धर्म और संस्कृति का विकास होता था, उसे पूरा काठमांडो उपत्यका में बसोवास करनेवाले अनुसरण करते थे। नगर में रहनेवाले नागरिक की जीवन-पद्धति ठीक ढङ्ग से चलाने के लिए धर्म संस्कृति और सभ्यता का विकास आवश्यक होता था, क्योंकि उस वख्त के लोक सभ्य और सुसंस्कृत नहीं थे। राजगुरु के रूप में स्थापित जङ्गम आचार्य का कर्तव्य था कि शैव मत के आधार पर संस्कृति और सभ्यता का विकास करना। यह जिम्मेदारी जङ्गम आचार्यों ने ली थी; क्योंकि उस समय बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण शैवधर्म और संस्कृति दब गयी थी। बुद्ध अनुयायी लोगों ने पशुपतिनाथ के मन्दिर के निकट एक बौद्ध बिहार स्थापित करके शिव मन्दिर की पूजा बन्द करके मन्दिर में ताला लगा दिये थे। इतना ही नहीं बौद्ध बिहार से निकली गन्दगी और जूठे पत्ते पशुपतिनाथ मन्दिर के प्राङ्गण में फेकते थे। इस तरह नेपाल मण्डल में बौद्ध धर्म का विकास और शैवधर्म का अवसान की अवस्था थी। उस वख्त वीरशैव मत के शिवभक्तों ने शिव की महिमा और शैव धर्म के महत्त्व के विषय में प्रचार किया, अपने धर्म विकास के लिए प्रयास किये और शैवमत लम्बे समय तक चलाने के लिए विशेष संस्कृति का विकास किया। इससे महत्त्वपूर्ण संस्कृति है 'विस्केट' नामक यात्रा जो आज तक चल रहा है।

विस्केट यात्रा

प्राचीन नेपाल में विक्रम संवत्, ईस्वी संवत् या शाके संवत् जैसे महत्त्वपूर्ण संवत् प्रचलन में नहीं थे। 'नेपाल संवत्' को राजकीय सम्मान मिला था और वही नेपाल संवत् चलता था। ऐसी स्थिति में शिवाचार्य धर्मगुरु ने एक विस्केट यात्रा की परिकल्पना करके विक्रम संवत् का अन्तिम दिन में लिङ्ग को उठाकर लोगों को दर्शन करवाना और दूसरे दिन वर्ष के आरम्भ के दिन समापन करना। इस तरह 'एक बार लिङ्ग का दर्शन करने से एक साल तक लिङ्ग दर्शन का फल मिलता है' जैसा सूत्र का प्रयोग कर के लोगों को एक ही जगह में हजारों लोग इकट्ठा करके एक शिव संस्कृति का विकास किया। शुरु

में यह यात्रा दो दिवसीय था, बाद में यह आठ दिवसीय हो गया और आज तक चल रहा है। करीब अस्सी फिट लम्बी लकड़ी को शिर भाग में शृंगार करके ५० फिट लम्बी दो शिवध्वजा के साथ लिङ्ग खड़ा करके लोगों का दर्शन कराने की विधि शैवमत प्रचार और विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य है। लिङ्ग में फहराई गई शिवध्वजा विश्व में सबसे लम्बी ध्वजा है। इस महत्त्वपूर्ण ध्वजा को गिनिज बुक आफ वर्ल्ड रेकार्ड में दर्ज कराने के लिए कुछ लोग क्रियाशील हैं। भविष्य में अगर वह दर्ज हो गयी, तो नेपाल के ही नहीं विश्व में रहनेवाले शिवभक्तों के गर्व से शिर ऊँचा हो जायेगा।

अन्य नृत्य और यात्रा

इसी तरह 'नवदुर्गा नृत्य' का प्रादुर्भाव करके एक नृत्य के माध्यम से शैवमत का प्रचार शुरु किया गया। यह नवदुर्गा नृत्य भी बहुत ही प्रसिद्ध और समाजप्रिय है। साल में आठ महीने तक चलनेवाला यह नृत्य नगर के बाहर दूर-दूर तक यह नृत्य प्रदर्शित करते हैं। इसका शृंगार और पहिरन कर्नाटक संस्कृति से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त गौ यात्रा, नन्दी युद्ध और भैरव की रथयात्रा जैसा महत्त्वपूर्ण संस्कृति के विकास करके शैव अनुयायी तैयार करने का प्रयास भी शिवाचार्य जङ्गम समय-समय में करते आ रहे हैं। इस तरह की शैव संस्कृति के विकास से बुद्ध मार्गी लोग भी शैव संस्कृति में घुलमिल कर शिवमय हो गये हैं। नेपाल के बौद्धमार्गी शिवमन्दिर जाते हैं और शैव संस्कृति स्वीकार करते हैं। इस नवीन संस्कृति का जन्म शिवाचार्य जङ्गम लोगों के अतुलनीय कार्य से हुआ है।

धर्मक्षेत्र का विकास

नेपाल पाशुपत क्षेत्र में चौसठ ज्योतिर्लिङ्ग अर्थात् चौसठ स्थान में शिव के विभिन्न नामों से शिवलिङ्ग स्थापित मन्दिर हैं। प्राचीन काल में शिवाचार्य के अधीन में प्राय बहुसंखक मन्दिर थे। आज भी यह चौसठ ज्योतिर्लिङ्ग में आठ मन्दिर को प्रत्यक्ष प्रशासनिक अधिकार जङ्गम मठ में है। मङ्गलेश्वर, अनन्तलिङ्गेश्वर, वागेश्वर, किलेश्वर, धनेश्वर, भालेश्वर, गौखुरेश्वर और इन्द्रेश्वर–इन आठ मन्दिर में से पाँच मन्दिर में जङ्गम जाति के अर्चक हैं और बाकी में ब्राह्मण अर्चक हैं। भारत के बारह ज्योतिर्लिङ्गों में उत्तराञ्चल का केदारनाथजी का शिरोभाग श्री डोलेश्वर महादेव मन्दिर भी जङ्गम मठ के अधीन है और इस मन्दिर का मूल अर्चक और एक सहायक अर्चक जङ्गम है और दो अर्चक ब्राह्मण हैं। यह पीठ केदारनाथ धाम के रूप में विकसित हो रहा है। सन् २०१३ जून १६ तारीख का प्राकृतिक प्रकोप से केदारनाथजी का क्षेत्र तहसनहस होने के बाद यह डोलेश्वर महादेव में केदारजी की पूजन-पद्धति के मुताविक त्रिकाल पूजा हो रही है। अभी यह तीर्थ विश्व प्रसिद्धि की ओर आगे बढ़ रहा है।

जङ्गम मठ में मूल देवता के रूप में श्री वीरभद्र महाराज जी हैं और शक्ति के रूप में भद्रकाली देवी जी हैं। इसके अतिरिक्त विश्वनाथजी, उमामहेश्वर, रुद्रेश्वर, नन्दी, नीलकण्ठ, पशुपति और कोटिलिङ्गेश्वर स्थित हैं। इह मठ के भीतर शिवालय है। उन सबमें नित्य नैमित्यिक पूजा होती है और सबके लिए दर्शनीय है। लेकिन भद्रकाली देवी का मन्दिर सबके लिए दर्शनीय नहीं है।

जङ्गम के प्रशासन और कार्य

जङ्गम मठ एक धार्मिक प्रशासकीय केन्द्र है। समाज की समस्याओं का समाधान करना सनातन से चला आ रहा है। शैवधर्म की रक्षा करना और शैव मन्दिरों में पूजा अर्चना का उचित व्यवस्था करना जङ्गम मठ का दायित्व है। नेपाल राज्य के वीरशैव धर्मदर्शन का धर्माधिकारी होने के कारण धार्मिक दायित्व निर्वाह करना भी इनका दायित्व है। पशुपतिनाथ के क्षेत्र में समय-समय में आनेवाली छोटी या बड़ी समस्याओं का निराकरण करना शैव क्षेत्र में होनेवाला अतिक्रमण को तरिके से नियन्त्रण में लेना और इनके संरक्षण के लिए योजना तैयार करके लागू करने का विधि-विधान का निर्माण करना जङ्गम मठ का ही दायित्व था। कालखण्ड में परिवर्तन होता रहता है। इसी क्रम में पन्द्रहवीं सदी में जब भारत के उत्तराञ्चल में प्राकृतिक प्रकोप हुआ। इस संकट की घड़ी में नेपालस्थित जङ्गम मठ ने ही श्री केदारनाथजी की पूजा अर्चना की व्यवस्था की थी। यह प्रमाण केदारनाथस्थित उखी मठ में सुरक्षित है।

शाखा मठ

जङ्गम मठ नेपाल के वीरशैव धर्मदर्शन का केन्द्र मठ है, इस मठ को रावल मठ भी कहते हैं। इसके छः शाखा मठ हैं।

१. वागेश्वरी मठ, २. अन्तर्लिङ्ग मठ, ३. डोलेश्वर मठ, ४. धनेश्वर मठ, ५. पनौती मठ, ६. धुलिखेल मठ। इस मन्दिर की पूजा अर्चना का प्रबन्ध शाखा मठ का जङ्गम अर्चक करते आ रहे हैं।

१. बागेश्वरी

भक्तपुर नगर के उत्तर तरफ रत्नाचूड पर्वत है। दक्षिण अभिमुख यह पर्वत नेपाल उपत्यका की अत्यन्त सुन्दर पर्वतमाला है। उस पर्वतमाला के बीच भाग में वागेश्वर नाम का शिव मन्दिर है। जहाँ त्रिवेणी घाट है और छोटा आकार का रमणीय शिव का कैलाश भी है। मन्दिर के परिसर में एक अविरल बहनेवाली जलधारा और एक सुन्दर छोटा सा तालाब भी है। मठ घर के अतिरिक्त एक छोटी सी धर्मशाला भी है। मन्दिर परिसर में छोटी-छोटी दर्जनों देव-देवियों के मन्दिर भी हैं। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान

अवस्था में यह सब देख तो सकते हैं, लेकिन मन्दिर, धर्मशाला और मठघर जीर्ण होने के कारण कोई भी भक्तजन मन्दिर की वर्तमान स्थिति देखकर दु:खी हो जाते हैं। एक ब्राह्मण परिवार मन्दिर का अर्चक के रूप में रखा गया है, जो नाममात्र पूजा अर्चना करता है।

२. अन्तर्लिङ्ग

यह स्थान भक्तपुर नगर से ८ कि.मि. दक्षिण तरफ अभिमुख सुन्दर वन-वाटिका है। यह क्षेत्र करीब ५०० एकड़ वनक्षेत्र के मध्य भाग में अनन्त लिङ्गेश्वर शिवालय है और मठघर भी मन्दिर परिसर में ही था। (प्राचीन काल का गृह नष्ट हो गया और उसकी जगह में एक सत्तल निर्मित है। अभी नहीं है। मन्दिर के पश्चिम तरफ पवित्र जल का मूल है। यह पवित्र जल की बड़ी ही महिमा है। दूर-दूर के राजेमहाराजे जल मँगाकर पिते थे, इसलिए कि वह जल स्वादिष्ट के साथ शक्तिवर्द्धक है। दक्षिण तरफ सुन्दर जल का तालाब है और मन्दिर के चारों ओर छोटे-छोटे देव और देवी के मन्दिर हैं। अप्राप्य जड़ीबूटी मिलने वाला यह स्थान प्राचीन काल में ऋषि आरण्ड्य के नाम से प्रसिद्ध था। जिस जगह पर ऋषि-मुनि सिद्धि प्राप्ति के लिए तपस्वी के रूप में रहते थे। कहावत है त्रेता युग में लक्ष्मणजी का स्वास्थ उपचार के लिए सञ्जीवंनी बूटी का पहाड़ यही से हनुमानजी लङ्का ले गये थे। आज भी वनवटिका में सञ्जीवनी बूटी मिलती है।

इस क्षेत्र का प्राचीन इतिहास और वर्तमान तथ्य का मूल्याङ्कन करके जङ्गम प्रतिष्ठान के संरक्षकत्व में 'नेपाल में वृन्दावन' नाम का कार्यक्रम सञ्चालित हो रहा है। इस समय इस क्षेत्र का सामुदायिक संगठन के माध्यम से विकास कार्य आगे बढ़ रहा है।

इस मन्दिर परिसर में लिच्छिवी वंशीय राजा नरेन्द्रदेव का एक शिलालेख है। जिसमें इस मन्दिर की प्राचीन अवस्था का विवरण मिलता है। यह आनन्दलिङ्गेश्वर का नाम प्राचीनकाल में लोकपाल स्वामी था और जङ्गम आचार्य को 'कुलपति' उल्लेख किया गया है।

३. डोलेश्वर

भक्तपुर नगर के आग्नेय कोण में अवस्थित डोलाशिखर पर्वतमाला की गोद में एक प्राचीन मन्दिर है, जिसका नाम स्थानीय पर्वत के नाम से ही 'डोलेश्वर' रहा है। इस स्वयम्भू लिङ्ग के आकार-प्रकार, ऊँचाई और चौड़ाई भारतस्थित उत्तराञ्चल के श्री केदारनाथजी के लिङ्ग से मिलता-जुलता है। इसलिए इस शिवलिङ्ग के केदारनाथजी का शिरोभाग कहते हैं। प्राचीन काल में हजारों एकड़ वनक्षेत्र था। जिसे आज भी देख सकते है। परन्तु लोगों के अतिक्रमण के कारण आज मन्दिरपरिसर में जमीन बहुत ही कम है। अभी बहुत मुस्किल से करीब दो एकड़ जमीन की व्यवस्था हो पायी है। अब उसी जमीन क्षेत्र में केदारनाथ धाम के रूप में गुरुयोजना बनाकर निर्माण आरम्भ हो गया है।

यह डोलेश्वर महादेव का सम्बन्ध द्वापर युग के अन्त और कलियुग के शुरु का काल है अर्थात् आज से पाँच हजार साल पूर्व जब महाभारत का युद्ध समाप्त करके पञ्च पाण्डव स्वर्ग की ओर जा रहे थे। केदारजी के दर्शन करके ही स्वर्ग जाने की तैयारी में पाण्डव केदारनाथजी के दर्शन के लिए गये। केदारनाथ जी को पता चल गया कि पाण्डव दर्शन के लिए आ रहे हैं। तब केदारनाथजी ने स्वजन हत्या करके आए हुए पाण्डवों को दर्शन नहीं देने का निर्णय लेकर भैंसा का रूप धारण करके वनविचरण में चले गये। ध्यान दृष्टि से पाण्डवों को भी पता चला केदारनाथजी भैंसा का रूप धारण करके वन विचरण में हैं। भैंसा रूपी केदारजी का दर्शन करने के लिए पाँचों पाण्डव उनके पीछे पड़ गये। भैंसा को पहचानने के बाद भीमसेन के हाथ में पूँछ थी। उसी बख्त भैंसा रूपी केदारनाथजी ने अपने सरको पृथ्वी में धसके धड़ और पूँछ को अलग कर दिया। खिचती हुयी पूँछ लेकर भीमसेन पलट गये, धड़ वहीं रह गया और सर पृथ्वी में अलग हो गया। इस अनर्थ स्थिति को देखकर पाण्डव सब घबड़ा गये और शिव की भक्ति में लग गये। उनकी भक्ति देखकर आकाशवाणी हुई 'अगर तुम लोग दर्शन करना चाहते हो, तो नेपाल में चले जाओ, वहाँ मेरा शिर स्थित हो गया है।' यह कथन पुराणों में, महाभारत के स्वर्ग पर्व में और शिवपुराण के कोटिरुद्र सहिता १९ अध्याय में वर्णित है। पाण्डवों का अवसान उसी नेपाल भूमि में हुआ, इसीलिए पुराणों में वर्णित स्वर्गभूमि नेपाल ही है।

सन् २०१३ जून १६ में आई हुयी भीषण बाढ़ के बाद डोलेश्वर महादेव केदारनाथ धाम के रूप में परिवर्तित हो गया है। बारह ज्योतिर्लिङ्ग में हिमालय स्थित केदारनाथजी शिर लिङ्ग है और उनका भी शिरलिङ्ग डोलेश्वर महादेव होने के कारण इनकी ख्याति दिन पर दिन बढ़ती जा रही है।

४. धनेश्वर

भक्तपुर नगर से पूरब तरफ करीब २० कि.मी. की दूरी में बनेपा नगर है, वहाँ से ३ कि.मी. दक्षिण तरफ पूर्व अभिमुख पहाड़ की गोदी में धनेश्वर महादेव का मन्दिर है। इस मन्दिर में जो लिङ्ग है, वह अनुपम स्वयम्भू लिङ्ग है। इनके माथे में कोप है। इस मन्दिर में केवल जङ्गम लोगों का प्रवेश है और अर्चक भी जङ्गम हैं। इस मन्दिर में पौष शुक्ल पूर्णिमा की रात में बहुत ही बड़ा मेला लगता है। धन और सन्तान के दाता के रूप में परिचित इस धनेश्वर महादेव की ख्याति दूर-दूर तक है।

५. पनौती

पनौती एक नगर का नाम है। भक्तपुर से करीब २७ कि.मी. दूरी में अवस्थित प्राचीन नगर पनौती के पूरब तरफ मकर त्रिवेणी है। इस त्रिवेणी की भूमि में इन्द्रेश्वर महादेव का मन्दिर है। बहुत बड़े परिसर के मध्य भाग में तीन मञ्जिल का काष्ठकलायुक्त मन्दिर है।

इस इन्द्रेश्वर महादेव के दक्षिण तरफ उन्मत्त भैरव हैं और पश्चिम तरफ करीब १५ फिट लम्बा नारायण की मूर्ति है। मन्दिर परिसर में और भी मन्दिर के साथ छोटे-बड़े पत्थर की देवमूर्तियाँ हैं। विश्वसम्पदा में सूचीकृत इस इन्द्रेश्वर मन्दिर की काष्ठकला एशिया महाद्वीप में उत्कृष्ट है। इस मन्दिर की जीर्ण अवस्था देखकर फ्रान्स सरकार के सहयोग से सन् १९९३ में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ है। यह मन्दिर उच्चकोटि का कलायुक्त मन्दिर है, जो दर्शनीय है।

इस जगह में बारह साल में एक बार मकर मेला लगता है। एक मास लगने वाले इस मकर मेला में लाखों यात्री त्रिवेणी स्नान करके इन्द्रेश्वर महादेव का दर्शन करके धन्य हो जाते हैं। इस नगर में हर साल जेष्ठ पूर्णिमा के दिन इन्द्रेश्वर, भैरव और भद्रकाली की रथ यात्रा होती है। इन्द्रेश्वर के रथ में प्रमुख अर्चक को स्वयं शिव के रूप में बैठाकर यात्रा चलाने की परम्परा आज तक प्रचलन में है। इस मन्दिर के गर्भगृह में जङ्गम के अलावा अन्य का प्रवेश निषेध है।

६. धुलिखेल

भक्तपुर नगर से करीब २८ कि.मी. पूरब के तरफ धुलिखेल नाम का प्राचीन नगर है। उस नगर से भी पूरब तरफ गोखुरेश्वर महादेव हैं। करीब सौ एकड़ वनक्षेत्र के मध्यभाग में गोखुरेश्वर मन्दिर अवस्थित हैं। मन्दिर के चारों ओर जङ्गमों का वसोवास है। इस मन्दिर का शिवलिङ्ग भी स्वयम्भूलिङ्ग है। गाय की खुर के आकार का लिङ्ग होने के कारण इस शिवलिङ्ग को गोखुरेश्वर कहा गया है। उत्तराभिमुख पर्वत के उच्च भाग में अवस्थित धुलिखेल नगर प्राकृतिक वातवरणीय दृष्टि से बहुत ही अच्छा और सुन्दर जगह है। इस जगह से पूरब पश्चिम तरफ फैली हुई हिमालय शृंखला के ५० कि.मी. तक दृश्य अवलोकन कर सकते हैं। स्वच्छ और शीतल हिमालय की हवा और पर्वतीय हरियाली मौसम घुलमिल कर तैयार होनेवाला वातावरण ने हृदय को स्पर्श ही नहीं, मन को भी चञ्चल बना देता है। इस देवशक्ति प्राप्त वातावरण में ही स्वर्गीय आनन्द प्राप्त हो सकता है। इस देवभूमि में परिवार संख्या की दृष्टि से अन्य जगह से ज्यादा जङ्गम जाति का वसोवास है।

केन्द्रीय मठ

जङ्गम मत ही सभी शाखा मठों का केन्द्र है। केन्द्रीय मठ में रहनेवाले शिवाचार्य मठाधीश के सम्बोधन में काल और परिस्थिति के कारण परिवर्तित होते आया है। कुलपति, मठाधिपति, रावल तथा महन्त के नाम से मठाधीश का नाम परिवर्तन होते आया है। कर्णाटक वंशीय राजा नान्यदेव के गुरु के रूप में भारत में प्रवेश करके नेपाल भूभाग में शिवाचार्य जङ्गम सन् तेरहवीं सदी में आकर स्थापित हो गये हैं। तब से ही यह भक्तपुर स्थित मठ जङ्गम के अधीन चल रहा है।

आर्थिक अवस्था

प्राचीन काल से स्थापित इस मठ का आर्थिक पक्ष सबल बनाने के लिए पूर्वजों ने जमीन का महत्त्व देते हुए आवश्यक जमीन रखी थी। करीब सौ एकड़ उर्बर भूमि मठ की थी और उस जमीन से जो आमदानी थी, उससे मठ का सब दायित्व पूरा होता था। आज से करीब २५ साल पहले नेपाल सरकार ने गुठी एक्ट बनाकर मठ की जमीन पर किसानों का अधिकार स्थापित कर दिया। वर्तमान में जमीन की आय बन्द है। एक वैभवशाली मठ आज आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत ही गरीब हो गया है। इसतरह आर्थिक दूरवस्था के कारण मठ अधीनस्थ प्रायः सभी शिवालय को स्थानीय समुदाय को सौंपने की योजना बन रही है। स्थानीय समुदाय के अधीन में मन्दिर जाने के बाद अर्चक जङ्गम नहीं रहेंगे, यह बहुत ही दु:ख की बात है। इस मन्दिर का हस्तान्तरण कार्य दु:खपूर्वक हो रहा है, यह हमारी विवशता है।

प्राचीन भवन की अवस्था

भक्तपुर तौमढीस्थित रावल मठ का भवन नेपाल में सबसे पुराना है। इसका निर्माण तेरहवीं सदी से पहले हुआ है, जो शिलालेख में वर्णित है। इस प्राचीन सम्पदा का संरक्षण करना राज्य का दायित्व है, परन्तु धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के कारण किसी भी धर्म का संरक्षण नहीं करना उनकी नीति है। इसलिए नेपाल सरकार इस मठ का जीर्णोद्धार करना नहीं चाहती है। हम जङ्गमसमुदाय के सदस्य भी आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं। मानवीय आवश्यकता बहुत मुश्किल से परिपूर्ति कर पाते हैं। हमारे प्राचीन धरोहर के रूप में स्थापित नेपाल के रावल मठ का जीर्णोद्धार नेपाल में रहनेवाले जङ्गमों के काबु से बाहर है। हम कुछ नहीं कर सकते। हमारी सरकार कुछ नहीं करती है। हम दु:ख के साथ कहते हैं। देखते-देखते वीरशैव धर्मदर्शन का केन्द्र भक्तपुरस्थित रावल मठ के प्राचीन भवन नष्ट होता जा रहा है। इस स्थिति में वीरशैव धर्मदर्शन विकास में जुटे हुए हम सबका सर झुकता ही नहीं, हम सब मृत्युतुल्य हो जाते हैं।

जातीय परम्परा

वीरशैव मत के जङ्गम में दो समूह दिखाई देता है। एक समूह केन्द्रीय मठ से सम्बन्घित और दूसरा शाखा मठ से सम्बन्धित है। नेपाल के जङ्गम सब गृहस्थ हैं। इन दो समुदायों के बीच शादी-विवाह हो रहा है। इसके अलावा नेपाल के स्थानीय ब्राह्मण, क्षत्रीय और शंकराचार्य सम्प्रदाय के दशनामी वर्ग से भी पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित है। ब्राह्मण, क्षत्रीय या दशनामी जाति से नीच जाति से विवाह हो गया तो नारी हो या पुरुष जङ्गम वहीं नीचली जाति में परिवर्तित हो जाते हैं यह परम्परा युगों से चली आयी है। ऐसी परिवर्तित संख्या उतनी ही है, जितनी वर्तमान में जङ्गम अस्तित्व में हैं।

आज से तीस साल पहले तक सिद्धान्तशिखामणि के विधिविधान मुताविक लिङ्ग धारणपद्धति चलती थी। इस पद्धति से लिङ्ग धारण करने वाले सब जङ्गम लोग जनेउ को ही शिवसूत्र मान कर लिङ्ग धारण करते आ रहे हैं और नेपाल के जङ्गम के शिखा-सूत्र के साथ लिङ्ग रखने की परम्परा है। परन्तु वर्तमान में चूड़ाकर्म की विधि मुताविक जनेउ के साथ लिङ्ग धारण करते हैं। यह पद्धति परिवर्तन का कारण है स्थानीय समाज की संस्कृति को स्वीकार करना। जिस समाज में आदमी रहता है, उसी समाज को अपने अनुकूल बनाता है या उसी समाज की मूलमान्यता में घुलमिल जाता है। यह प्राकृतिक नियम है। उदाहरण के लिए हमारे पूर्वजों ने अपने सिद्धान्त के मुताविक पूरे समाज को शिवमय बना दिया था। परन्तु आज हमारी बाहों में वह शक्ति नहीं है। वर्तमान में हम अशिक्षित हैं, गरीब हैं, असहाय हैं और दबे हुये हैं। हमारे अन्तर दर्द को समझने वाला कोई नहीं है इस समय में। इस मुश्किल की स्थिति में भी हम अपने वीरशैव धर्मदर्शन का अस्तित्व से च्युत नहीं हैं। नेपाल में हम अल्पसंख्या में हैं, अल्प जाति में हैं और अल्प मत में हैं, तो भी वीरशैव धर्मदर्शन का पहचान स्थापित कर रखे हैं।

बसोबास क्षेत्र

प्राचीन समय से जङ्गम का मूल बसोबास क्षेत्र भक्तपुर नगर ही है, जहाँ वर्तमान में जङ्गम मठ है। शिवक्षेत्र विस्तार के क्रम में यह जाति नगर से बाहर भी चली गयी। इस क्रम में जहाँ-जहाँ शिवालय का सञ्चालन का अधिकार प्राप्त हुआ, वहाँ-वहाँ इस जाति का बसोबास बढ़ते गया। भक्तपुर नगर, अन्तर्लिङ्ग, सिपाडोल, धनेश्वर, पनौती और धुलिखेल, इस छः क्षेत्रों में जङ्गम जाति का वसोवास है। भालेश्वर, पनौती और सिपाडोल में वसोवास करनेवाले परिवार निःसन्तान होने के कारण अन्तर्लिङ्ग और धनेश्वर से सम्बन्धित परिवार को अर्चक के रूप में स्थान-परिवर्तन कर दिये थे। आज के तथ्याङ्क के मुताविक जङ्गम जाति की संख्या नीचे तालिका बना कर स्पष्ट करते हैं।

जनसंख्या

क्रम संख्या	स्थान	परिवार	२० से ४० साल तक का युवा (अविवाहित महिला सहित)	४० से अधिक उम्र का जिम्मेवार (अविवाहित महिला सहित)	युवा तथा बुजुर्ग मिला कर कुल संख्या
१	भक्तपुर	५	९	११	२०
२	अन्तर्लिङ्ग	८	१२	८	२०
३	डोलेश्वर	१	२	२	४
४	धनेश्वर	१३	१८	१६	२४

५	पनौती	३	४	४	८
६	धुलिखेल	१६	२४	१२	३६
कुल परिवार संख्या		४६	२० साल नीचे का और महिला छोड़ कर कुल संख्या		१२२

ऊपर दी गई तालिका से स्पष्ट होता है कि जङ्गम जाति की संख्या अल्प है। युवा और युवती का १५ से २५ साल की उम्र में शादी होती है। परिवार नियोजन का नेपाल सरकार की नीति और जाति की गरीबी के कारण से भी जन्मदर कम हो गयी है। दूसरी तरफ पौष्टिक आहार न मिलने के कारण अस्वस्थ होना और अल्प आयु में ही मृत्यु होना भी इस जाति की बढ़ोत्तरी के लिए अभिशाप है।

आर्थिक अवस्था

इस जाति का मूल धर्म शिव उपासना है। इसलिए इस जाति के परिवार के सदस्य व्यवसायिक व्यापारी और उद्योगी नहीं हैं। सरकारी नौकरी में भी बहुत ही कम लोग संलग्न हैं, वह भी नीचले पद में। इसका अर्थ यह है कि यह जाति आर्थिक रूप से अत्यन्त कमजोर है। कई परिवार तो जीवन रक्षा के लिए आवश्यक आधारभूत आवश्यकता भी पूरी नहीं कर पाते हैं। आचारयुक्त जीवन चलाने वाले इस जाति का मूल कार्य पूजा अर्चना और कृषि पेशा है। इसलिए आर्थिक अवस्था कमजोर होना स्वाभाविक है।

शिक्षा

प्राचीन काल में श्रुति-शिक्षा से लोग विद्वान् होते थे। कालक्रम से यह श्रुतिपद्धति समाप्त हो गयी। आधुनिक शिक्षा विकास में संस्कृतशिक्षा को नेपाल सरकार द्वारा उपेक्षा करने के कारण नेपाल में संस्कृतशिक्षा का विकास प्राय: रुक गया। लोग अंग्रेजी और व्यावसायिक शिक्षा में लग गये। इस प्रभाव से जङ्गम जाति भी प्रभावित होती गयी। परिणामस्वरूप अपनी परम्परा से भी विमुख हो गयी और आधुनिकता को भी पकड़ नहीं पायी। अर्थात् असली शिक्षा ग्रहण करना इस जाति के लिए मुश्किल हो गया। शत प्रतिशत साक्षर इस जाति के माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण ४५ हैं और स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण संख्या १४ है, कुल मिला कर शिक्षित संख्या ५९ है, जो जनसंख्या के आधार पर करीब ५० प्रतिशत शिक्षित हैं।

मठ और मठाधीश

वर्तमान अवस्था में जङ्गम मठ के मठाधीश को 'महन्त' कहते हैं। अभी जङ्गम मठ में राममणि जङ्गम महन्त हैं। पच्चीस साल पहले तक जमीन की आमदनी से मठ चलता था। केन्द्रीय मठ का दायित्व केवल केन्द्रीय मठ चलाना नहीं, मठ के अन्तर्गत शाखा मठ और वहाँ के मन्दिर का प्रशासन भी सम्हालना पड़ता है। आर्थिक कठिनाई के कारण

राममणि जङ्गम ने शाखा मठों को सहयोग करना बन्द कर दिया। शाखा मठ से सम्बन्धित सभी जङ्गम उनसे चिढ़ गये। केन्द्रीय मठ का आदेश या निर्देशन को शाखा मठ के लोग अवज्ञा करने लगे। भक्तपुर स्थित जङ्गम मठ नाम मात्र का मठ रह गया। इस अवस्था में जङ्गम प्रतिष्ठान का जन्म होना जरुरी था; क्योंकि इस प्रजातान्त्रिक वातावरण में प्रजातन्त्रिक तरीके से ही समुदाय का विकास संभव है।

नेपाल सरकार की 'गुठी अथोरिटी' ने महन्त राममणि को कुछ प्रलोभन देकर अनेकानेक पेपर तैयार करवा लिया और पीछे उनके ही खिलाफ मुकदमा दायर करके उनका अधिकार समाप्त कर दिया। महन्त राममणि ने १९७७ से आज तक छत्तीस साल मठाधीश के रूप में काम करते बख्त समय-समय में लिखा हुआ पेपर ही उनके खिलाफ का प्रमाण तैयार हुआ। इन समस्याओं को जङ्गम प्रतिष्ठान टेकओभर करके स्थिति को सम्हालने की कोशिश कर रहा है।

जङ्गम प्रतिष्ठान की स्थापना

जङ्गम मठ की कमजोर और गिरती हुई अवस्था को सबल करने के लिए नेपाल में बसोबास करने वाले सभी जङ्गमों को सहकारी बनाने के लिए और संस्कृति धर्म में एकरूपता कायम करने के लिए आज से बारह साल पहले जङ्गम प्रतिष्ठान का जन्म हुआ है। लेकिन जिस उद्देश्य के साथ प्रतिष्ठान की स्थापना हुई, उस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर पाया। प्रतिष्ठान सञ्चालन के लिए जङ्गमों से प्रतिमास लेवी लेने का प्रावधान था और जङ्गम मठ से भी कुछ रकम सहयोग स्वरूप देने की वचनबद्धता थी। आर्थिक स्रोत का यह दोनों रास्ता बन्द होने के बाद प्रतिष्ठान की क्रियाशीलता में शिथिलता आ गयी। दूसरी तरफ केन्द्र मठ के व्यवहार के कारण शाखा मठ के लोग चिढ़ गये। आपस में मेलमिलाप और सहयोग के आदान-प्रदान में कमी आने के कारण जङ्गम प्रतिष्ठान नाममात्र का रह गया। इस विकट परिस्थिति में भी जङ्गम प्रतिष्ठान अपना कर्तव्य निभाता गया। इस क्रम में जङ्गम मठ की सम्पदा रक्षा करने के लिए और अपने सम्प्रदाय के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए जिला कोर्ट, अपील कोर्ट और सुप्रिम कोर्ट में मुकदमा दायर करके केस को आगे बढ़ा रहा है। नेपाल सरकार एक 'गुठी अथोरिटी' स्थापित कर के सभी धार्मिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप करवाकर धार्मिक क्षेत्र को खुले आम दुःख दे रही है। इस बख्त मठाधीश राममणि जङ्गम के सब अधिकार प्रतिष्ठान ने लेकर जङ्गम मठ के तरफ से सरकार के अथोरिटी से नैगोसेसन कर रहा है। इन सब पीड़ा में प्रतिष्ठान फँसा हुआ है।

यह दुःखपूर्ण विवरण इसलिए उल्लेख किया गया कि यह ही हकिकत है। सत्य और तथ्य को छिपा कर हम आगे नहीं बढ़ सकते। हमारी कमजोरी, समुदाय की स्थिति और धर्म संस्कृति की अवस्था, स्पष्ट करना हमारा कर्तव्य है। हकिकत के बुनियाद पर ही भविष्य की योजना बनायी जा सकती है।

जङ्गम मठ से सम्बन्ध

इस जङ्गम मठ से पञ्चाचार्य पीठ का निकट का सम्बन्ध काशीस्थित विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन पीठ से है। नेपाल में तो कोई ऐसा प्रमाण नहीं, जो नेपाल के जङ्गम मठ काशी जङ्गमवाड़ी का शाखामठ है। लेकिन पण्डित कृष्णानाथ शास्त्री के वचनमाला जो मौसुर पञ्चाचार्य इलेक्ट्रिक प्रेस से सन् १९३१ में छपे हुए ग्रन्थ में नेपाल के राजा विश्वमल्ल के शिलालेख का उल्लेख करते बख्त शाखा मठ की चर्चा की है। भौगोलिक दृष्टि से काशी नजदीक है। इसलिए भी काशी जङ्गमवाड़ी मठ से सांस्कृतिक, सामाजिक और व्यावहारिक रूप से नेपाल का जङ्गम मठ का सम्बन्ध निकट है।

ऐसे ही उत्तराञ्चल के उखी मठ से ऐतिहासिक और धार्मिक सम्बन्ध है। केदारनाथजी का शिरोभाग डोलेश्वर महादेव होने के कारण ही नहीं, उखी मठ और नेपाल के जङ्गम मठ को 'रावल मठ' कहते हैं। दोनों मठों का सम्बन्ध केदारनाथजी से है, एक का धड़ से है और दूसरे का शिर से है। पन्द्रहवीं सदी में केदारनाथजी का प्रशासन नेपाल के जङ्गम मठ से हुआ था। इसके अतिरिक्त नाम के पीछे 'लिङ्ग' रखने की परम्परा भी है। उदाहरण के लिए नेपाल के मठाधीश का नाम क्रमशः मल्लिकार्जुन लिङ्ग, सदाशिव लिङ्ग, डम्बर लिङ्ग, भुवन लिङ्ग और नीलकण्ठ लिङ्ग है। यह उल्लिखित नाम नेपाल के जङ्गम मठ में सन् १५७२ से लेकर सन् १९४३ तक का मठाधीपति का नाम है।

नेपाल का जङ्गम मठ काशी पीठ का शाखामठ है, यह हम मानते है, लेकिन नाम से ही शाखामठ प्रमाणित नहीं हो सकता। तालुक मठ का कर्तव्य है शाखामठ की देखभाल, निर्देशन, नियन्त्रण के साथ मठ के विकास कार्य में जुटना। काशी मठ से नेपाल का जङ्गम मठ प्राचीन काल से ही परिचित थे, आनाजाना था और कोई भी धार्मिक निर्णय के लिए आपस में समझदारी भी थी, परन्तु शाखा मठ के रूप में नियन्त्रित निर्देशित नहीं था। नेपाल के जङ्गम मठ प्राचीन काल से ही स्वतन्त्र, स्वायत्त और स्वनियन्त्रित था और है।

पूजनीय शिवाचार्य महास्वामी डॉ. चन्द्रशेखरजी महाराज के काशी ज्ञानसिंहासनारुढ़ होने के बाद नेपाल के जङ्गम मठ को वात्सल्य मिला है। हरबख्त उनकी चिन्ता रही है कि नेपाल के जङ्गम मठ का कैसे विकास करें और वीरशैव धर्मदर्शन को नेपाल में कैसे स्थायित्व प्रदान करें। यह चिन्ता की उपज ही है सिद्धान्तशिखामणि जैसे वीरशैव धर्मदर्शन के मूल ग्रन्थ का नेपाली भाषा में प्रकाशन। नेपाल और नेपाली के लिए यह गर्व का विषय है।

प्रमाण संशोधन के लिए अपील

कोई भी इतिहास के व्याख्याता को काल का भरपूर ज्ञान होना चाहिये। मानव

संस्कृति के विकास का इतिहास अध्ययन करने के लिए इतिहास के अनुसन्धाता या विश्लेषक को काल का निश्चित प्रयोग करना चाहिए। इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज रखना ही इतिहास स्थापित करना है। इसी सन्दर्भ में मैसूर पञ्चाचार्य इलेक्ट्रिक प्रेस से सन् १९३१ में प्रकाशित पण्डित कृष्णनाथ शास्त्री का वचन ग्रन्थमाला १२ में नेपाल संवत् को विक्रम संवत् उल्लेख किया गया है। नेपाल संवत् और इस्वी संवत् में ८८० साल का फरक है। ऐसे ही नेपाल संवत् और विक्रम संवत् में ९३७ साल का फरक है। ग्रन्थ में भक्तपुर के राजा विश्वमल्ल, उनकी पत्नी गंगा महारानी और पुत्रद्वय त्रिभुवन और त्रैलोक्य का उल्लेख किया गया है। विश्वमल्ल का वह समय सन् १५७२ है अर्थात् विक्रम संवत् १६२९ होता है। विक्रम का १६२९ में स्थापित शिलालेख को विक्रम संवत् ६९२ उल्लेख होने से करीब एक हजार साल का फरक हुआ। जिसका प्रमाण जङ्गमवाड़ी मठ वाराणसी में भी है, उस प्रमाण को संशोधन करना जरुरी है। पण्डित कृष्णनाथ शास्त्रीजी वीरशैव धर्मदर्शन के व्याख्याता हैं, परन्तु उनकी छोटी सी गलती के कारण इतिहास को गुमराह नहीं करना चाहिए। हम विनम्र अनुरोध करते हैं कि सामान्य गलती का संशोधन किया जाय, यह हमारी अपील है।

विश्वमानव समुदाय में शैव-धर्म-दर्शन का स्थायित्व प्रदान करने के लिए शिवस्वरूप पञ्चाचार्यों से वीरशैव धर्मदर्शन का आविर्भाव हुआ था। यह वीरशैव धर्म-दर्शन भारत के अलावा विश्व के अनेक देशों में फैल गया। इसी क्रम में नेपाल में भी प्राचीन काल से ही यह वीरशैव धर्मदर्शन का प्रारम्भ होकर आज तक चला आ रहा है। नवीं सदी से ही नेपाल में इस धर्मदर्शन का प्रभाव था और तेरहवीं सदी से तो स्थायी रूप से ही मठ की स्थापना हुई है, जो हमारे पास प्रमाण है। आज से सात सौ साल पहले स्थापित मठ आज तक उसी नीति और विधि के मुताविक चलना आश्चर्य की बात है। अब हमें यह वीरशैव धर्म के धरोहर को कैसे जीवित स्थिति में रखना है, यह हम सबकी चिन्ता का विषय है। शैव सम्प्रदाय के विभिन्न मत जैसे पाशुपत, घण्टाकर्ण और कापालिक मत के विकृत रूप, वैष्णव सम्प्रदाय का अतिक्रमण और बौद्ध सम्प्रदाय के दबाव के बीच दक्षिण भारत में पैदा हुए यह शैवदर्शन हिमालय के केदार क्षेत्र और पाशुपत क्षेत्र तक पहुँच कर शिव क्षेत्र को ही धन्य बना दिया है। अब हमें इस शैवदर्शन को पावन भूमि नेपाल में स्थायित्व प्रदान करने के लिए विशेष योजना बनानी है और इस शैवदर्शन को नेपाल में विकास करना है। इसके लिए हम पाँचों पञ्चाचार्यों एवं शिवाचार्यों को नमन करते हुए याचना करते हैं कि नेपाल जैसी पवित्र पावनभूमि, स्वर्गभूमि और पवित्र शैवभूमि में वीरशैव धर्मदर्शन के विकास, विस्तार और स्थायित्व प्रदान करने के लिए सहयोग का हाथ आगे बढ़ायें। नेपाल के जङ्गम मठ के संरक्षण के लिए आप सबके सहयोग की अपेक्षा करके हम अपने सर को झुकाते हुए हाथ फैलाते हैं।

यह हमारा दायित्व है कि हम जीवित अवस्था में ही अपने धर्म की रक्षा नहीं कर पाये, तो हमारा जीवन व्यर्थ है, हम मृत्यु वरण कर सकते हैं। यह शाश्वत सत्य है कि धर्म की रक्षा से ही हम अपनी रक्षा कर सकते हैं।

धर्मो रक्षति रक्षितः

ॐ शिवाय भूयात्

✶

अनूदितं मौलिकं च वीरशैवसाहित्यं मलयालभाषायाम्

डॉ. एम्. वी. नटेशः, सहाचार्यः
श्रीशङ्कराचार्यसंस्कृतविश्वविद्यालयः, कालटी

ईश्वरस्य स्वकीयभूमिरिति सुविख्यातं केरलराज्यं भारतस्य दक्षिणकोणे विराजते। केरळोत्पत्तिनामकप्राचीनग्रन्थविवरणानुसारं गोकर्णात् कन्याकुमारीं यावत् केरलभूमिं सृष्ट्वा परशुरामः राज्यरक्षायै १०८ शिवमन्दिराणि प्रतिष्ठापयामास। सदाशिवसमारब्धगुरुपरम्परायां मध्यगुरूणां श्रीशङ्करभगवत्पादानां चरणकमलस्पर्शेन अनुगृहीता इयं भूमिः।

"अन्तः शाक्ताः बहिः शैवा सभामध्ये तु वैष्णवाः" इति तान्त्रिकवचने केरलीयजनजीवनस्य सामान्यस्वभावं स्फुरति। शैववैष्णवशाक्तेयसमन्वयसंस्कृतिः आचारे विचारे अनुष्ठाने च अनुसरन्तीत्यस्य उदाहरणरूपेण परिलसन्ति अत्र विद्यमानानि शङ्करनारायण, अय्यप्पमन्दिराणि।

अनायासेन मरणं विना दैन्येन जीवनम्।
देहि मे कृपया शम्भो त्वयि भक्तिरचञ्चला।
इत्येषा प्रार्थना तथा
शिवशम्भो शम्भो शिवशम्भो
एळुप्पमायुल्लपडिये चिन्तिच्चाल्
इडक्किडेयारु पडियुण्डे पडियारुम्
कडन्नविडे चेल्लुम्बो शिवनेक्काणाकुं शिवशम्भो।

इति शिवेऽद्वैतपरामर्शकसन्ध्यानामप्रार्थनां च इतरदेवीदेवभक्ताः अपि भक्तिपूर्वकं पठन्ति। काशिरामेश्वरं तीर्थयात्रासङ्कल्पः, वररुचेः (परच्चि) द्वादशकुलानां कथा, श्रावणोत्सवः इत्येतादृशानि कार्याणि पूर्वोक्तसमन्वयसंस्कृत्याः निदर्शनानि सन्ति। तमिलसंस्कृतभाषयोः पोषणेन संवर्धिता श्रेष्ठभाषापदेन विभूषिता मलयालभाषा अत्रस्थजनानां सांस्कृतिक-साहित्यिक-दार्शनिकव्यवहाराणां मुख्यमाध्यमं भवति। संस्कृताङ्ग्लादिभाषासु अपि केरलीयानां सर्गसाहित्यरचनां पश्यामः। वीरशैवसाहित्यं मलयालभाषायाः प्राचीनमध्यकाल-वाङ्मये कुत्रापि न दृश्यते। उण्णूर-परमेश्वर-अय्यरमहाभागेन रचिते केरलसाहित्यचरित्रे, वडक्कंकूर-राजराजवर्मणा लिखिते केरलसंस्कृतसाहित्यचरित्रे च अस्य शब्दस्य परामर्शः नास्ति। आधुनिकमलयाले विशिष्य विंशतिशतकस्य पूर्वार्धदेव वीरशैवसाहित्यस्य केचन ग्रन्थाः आविर्भूताः। श्रीशङ्कराचार्याणां श्रीनारायणगुरुदेवानां च शैवकृतयः तेषां मलयालानुवादाः व्याख्यानानि पठनानि च शिवाद्वैतविषयपरिचर्चिताः एव। एवमेव शिवपुराणानि, शैवोपनिषदः शैवतान्त्रिकग्रन्थाः शैवागमग्रन्थाः तेषां पठनानि च मलयालभाषायां विद्यन्ते। प्राचीन-मणिप्रवालसाहित्यस्य रूपकल्पना शैवोपासकैः कृता।

मलयालभाषाया: साहित्यिकसर्गयात्रा अनुदितसाहित्येन सह आरब्धा । भारतीयभाषासु चाणक्यस्य अर्थशास्त्रस्य प्रथमगद्यानुवाद: भाषाकौटलीयं (AD12) मलयाले जात: । माधवपणिक्करमहाशयस्य भाषाभगवद्गीता प्रथमपद्यानुवाद: (AD14), कण्णशकवय: इति प्रथितानां रामायण-भारत-भागवतादीनाम् अनुवाद: (AD14), मलयालभाषाया: पिता इत्यपरनामधेयेन विश्रुतस्य रामानुजन् एष्तच्चन् (AD16) महाभागस्य अध्यात्मरामायणानुवाद: एवं मलयालानुवादसाहित्यवाङ्मये न केवलं वीरशैवसाहित्यम्, अपि तु शैवसाहित्यमेव न दृश्यते । शैवसाहित्यानाम् आकर: भवति तमिलभाषा, मलयालस्य अनया भाषया सह सम्बन्ध: मातृपुत्रीवदस्ति । वीरशैवधर्मप्रचारस्य प्रभवकेन्द्रमिति प्रसिद्धं कर्णाटकराज्यं केरलस्य समीपे तिष्ठति । उत्तरकेरलस्य (पुरातनतुलुराज्यं-गोकर्णात् चन्द्रगिरि-नदीपर्यन्तम्) कन्नड़भाषया संस्कृत्या च सह सम्बन्ध: सुविदित: । केरले प्रसिद्धानि अप्रसिद्धानि शिवमन्दिराणि बहूनि सन्ति । राज्यशासकेषु बहव: शैवभक्ता: आसन् । किन्तु मलयाले शैवसाहित्यं दुर्लभमित्येतद् दुरूहविस्मयं कार्यम् ।

शैवाराधना केरले प्राचीनकालादेव प्रचलिता इति सप्रमाणम् इतिहासकारा: अभिप्रयन्ति । 'माडन्' इति आदिमगोत्रवर्गजनानाम् आराधनामूर्ति: महानट: (नटराजा) इत्यस्य ग्राम्यरूप एव इति डा. स्लेटर अभिप्रेति । (The Dravidian elements in Indian culture), क्रिस्तो: पश्चात् (AD 4) चतुर्थशतकस्य अन्ते तिरुविक्रमन् नाम राजा शैवमतं स्वीकरोति स्म । तथा चङ्केणन् नाम चोलराजा षष्ट्यधिकानि शिवमन्दिराणि निर्मितवान् ।-(C.V. Narayana Ayyer–Origin and early HIstory of Saivisam in South India) । श्रीशङ्कराचार्यस्य जननं तथा तृशिवपुरं वड्क्कुन्नाथन् मन्दिरेण सह सम्बन्ध: । श्रीशङ्कराचार्यस्य शिवानन्दलहरी, शिवपञ्चाक्षरीस्तोत्रं, कालभैरवाष्टकम् एवं त्रयोदश शैवकृतय: च शैवाराधनाया: प्राचीनत्वं दर्शयति । अवैदिकशैवाराधनाया: व्यापकत्वं प्रदर्शयति माडन् वीरभद्रन् भैरवन् इत्यादिमूर्तिपूजा । एवम् उत्तरकेरले विश्रुत: 'मुत्तप्पन्दैवं' शिवावतार: इति विश्वास: । तत्र विद्यमानमन्दिरेषु (मठप्पुर) आराधनाचारानुष्ठानानि कला, व्रताचरणम् इत्यादिकं केरले प्रचलितक्षेत्रतन्त्रोक्तविचारेभ्य: नितरां भेदोऽस्ति । मुत्तप्पन्दैवस्य प्रभाव: न केवलम् आस्तिकानाम् अपि तु नास्तिकानाम् इतरमतानुयायिनां मध्येऽपि सुदृढ़: अस्ति । दक्षयागभूमिरिति विख्याते कोट्टियूरस्थाने श्रीपरमेश्वरस्य पूर्णसान्निध्यमस्ति । अत्र विराजमान: कोट्टियूरपेरुमाल् उत्तरकेरलस्य आध्यात्मिककला सांस्कृतिक–सामाजिकजीवने अत्यधिक-प्राधान्यमधुनाप्यस्ति । मध्यकेरले शुकपुरं ग्रामस्य अध्यक्षस्थानं शुद्धशैवाचारनिष्ठानाम् आलवाञ्चेरी तम्राक्कल् इत्येतेषां तान्त्रिकाचार्याणाम् आसीत् । उत्तरकेरले विराजमान: तलिप्परम्बराजराजेश्वर: (श्रीपरमेश्वर:) राजाधिराजस्थाने विराजते । अत: सर्वदा शासका: भरणभारस्वीकरणात्प्रागेव राजराजेश्वरस्य अनुमितिस्वीकरणीया इति सम्प्रदाय: जनजीवने शैवप्रभुत्वं कियदासीदित्यस्य निदर्शनमस्ति ।

सामान्यत: केरले शिवपुराणपारायणम्, मृत्युञ्जयहोम: बिल्वमालासमर्पणं, शिवधारा, भस्माभिषेकम्, नारिकेलजलाभिषेकम्, रुद्रपुष्पाञ्जलि इत्यादि शैवाराधनानि पालयन्ति। हालास्यमाहात्म्यमिति ग्रन्थे श्रीपरमेश्वरस्य ६४ लीलां प्रतिपादयति । केरलमप्यन्तर्भूत-द्रविडदेशस्य आचारानुष्ठानानि तत: उपलभ्यन्ते । एवमेव शैवमार्गावलम्बिनां सिद्धपुरुषाणां गुरूणां च सान्निध्येन प्राचीनकेरलम् अनुगृहीतमासीत् । आधुनिककेरलस्य नवोत्थाननायकानां श्रीनारायणगुरु:, चट्टम्बिस्वामिप्रभृतीनां दीक्षागुरव: प्रेरकाश्च शिवयोगिन: आसन् । कन्याकुमारी-जिलायां वडिवीश्वरमित्याख्ये स्थाने कश्चन शैवावधूत: कुञ्जन्पिल्लामहाशयायै (चट्टम्बिस्वामिने) मन्त्रोपदेशं कृतवान् । विवेकानन्दस्वामिन: भारतपर्यटनसन्दर्भे केरलं चट्टम्बिस्वामिनं दृष्ट्वा अहमेकं विलक्षणपुरुषम् अपश्यमिति अनन्तरकाले स: उदघोषत् । श्रीनारायणगुरो: शिवदर्शनानुभव: मरुत्वामलनामकस्थाने पिल्लत्तडं गुहायाम् अभवत् । मरुत्वामला शैवगुरूणाम् अवधूतानां च आवासस्थानमिति प्रसिद्धि: आसीत् । तेषां प्रेरणाकारणत: स्यात् श्रीनारायणगुरुदेव: अरुविप्पुरं शिवप्रतिष्ठां कृतवान् । गुरुणा अनन्तरकाले प्रतिष्ठितेषु मन्दिरेषु सर्वत्र शिवसान्निध्यं मुख्यदेवतारूपेण उपदेवतारूपेण वा प्रतिष्ठितमित्येतद् यादृच्छिकं न। गुरुणा रचितेषु कृतिषु अपि शैवकृतय: प्रसिद्धा: । *(मननातीनम्, दैवनिन्तनम्, दैवदशकम्, शिवदशकम्, विभुदर्शनम्, चिदम्बराष्टकम्, शिवस्तव: कुण्डलिनिपाट्ट, सदाशिवदर्शनम्)* विश्वविख्याते चिदम्बरक्षेत्रे विराजमानं शिवलिङ्गं पुरस्कृत्य रचितं चिदम्बराष्टकं श्रीशङ्करविरचितं लिङ्गाष्टकसमानं दृश्यते ।

ब्रह्ममुखामरवन्दितलिङ्गं जन्मजरामरणान्तकलिङ्गम् ।
कर्मनिवारणकौशललिङ्गं तन्मृदुपातुचिदम्बरलिङ्गम् ।।

स्वतन्त्रं तथा अनूदितं वीरशैवसाहित्यं मलयाले

मलयालभाषायां विरचिता: वीरशैवप्रतिपादका: ग्रन्था: आहत्य पादोनविंशतिसंख्यका: विद्यन्ते । तेषु १९३५ तमे वर्षे पल्लिप्पाड् वेलायुधन्पिल्लामहाशयेन विरचित: वीरशैवप्रकाशिका प्रथमस्वतन्त्रग्रन्थ: । तत: वी. नारायणपिल्लामहाशयस्य शिवाद्वैतम् (१९८१), के. प्रसन्नकुमारस्य वीरशैवधर्मपरिचयम् (२००४), डॉ. एन् सुब्रह्मण्यस्य वीरशैवमतम् आचारङ्ङलुम् अनुष्ठानङ्ङलुम् इत्यादि चत्वार: सविशेषपरामर्शयोग्या: कृतय: सन्ति । यत: एते सर्वे केरलीयवीरशैवानां धार्मिकाचारानुष्ठानाय विरचिता: ।

केन्द्रसाहित्याकादमी सदृशसर्वकारीयसंस्थानां सूचनानुसारं केचन ग्रन्था: रचिता: । डॉ. वी.एस् शर्मण: बसवेश्वरन्टे जीवचरित्रम् डॉ. वी. राघवस्य **अक्कामहादेवी**, डॉ. डी. विनयचन्द्रस्य **वचनसेपानम्**, विश्रुतसाहित्यकारस्य डॉ. अय्यप्पपणिक्कर् महाभागस्य १०८ वचनम्, प्रोफ. मोहनप्रसादस्य (२००२) बसवेश्वरन् **भारतीय नवोत्थानतिन्टे प्रथमशिल्पि** इत्येता: प्रमुखा: । एवं स्वतन्त्रकृतय: पञ्चदश, अनूदितसाहित्यं चत्वारि, एवम् आहत्य एकोनविंशति वीरशैवप्रतिपादका: ग्रन्था: मलयाले ममान्वेषणाद् उपलब्धा: ।

वीरशैवप्रकाशिका–(१९३४)

गुरुलिङ्गजङ्गमदासः इति प्रथितेन पल्लिप्पाड् पी.के. वेलायुधन्पिल्लामहाशयेन १९३४ तमे वर्षे प्रकाशिता वीरशैवप्रकाशिका मलयालभाषया लिखितं प्रथमवीरशैवसाहित्यं वर्तते। वीरशैवदासो नाम वी. वेलायुधन् पिल्ला अस्य ग्रन्थस्य सम्पादकः। वीरशैवधर्मा-वलम्बिभिः, नित्यजीवने ज्ञातव्यानि अनुष्ठेयानि च कार्याणि सविस्तरं प्रतिपादितस्य अस्य रचना कन्नड, तमिल्, संस्कृतग्रन्थानां साहाय्येन कृता इति सम्पादकलेखने असूचयत्। वीरशैवसमुदायस्य संघटनाय उद्धरणाय च बहुकालं यावत् कार्यकृतेन लेखकेन अनुभूतं यद् सत्याचारविचारानुष्ठानाय शैवागमस्य समुहती परम्परा अस्ति चेदपि केरलीयवीरशैवजनाः स्वधर्मपालने ईषदपि गौरवं न यच्छन्ति। एवं वीरशैवमिति पदं केरलीयजनाः श्रुतवन्तः किन्तु तस्य अर्थः कः ? के वीरशैवाः ? इत्यादिकं तु न जानन्ति, अतः इतरभाषासु प्रतिपादितवीरशैवाचारविचाराः अत्र प्रतिपाद्यन्ते इति ग्रन्थकर्ता आदौ सूचयति। पञ्चाचार्यपरम्परायाः अनुग्रहेण आविर्भूतस्य वीरशैवधर्मस्य परिचयः, वर्णाश्रमधर्माः, शैवभेदाः, वीरशैवविशेषलक्षणम्, जङ्गमलक्षणम् वीरशैववैदिकत्वम्, पञ्चाचारमहिमा इत्येते विषयाः तमिल् संस्कृतग्रन्थानां साहाय्येन सप्रमाणं विशदयति, अन्ते वीरशैवसन्ध्यानाम अपि योजितम्।

पालया कृपालया, कापालमालयालसर
मालोषिच्चु पालया कृपालया
कालकालकालिण तोषन्नेन्

इत्यारभ्य त्रिंशत् पादाः सन्ति मलयालभाषया विरचितायाः अस्याः सध्यानामप्रार्थनायाः। वीरशैवप्रकाशिका अनन्तरकालरचनायै आधारग्रन्थरूपेण वर्तते इति शिवाद्वैतं, वीरशैवमतम् आचारङ्लुम् अनुष्ठानङ्लुम् अनुष्ठानङ्लुम इत्यादिग्रन्थानां पठनेन ज्ञायते। संक्षिप्तपूजाविधिः

शिवाद्वैतम्–(वी. नारायणपिल्ला १९८१)

पल्लिपाप्पाड्, पी.के. वेलायुधन् पिल्ला महाशयस्य शिष्येण वी. नारायणपिल्लामहाशयेन रचितोऽयं ग्रन्थः शिवाद्वैतम्। शैवागमसारस्वरूपमिति प्रसिद्धं वीरशैवविनाविडे वातुलागमस्याधारेण विरचितस्य अद्वैतवेण्पा इत्यनयोः तमिलग्रन्थयोः वीरशैवप्रकाशिका नाम मलयालग्रन्थस्य च आधारेण प्रकाशिते शिवाद्वैतदर्शनप्रतिपादके, ग्रन्थे वीरशैव-ज्ञान-भक्ति-क्रियामार्गाः सविस्तरं उपस्थापिताः। केरलीयवीरशैवानाम् उद्भवकथां ग्रन्थकार एवं वर्णयति तत्र। रेवणसिद्धेश्वरस्य शिष्यप्रवरः रुद्रमुनिः तमिल्नाड् केरलादिदक्षिणभारते वीरशैवधर्मप्रचारं कृतवान्। तस्मादेव कुम्भकोणं पेरियमठम् अत्र **विद्यमानानां** शिवभक्तानाम् आत्मीयकेन्द्रत्वेन परिगणयति। तस्य मठस्य अधीशाः केरलं समागत्य भक्तान् अनुगृहीतवन्तः। किन्तु समीपपञ्चविंशतिवर्षाणि यावत् मठाधीशानाम् अनागमनात् जनानां धार्मिकाचारानुष्ठानेषु

लोपः दृश्यते । लिङ्गधारिणां संख्या न्यूना जाता, कदाचिद् विवाहस्याङ्गतया केचन लिङ्गधारणम् आचरन्ति । एवमेव स्वधर्माचरणम् अजानन्तः अन्त्येष्टिक्रियाकलापेषु अपि इतरमतानुयायिनां मार्गमनुसरन्ति । वीरशैवधर्मप्रतिपादकग्रन्थाः कन्नडा तमिल् संस्कृतमित्यादिभाषासु च उपलभ्यन्ते । अतः केरलीयान् मनसि निधाय लघुग्रन्थोऽयं विरच्यते इति प्राक् कथने ग्रन्थकारेण सूचितम् ।

वीरशैवमतम् आचारवुम् अनुष्ठानवुम्–(डॉ. एन्. सुब्रह्मण्यपिल्ला २००४)

शिवाद्वैतमिति ग्रन्थस्य आधारेण डॉ. एन्. सुब्रह्मण्यमहोदयेन विरचितः वीरशैव-धर्मप्रतिपादकग्रन्थः भवति वीरशैवम् आचारवुम् अनुष्ठानवुम् । पञ्चाध्यायेषु विभक्तेऽस्मिन् ग्रन्थे वीरशैवमतस्य उत्पत्ति विकासः, मताचारानुष्ठानानि, दीक्षाविधयः, माङ्गल्यधारणम् अन्त्येष्टिक्रिया इत्येते विषयाः निरूपिताः । लिङ्गधारणं, दीक्षाविधयः, वीरशैवानां नित्यजीवने पालनीयानि च कार्याणि पूर्वोक्तग्रन्थेषु अपि दृश्यन्ते । विवाहमाङ्गल्यधारणं तथा अन्त्येष्टिक्रियां च प्रथमतया मलयाले अत्रैव विशदीकरोति । विवाहस्याङ्गतया निश्चयताम्बूलं, विवाहामन्त्रणम्?, कन्यादानं ततः प्राक् वधूवराणां लिङ्गधारणम्, पुनर्विवाहव्यवस्था, तिरुमङ्गलपूजा, वधूवराणां, बन्धुजनानां चर्याः च सविस्तरं विशदयति । इतरहिन्दुधर्मावलम्बिनां विवाहक्रियाकलापेभ्यः कुत्रचिद् भेदः अत्र विद्यते । केरलीयवीरशैवधर्मावलम्बिजनाः विवाहविषये स्वकुलाचारं न पालयन्ति । अतः वीरशैवः अवश्यं कुलधर्मं पालनीयम् इत्युक्त्वा मङ्गल्यधारणविवरणं ग्रन्थकारः समापयति । एवमेव पञ्चमाध्याये अन्त्येष्टिक्रियाङ्गरूपेण अन्त्यदीक्षा, समाधिस्थानरचना, पञ्चवर्णकोलनिर्माणं, तकिट्लेखनं (लोहमयपत्रे) तूकुंपाट्ट् इत्यादिविवरणम् अपि दत्तम् । एवं पश्यामश्चेत् केरळीयवीरशैवानुयायिनम् अनुपमं पुस्तकमस्ति वीरशैवमतम् आचारवुम् अनुष्ठानवुम् इत्यत्र नास्ति सन्देहलेशः । कतिजनाः पुस्तकमेतत् पठितवन्तः ? अत्र प्रतिपादितशैल्या विवाह अन्त्येष्ट्यादि आचारान् पालयन्ति च इत्यस्मिन् विषये वीरशैवमतस्य केरलराज्यस्तरीयकार्यकर्तृणामपि सन्देहो विद्यते ।

शैवकेरलम्–निराकारपराशिवः नराकारत्वं प्राप्तुं सदाशिवस्य सद्योजातातिमुखेभ्यः रेणुक-दारुक-घण्टाकर्ण-गजकर्ण-विश्वकर्णादि आचार्यरूपेण आविर्भूताः । कलियुगे रेणुकाचार्यस्य शिष्यरूपेण रेवणसिद्धेश्वरः मनुजभावं स्वीचकार । रेवणसिद्धेश्वरस्य शिष्यः रुद्रमुनिः केरलादि-दक्षिणक्षेत्रेषु शैवधर्मं प्रसारयामास इति वीरशैवप्रकाशिकाकारमतम् । कुम्भकोणस्थानात् चतुश्शतवर्षेभ्यः प्राक् केरलम् समागताः शैवगुरवः अत्र विद्यमानशिवभक्तानाम् आत्मीय-मार्गदर्शकाः आसन् । मन्त्रसिद्धिं प्राप्तेषु तादृशयोगिवर्येषु ओच्चिरगुरुनाथः मट्टत्तुविश्वनाथगुरुः, कन्याट्टु-कुलङ्करगुरुनाथाश्च प्रथिताः । माता अमृतानन्दमयी देव्याः जन्मना प्रसिद्धिं प्राप्ते वल्लिक्काव् समीपे ओच्चिर परब्रह्मस्वामिमन्दिरे विद्यमाने अश्वत्थवृक्षस्य अधः ब्रह्मसायूज्यं प्राप्तस्य शैवगुरोः घटना अधुनापि जनैः न विस्मृता । (शैवधर्मपरिचयः–६५)

वैद्यकीयज्ञानयुक्तमन्त्रसिद्धाः च शैवाचार्याः राजशासकानां सामान्यजनानां च आदरं

साहाय्यं च संप्राप्य अत्रैव वासमारब्धवन्तः। तेषां परम्परायां विद्यमानाः योगी, योगीश्वरन्, वैरावी, मठपति, जङ्गमर, पण्डारन् गुरुक्कल्, योगिगुरुक्कल्, लिङ्गायत्, वेल्लालपिल्ला, पिल्ला, चेट्टी, वीरशैववेल्लालपिल्ला, इत्यादि नाम्ना आहूताः।

(1931 Govt. Censes Report) सर्वकारस्य आवेदने केरलीयवीरशैवाः मैसूरस्थ मुरुखीमठस्यानुयायिनः इति परामृष्टम्। एवं तिरुवितांकूर State Mannual मध्ये लिखति–The name Virasaiva now applies to pantarams, Virasaivas and Yogiswarans. The last two are the followers of the Murugi Mutt in Mysore, while the others follow the Sarankal Mutt of Kumbhakonam. The latter Mutt had its representatives in various parts of Kerala, their descendants called Muttapathis being found in different parts of the state. The Vairavis claim to have come from Madura to Suchindrum; The Virasiavas speak Tamil in South Travancore and Malayalam in the other parts of the state.

एतैः ज्ञायते यत् कर्णाटकतमिलुनाटुदेशेभ्यः समागताः अत्र विद्यामानशैवावलम्बिनः च अनन्तरकाले केरलीयवीरशैवाः सञ्जाताः इति प्रसन्नकुमारस्य अभिप्रायः (शैवधर्मपरिचयम्– ६८)

संक्षिप्तपूजाविधिः

मलीमठसिद्धलिङ्गस्वामिना विरचितस्य संक्षिप्तपूजाविधीत्याख्यस्य लघुपुस्तकस्य मलयालानुवादः वेदमूर्ति अच्युतभट्टमहाशयेन १९८८ तमे वर्षे कृतः। 'संक्षिप्तपूजाविधिः भस्मशुद्धीकरणवुं लिङ्गधारणविधानङ्लुम् इत्यस्य मलयालपुस्तकस्य प्रकाशनं केरलराज्यस्य उच्चन्यायालयस्य मुख्यन्यायाधीशत्वेन नियुक्तस्य सी. एस् मलीमठमहाशयस्य प्रेरणया जातम्। भागद्वयात्मकेऽस्मिन् पुस्तके षोडशोपचारः, लिङ्गपूजाक्रमः, शिवार्चनासङ्कल्पः, जलशुद्धिः, भस्मधारणं, रुद्राक्षधारणम्, इत्यादिविषयाः प्रतिपादिताः। आचारनिष्ठाः शैवभक्ताः लिङ्गाराधनायै पुस्तकस्यास्य परिशीलनं कुर्वन्ति। पुस्तके तत्र तत्र दत्ताः वैदिकतान्त्रिकश्लोकाः दोषभूयिष्ठत्वात् पुनःप्रकाशनसन्दर्भे दोषाः परिहरणीयाः।

नवशताधिकवर्षमलयालसाहित्यवाङ्मये शैवसाहित्यस्य स्थानं परिमितैः ग्रन्थैः अङ्कितम्। लिखितसाहित्यं जनजीवनस्य धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-विचाराणां दर्पणमस्ति। मानवजीवनस्य मार्गनिर्देशकात्मकम् आगमविज्ञानं भाषामाध्यमेन जनसामान्यसमीपं नेतुं पञ्चाचारपरम्परायां विद्यमानानां श्रीश्रीश्री डॉ. चन्द्रशेखरेन्द्रस्वामिवर्याणाम् अनुग्रहाशीर्वचनानि सम्प्रार्थ्य समर्प्यतेऽयं प्रबन्धः।

Original and Translated Virasaiva Literature in Malayalam

Virasaivaprakasika	Pallipadu Velayudhan Pillai	1935
Sivadvaitam	V. Narayanapiliai	1981
Akkamahadevi	Dr. V. Raghavan	1970
108 Vachanam	Dr. Ayyapa Panikkar	1996
Basaveswarante Givacharitam	Dr. V.S. Sarma	1981
Basavesvarante Givacharitam	Kottarakkara Krishnankutty	2010
Vachanamkavitakal	Nityachaitanya Yati	1995
Virasaivamatam-acharavum Anushtanavum	Dr. N. Subrahmanian	2004
Virasaivadharma-prichayam	K. Prasannakumar	2004
Basavesvaran Bharateeya Navoddhanathite silpi	Prof. Mohana Das	2004
Vachanasopanam	D. Vinayachandran	2005
Visvamanavan Basavan	Just. B.N. Chandrasegharan	2000
Basavesvaran Navoddhananayakan	Pannainaveendran	2009
Akkamahadevi	S. Leelammal	2010

Translation Works

Basavesvaravachanasudha-P. Sankarpillai-2000

Visvajyotibasavanna-Dr. Deviprasad-2010

Akkamahadevi Vachannangal-Ullur Parameswaran-2012

Samkshipta poojavidhi-D. Achuta Bhatt-1985

Siddhanthasikhamani-Ambika Appukuttan 2014

Periodicals

Virasaivan, Umapati From TVM, Basavapdham Bangalore

*

वीरशैवों का मराठी-साहित्य

डॉ. शे. दे. पसारकर
सोलापुर

प्रास्ताविक

मराठी वीरशैव साहित्य की समृद्धि आजकल दृष्टिपथ में आ रही है। इस विषय पर तीन साहित्य संमेलनों को अच्छा प्रतिसाद मिला। म. बसवेश्वरजी के पूर्वकाल में ही वीरशैव सम्प्रदाय महाराष्ट्र में प्रतिष्ठित हो गया था, इस विधान का आधार भी मिलता है। दस सौ अट्ठावन इसवी में ही साखरखेर्डा में (जि. बुलडाणा) श्रीपलसिद्ध बृहन्मठ की स्थापना होने का उल्लेख है। म. बसवेश्वरजी का जन्मवर्ष ११०५ है। इससे महाराष्ट्र में वीरशैव सम्प्रदाय और समाज दसवें-ग्यारहवें शतक से ही स्थिर होने का अनुमान निकाला जा सकता है। यादवों की राज्यव्यवस्था में वीरशैवों का उच्चाधिकार मान्य होने के सबूत मिलते हैं। महादेव यादव का महाप्रधान देवराज और रामदेव यादव का सेनापति चाउंडरस वीरशैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। १२०४ ईसवी के संगुर शिलालेख में देवराज ने सोलापुर में सिद्धरामेश्वर द्वारा स्थापित मंदिर में कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुन के दर्शन करके पूजा-अर्चा के लिए एक गाँव इनाम देने का उल्लेख है। इसका यही अर्थ है कि मराठी के प्रारम्भकाल में ही वीरशैव समाज महाराष्ट्र तथा मराठी भाषा से एकरूप हो गया था। म. बसवेश्वरजी का क्रांतिकेंद्र कल्याणी (बसवकल्याण) मराठी सीमाप्रदेश के पास ही है। इतना ही नहीं, महाराष्ट्र के मंगलवेढा में बसवेश्वरजी का वास्तव्य था और यहीं पर उन्होंने नवसमाज निर्माण के लिए अपना पहला कदम उठाया था। इससे उनके वैचारिक विकास में मराठी भूमि का हिस्सा स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे मराठी शासकों ने आज के कर्नाटक भूभाग में सत्ता का विस्तार किया था, उसी प्रकार कन्नड शासकों ने भी आज के महाराष्ट्र के कुछ भूभाग तक सत्ताविस्तार किया था। इसका परिणाम यह हुआ की महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के उन दोनों भूभागों में बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक विचारों का आदान-प्रदान हुआ। इसका बिम्ब मराठी साहित्य,विशेषत: वीरशैव मराठी साहित्य पर दिखाई देता है।

वीरशैव मराठी-साहित्य : निर्मितिप्रेरणा

मराठी के प्रारम्भ काल में रचित वीरशैवसाहित्य आजतक उपलब्ध नहीं हुआ। मात्र तेरहवीं सदीं का विसोबा खेचररचित षट्स्थल (शडूस्छळि) नामक यादवकालीन ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। इस ग्रंथ पर वीरशैवों के षट्स्थल सिद्धान्त का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। मात्र वीरशैव सम्प्रदायमान्य षट्स्थल सिद्धान्त जैसा का तैसा इसमें दिखाई नहीं देता। फिर भी इस ग्रन्थ पर वीरशैव विचारों का प्रभाव दिखाई देता है। वीरशैव मराठी

साहित्य के प्रथम ग्रन्थ का स्थान इस ग्रन्थ की ओर जा सकता है। इसके बाद मात्र ढाई-तीन शतकों तक का वीरशैव मराठी साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसका अर्थ यह है इस काल का वीरशैव साहित्य काल-प्रभाव में नष्ट तो हुआ होगा अथवा ज्ञानदेव-नामदेव-एकनाथ आदि प्रभावी सन्तपरम्परा के सामने यह सम्प्रदाय किसी न किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुआ होगा। इसी कारण साहित्य की निर्मिती नहीं हुई होगी। सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध से वीरशैवों का मराठी-साहित्य बड़े पैमाने पर और सशक्त रूप में निर्माण होने का सबूत मिलता है। सोलहवीं सदी से निर्मित वीरशैव मराठी साहित्य के आधार पर ही उसकी निर्मिति की प्रेरणाएँ स्पष्ट कर सकते हैं।

अस्मिता का पोषण, सम्प्रदाय के विचारों की पहचान तथा भक्तिभावना का प्रकटीकरण इस साहित्य की निर्मिती के पीछे प्रेरक रूप में दिखाई देते हैं। सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति ऐसी थी, जिस कारण वीरशैव संत कवियों को वीरशैवों की अस्मिता का आवाहन करना पड़ा, साथ-साथ उसका पोषण भी। सुलतानी सत्ता की दहशत और वारकरी सम्प्रदाय का आकर्षण इस कारण महाराष्ट्र के वीरशैव सम्प्रदाय का अस्तित्व ही नष्ट होने का अन्देशा उस काल में था। यही कारण है की मन्मथस्वामी आदि वीरशैव संत कवियों ने वीरशैवों की साम्प्रदायिक अस्मिता जागृत करने का सफल प्रयास किया। अस्मिता के पोषण के लिए अभंग और ग्रंथों की रचना की।

'सदा भस्म लावा भाळी। लिंग पूजा बिल्वदळी।।'

'शिव शिव म्हणतां वाचें। काय गेलें तुझ्या बाचे।।'

'निजूं नका जागा जागा। आपुल्या स्वधर्मानें वागा।।'

'शिवभक्ताचे कुळीं जन्मुनी करंटा। न भजे चोरटा शंकरासी।।
छपवूनी लिंगा घाली तुळशीमाळ। जन्मला चांडाल मातेगर्भी।।'

वीरशैवों की अस्मिता जागृत करने के उद्देश्य से ही ऐसे कठोर वचन मन्मथवाणी से प्रकट हुए। आचारशून्य वीरशैवों के सामने वीरशैवाचार रखने के लिए ही उन्होंने 'परमरहस्य' भाष्यग्रंथ रचा। यह वीरशैवों की आचारसंहिता थी। 'हरिपाठ' की तरह 'शिवपाठ', साम्प्रदायिक भजन, कीर्तन, भारूड आदि लघु रचना करके वीरशैवों की अस्मिता का पोषण किया। यह वारकरी सम्प्रदाय के मार्ग का अनुकरण ही था।

शक्तिविशिष्टाद्वैत यह वीरशैवों का दर्शन और षट्स्थलसिद्धान्त उनकी साधनाप्रणाली है। परमार्थ साधना के लिए अष्टावरण और पंचाचार उपयुक्त हैं। मराठी वीरशैव साहित्य में की गई भाष्यग्रंथ की निर्मिती देखने पर सम्प्रदाय के विचारों की पहचान करा देना ही

इस साहित्यनिर्मिती के पीछे दूसरी प्रेरणा होना स्पष्ट होता है। संस्कृत और कन्नड ग्रंथों के आधार पर मराठी में ग्रंथ रचना करके उन्होंने मराठी वीरशैवों को सम्प्रदाय के विचारों का परिचय करा दिया। साम्प्रदायिक श्रेष्ठ पुरुषों के चरित ओवी रूप में बद्ध करके उन्होंने समाज के सामने आचरण का आदर्श रखा। कन्नड वचनों में भी शिवशरणों का जो आत्मसंवाद था, उसके मराठी अनुवाद के पीछे भी यही प्रेरणा दिखाई देती है।

वीरशैव मराठी-साहित्य की निर्मिती के पीछे भक्तिभावना का प्रकटीकरण यह भी एक उद्दिष्ट है। वीरशैव कवियों की अभंग कविता आत्मसंवाद के रूप में दिखाई देती है। अभंगों में शंकर भगवान् का रूप चित्रनिर्मित करते समय उनकी भक्तिभावना पूर्ण रूप में प्रकट होती है। वे शब्दों के माध्यम से शिव से एक रूप होने का प्रयास करते हैं। उनके नामामृत में भीग जाते हैं। वीरशैव अभंग वाणी में भक्तिभावना को शब्द रूप देने का प्रयास दिखाई देता है।

संवाद और समन्वयशीलता

वारकरी सम्प्रदाय की ओर झुकनेवाले स्वजनों को रोकने का वीरशैव मराठी सन्तों का उद्दिष्ट था। तो भी उन्होंने अन्य सम्प्रदायों से कभी संघर्ष नहीं किया, यह उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं वीरशैव सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं में मराठी सन्तों के साहित्य शैली का ही अनुसरण किया। वीरशैव संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण उन्होंने उचित ढंग से किया। मन्मथस्वामीजी के साहित्य में मोक्ष संकल्पना का यह वर्णन स्पष्ट रूप से अंकित है–

'गंगा सागराशीं मिळाली । ती पुन्हा न परते सागरुचि झाली ।
तैसी चित्तवृति समरसली । पूर्णानंदी शाश्वत ।।' (परमरहस्य, ४.६)

'ऐक्यस्थल' की व्याख्या करते समय वे कहते हैं–

'ते परब्रह्मचि मुसावले । भक्तिसुखालागीं अवतरले ।
वीरशैव नाम पावले । ऐक्यस्थल ते ।।' (परमरहस्य, १२.१०८)

यह सभी वीरशैव सन्त कवियों के साहित्य में दिखाई देता है। वीरशैव मराठी सन्तों ने जिन कन्नड और संस्कृत ग्रंथों का मराठी में अनुवाद किया, वह खास मराठी ढंग का ही है।

सुसंवाद की तरह ही विचारों में समन्वयशीलता का पहलू इस साहित्य में दिखाई देता है। इस साहित्य के प्रारम्भकाल में मन्मथ स्वामीजी के अभंग में 'हरिहर ऐसा नामी आहे भेद...' ऐसा शिव और विष्णु इनमें भेद दिखाई देनेवाला विचार ही बाद में 'हरिहरा नाही द्वैत । व्यर्थ वादकाचे मत' (शिवदास) ऐसी समन्वयशीलता में परिवर्तित हुआ। संघर्ष

करनेवालों को संघर्ष करने दो, मात्र हमें निन्दा से दूर रहना आवश्यक है, ऐसा संत कवि शिवदास कहते हैं।

वीरशैव मराठी-साहित्य का स्वरूप

वीरशैव मराठी-साहित्य का स्वरूप विविधतापूर्ण है। निम्न प्रकार से उसका वर्गीकरण कर सकते हैं–

(अ) ओवीग्रंथ

१. संस्कृत ग्रंथों पर टीका ग्रंथ, २. संस्कृत और कन्नड ग्रंथों का अनुवाद, ३. चरित ग्रंथ।

(आ) अभंग रचना

१. विविध प्रकार के अभंग, २. कथात्मक अभंग, ३. चरित पर अभंग।

(इ) स्फुट रचना

१. लोकसाहित्य, २. अन्य स्फुट रचनाएँ।

लोकसाहित्य में भारूड, वडप, डफगाणे, डोलोत्सव गीत, लावणी, पोवाडा यह भेद होते हैं।

भारूड में जोहार, फुगडी, शरणार्थ, पिंगळा, बसवी, व्यभिचारिणी, ताकीदपत्र, नवरा, कोल्हाटीण, बाळसंतोष, भोळी, जागल्या, जोगवा, गोंधळ, वासुदेव, कापडी, पिंगा, सलाम, लखोटा, सौरी, मोहिनी, पाल, भूत, आग, चोर, सर्प, दरोडा, विंचू, फकीर, आंधळा, हलवाई, नटवा, पैलवान, पतिव्रता, उंदीर, घूस, तंटा, जोशी, होरा, पांगळा, चिरटे, जोकमार, म्हातारी इस तरह के अनेक प्रकार होते हैं।

अन्य स्फुट रचनाओं में स्तोत्र, पद, आरती, भूपाळी, अष्टक, पाळणा, गीत, कटाव और पदों में मराठी, हिंदुस्थानी, हरदासी, कथात्मक पद होते हैं।

(ई) गद्य रचना

१. चरित ग्रंथ, २. संस्कृत और कन्नड ग्रंथों का अनुवाद, ३. प्रबंध।

इससे वीरशैव मराठी साहित्य की विविधता और विपुलता स्पष्ट दिखाई देती है। सोलहवीं सदी के अन्तिम काल में वीरशैव मराठी-साहित्य की निर्मिती का आरम्भ हुआ, जो आज भी अखंड रूप से जारी है। आज के जमाने के अनेक लेखक, कवि स्वतंत्र रूप से साहित्य निर्मिती की परम्परा जारी रख रहे हैं। आज भी ओवी और अभंग लिखे जाते हैं। उपन्यास, नाटक, कविता, कथा, चरित आदि ललित साहित्य निर्मिती में वीरशैव मराठी साहित्यिक अग्रसर हैं। संस्कृत ग्रंथों का और कन्नड वचनों का अनुवाद, वीरशैव

सत्पुरुष और समाज के कर्तृत्ववान् व्यक्तियों का चरित लेखन, वीरशैव मराठी साहित्य का संपादन, समीक्षा, प्रबंध आदि की निर्मिती आज भी जारी है। मध्ययुगीन काल से प्रवाहित यह साहित्यधारा आज भी प्रवाहित है।

(अ) ओवी ग्रंथ

वीरशैव मराठी साहित्य में ओवीबद्ध ग्रंथों की संख्या बड़ी है। कुछ प्रमुख ग्रंथ इस प्रकार हैं–

१. संस्कृत और कन्नड ग्रंथों पर भाष्य ग्रंथ : श्रीगुरुगीता/परमरहस्य (मन्मथस्वामी), शिवानंदबोध (बसवलिंग), वीरशैवधर्मनिर्णय टीका/अष्टावरणमाहात्म्य (सत्यात्मज), शिवरहस्य (रंक), वीररहस्य (गंगाधरस्वामी), शिवरहस्य (पंचाक्षरी स्वामी)।

इसके अलावा 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' इस संस्कृत ग्रन्थ पर प.पू. श्रीकाशीजगद्गुरु डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी की प्रेरणा से शे. दे. पसारकर–रचित मराठी में 'श्रीसिद्धान्तशिखामणितत्त्वामृत' नामक ओवीबद्ध भाष्य हाल ही में काशीपीठ की ओर से प्रकाशित हुआ है।

२. संस्कृत और कन्नड ग्रंथों के अनुभव :

संस्कृत–बसवपुराण (शिवदास), बसवपुराण (शंभु तुकाराम)।

कन्नड–विवेकचिन्तामणि (शांतलिंगस्वामी), कर्णहंस (शांतलिंगस्वामी), लीलाविश्वंभर (ब्रह्मदास), सिद्धेश्वरपुराण (शिवदास), सिद्धेश्वरपुराण (पंचाक्षरी स्वामी)।

आधुनिक काल में सिद्धरामेश्वरजी के चरित पर नारायण कुलकर्णी, मल्लिनाथ तारनाळकर और इरेश स्वामी इन्होंने ओवीबद्ध ग्रंथों की रचना की, जो प्रकाशित हुए हैं।

३. चरित ग्रंथ : वीरशैवों के सत्पुरुषों पर वीरशैव कवियों ने ओवीबद्ध रचनाएँ की हैं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं–

सिद्धेश्वरमाहात्म्य (लक्ष्मण महाराज), श्रीपलसिद्ध महाराज चरित्र (श्रीकृष्णशास्त्री बाळापूरकर), हावगीलीलामृत (बसवलिंग), शरणबसप्पा चरित्र (न.ल. मोहोळकर), बसवगीता पुराण (सुधाकर मोगलेवार), श्रीरमतेरामकथामृत/श्रीमन्मथचरितामृत (शे.दे. पसारकर)।

४. स्वतंत्र ग्रंथ : भाष्यग्रंथ और चरित्रग्रंथों के अलावा वीरशैव कवियों की स्वतंत्र रचनाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार की हैं–

शांतबोध (शांतलिंग), निजात्मसार (गणेश देवांग), सिद्धान्तसार (अनाम), ज्ञानबोध/अनुभवानंद/स्वयंप्रकाश (मन्मथस्वामी), शिवागम (नागेशदास), शिवकथामृत (गंगाधरस्वामी),

रेणुकविजयपुराण (वीरसंगय्या स्वामी) इत्यादि, याशिवाय ब्रह्मांडपुराण (विश्वनाथ), ब्रह्मोत्तरखंड/सत्यसंधान आख्यान/सानंद आख्यान/केदारमाहात्म्य (सत्यात्मज), गुरुमाहात्म्य (देशिकेंद्र महाराज), लिंगानंदबोध (दास), वीरशैवलीलामृत (शिवात्मज), वीरशैवतत्त्वसारामृत (ना. रा. विभूते), श्रीयाळचरित्र (पंचाक्षरी स्वामी)।

इन ओवीबद्ध साहित्य के वैशिष्ट्यों की समीक्षा कई समीक्षकों ने अपनी अपनी शैलियों में की है।

व्यक्तिदर्शन, संवादकौशल, निवेदन, विचार-भाव-कल्पनासौंदर्य, अलंकार और प्रतिमासृष्टि, समाजदर्शन, प्रासादिकता इन कसौटियों पर इनमें से कई रचनाएँ खरी उतरती हैं। सहजस्फूर्त और रसमय ओवियाँ पढ़ते समय उनका अर्थ सहज समझ में आता है। लगभग सभी रचनाएँ प्रसाद-माधुर्यादि काव्यगुणों से युक्त हैं। वे श्रोताओं को सहज प्रभावित कर सकती हैं। केवल रसिकों का रंजन करना इन रचनाओं का मूल उद्दिष्ट नहीं है।

(आ) अभंग रचना

वीरशैवों की अभंग कविता २०,००० से भी अधिक संख्या में उपलब्ध हुई हैं। इस साहित्य के प्रथम रचनाकार का श्रेय मन्मथस्वामीजी को दिया जाता है। उनसे प्रेरणा लेकर अनेक कवियों ने अभंग रचना की। आत्मनिवेदन, गुरुगौरव, शिवगौरव, शिवपाठ, करुणा, प्रेमकलह, विरहिणी, अद्वैत, योग, पूजन-भजन-कीर्तन, मनोबोध, वाचाबोध, स्वानुभव, उपदेश आदि विशेषताएँ इन रचनाओं में समाविष्ट हैं। इनमें से कुछ की झलक निम्न रूप में–

तृषाक्रांता जैसी जीवनाची गोडी। तैसी तुझी गोडी लागो मज ।।
तारुण्यी वनिता भ्रतारा आवडी। तैसी तुझी गोडी लागो मज ।। (लिंगेश्वर)

तुज पहातां शंकरा। सुख झालें विश्वंभरा ।।
झाला सुखाचा सुकाळ। दुःख गेले हे सकळ ।। (लक्ष्मण)

पाहुनियां नीलकंठा। डोळां धरियेला ताठा ।।
प्रेमें सुखाचें उमाळें। जैसा सिंधु उचंबळे ।। (शिवदास)

देऊळा आधार देवाचाची झाला। देवळाने केला देव उभा ।।
देव आणियेली देऊळासी शोभा। देऊळाची प्रभा देवावरी ।। (मन्मथ)

सुंद रूपडे दिसे दृष्टीपुढें। मन झालें वेडें मन झालें वेडें ।। (महादेवप्रभु)

वीरशैव सन्त कवियों का भक्तिप्रवण मन, उनका समाजहित का विचार, दांभिकों

पर उनके द्वारा किये हुये प्रहार, प्रगल्भ विचार और उनकी पारंपरिक और समृद्ध प्रतिमासृष्टि आदि के दर्शन उनकी अभंगवाणी में होते हैं।

इन सन्त कवियों ने शिव भक्तों की कथाएँ संक्षिप्त अथवा विस्तार से अभंगों में शब्दबद्ध की हैं। लक्ष्मण महाराजजी ने एक कथा पर अनेक अभंगों की रचना करके उसे मनोरंजक बना दिया है। उन्होंने स्कंदपुराण, शिवपुराण, बसवपुराण, शिवरहस्य आदि ग्रंथों में वर्णित भोलेभाले शिव भक्तों की कथाओं पर अभंगों की रचना की। ये कथाएँ कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार से दिखाई देती हैं। पुराणों पर आधारित इन कथाओं में तत्कालीन समाज जीवन का चित्रण दिखाई देता है। प्रसंगनिर्मिति, स्वभावलेखन और संवादलेखन आदि विशेषताएँ इन कथाओं में दिखाई देती हैं। अनेकों ने संत पुरुषों पर भी अभंग रचनाएँ कीं।

वीरशैव मराठी संत कवियों की और भक्त कवियों की एक सुदीर्घ परंपरा महाराष्ट्र में दिखाई देती है। मन्मथस्वामी और उनके शिष्यों द्वारा निर्मित विपुल अभंग साहित्य आज भी उपलब्ध हैं। अभंग रचना करनेवाले कई वीरशैव कवि हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

मन्मथस्वामी, शिवलिंग स्वामी, लिंगेश्वर, बसवलिंग, शिवदास, लक्ष्मण महाराज, काशीनाथ सुपेकर, वीरनाथ महाराज, महादेव प्रभू, गंगाधरस्वामी, शंकर मृगेंद्र स्वामी, मल्लनाथ महाराज, बाळाबुवा कबाडी, चन्नप्पा वारद, विरूपाक्षप्पा शेटे, शिवगुरुदास, बसवदास, गुरुदास तथा भावंडीबाई। इन सभी कवियों ने अभंग रचना का क्षेत्र समृद्ध किया है। राजेंद्र जिरोबेरचित 'वचनामृत बसवेश्वरी', शे. दे. पसारकररचित 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि अभंगगाथा' और पलसिद्ध महाराजजी के चरित पर रचा हुआ 'अभंग सिद्धायन' ये दीर्घ अभंग रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

(इ) स्फुट रचना

जिसे लोकसाहित्य कह सकते हैं, उसमें भारूड, वडप, डफगाणे, डोलोस्तव गीत, लावणी, पोवाडा आदि प्रकार समाविष्ट हैं। उनमें लोकमानस के विविध रूप स्पष्ट प्रकट होते हैं। अधिकांश लोकसाहित्य मौखिक रूप में होने पर भी अल्प मात्रा में वह लिखित रूप में भी उपलब्ध है। 'जोहार मायबाप जोहार' इस भारूड में मन्मथस्वामीजी ने देहरूपी गाँव के पटेल के भोलेभाले कारोबार का वर्णन किया है। शिवदासजी ने देहनगर के मनाजीपंत कुलकर्णी को 'ताकीद' दी है, उसमें गाँव को खराब किया, परमार्थ मार्ग बंद कर दिया, इस कारण तुम्हारी गिरफ्तारी भी हो सकती है, ऐसा विधान करके डराया है। लक्ष्मण महाराज का 'पिंगला' कलियुग के अनर्थों का वर्णन करके भविष्यकथन करता है। चन्ना वारद, शिवदास आदि कवियों ने भारूडों की रचना की। इस साहित्य को मराठी में 'गबाळ' भी कहते हैं।

वीरशैवों में विवाह के अवसर पर 'खापरी गीत' गाये जाते हैं, उन्हें गुग्गुळ, धूप जलाना ऐसा भी कहा जाता है। उस समय जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें 'वडप' की संज्ञा है। इस वडप के अन्त में 'अहा रे वीरा' का घोष होता है।

मन्मथस्वामी-रचित कराडकी देवी पर रची हुआी 'लावणी' प्रसिद्ध है। वे महाराष्ट्र के प्रथम लावणीकार माने जाते हैं। इस प्रकार पोवाडा, पद, पाळणा, गीत, आरती, भूपाली, भारूड, स्तोत्र इस तरह के अनेक रूपों में वीरशैवों की रचनाएँ मराठी में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ रचनाकारों के नाम हैं–

सदानंद जोडजवळेकर, सांब ब्याले, सुमंत (अप्पाराव मरतुले), बसवदास, श्रीराम गुळवणे, शाहीर सिद्राम मुचाटे, शाहीर मेनकुदळे, प्रमिला कोठाळकर, प्रेमा घुले, कुमार कोठावळे, शकुन्तला अनसिंगकर, रंगनाथ जोशी, रेवणसिद्ध परंडकर, शे. दे. पसारकर, रे. रा. मगाई, नीलकंठ धारेश्वरकर आदि।

(ई) गद्य रचना

इस प्रकार में चरित ग्रन्थ, कन्नड और संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद और विश्वविद्यालय में सादर प्रबंधों का समावेश करना पड़ता है।

चरित पर गद्य ग्रंथ : जगद्ज्योति बसवेश्वर (सि. म. कल्याणशेट्टी), श्रीबसवेश्वर (माईणकर/गुरव), पुण्यश्लोक वारद (ना. रा. बामणगावकर), ज्ञानयोगी चंद्रशेखर शिवाचार्य (दा. का. थावरे), कथा ही अल्लमप्रभूची (सुधाकर मोगलेवार), महात्मा बसवेश्वर, काळ, व्यक्ति, व शरणकार्य (अशोक कामत), बाराव्या शतकातील आद्य समाजसुधारक (अशोक मेनकुदळे), चेतनचिंतामणि श्रीबसवेश्वर (प्रभाकर पाठक), करुणाघन बसवण्णा (रेवण शाबादे), बसवण्णा (सुधाकर मोगलेवार) आदि।

महात्मा बसवेश्वर और शिवशरण के वचनों का भावानुवाद, चरित पर नाटक आदिं अनुवादित साहित्य बड़े पैमाने पर प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। सोलापूर के वारद ग्रंथमाला की ओर सिद्धान्तशिखामणि, अनुभवसूत्र, सूक्ष्मागम, पारमेश्वरागम, शिवपुराण वायवीय संहिता, विवेकचिंतामणि, वीरशैवाचारप्रदीपिका आदि अनेक संस्कृत ग्रंथों के मराठी गद्य रूपांतर प्रकाशित हो चुके हैं। जयदेवी लिगाडे, शशिकला मडकी, शालिनी दोडमनी, राजेंद्र जिरोबे आदि साहित्यकारों ने कन्नड शरणसाहित्य का मराठी में अनुवाद किया है। श्रीकाशीजगद्गुरु के कन्नड और हिन्दी आशीर्वचनों का मराठी रूपांतर 'जन्म हा अखेरचा' इस शीर्षक से (अनुवादक : शे. दे. पसारकर) प्रकाशित हुआ है।

पारलिंग प्रभुअय्या, ना. रा. बामणगावकर, म. पु. पाटील, रा. चिं. ढेरे, पंडित आवळीकर, शि. बा. संकनवाडे, कुमार कोठावळे, शिवचंद्र माणूरकर, चंद्रशेखर कपाळे, सुधाकर मोगलेवार, संगय्या स्वामी चाकूरकर, शांतितीर्थ स्वामी, श्रीराम गुळवणे,

संग्रामप्पा शेटकार, लिंगाप्पा शेटे, तु. ना. काटकर, अशोक मेनकुदळे, शे. दे. पसारकर, श्यामा घोणसे, विश्वनाथ थोंटे, शि. बा. स्वामी, पं. शिवाप्पा खके, भी. शि. स्वामी, राम तोंडारे, महानंदा खके, अशोक एडके, दौ. शं. साखरे, सूर्यकांत घुगरे, चंद्रकांत देऊळगावकर, वि. शं. चांडोळे, इरेश स्वामी, रे. रा. मगाई, ल. सि. हनगंडी, बी. बी. पुजारी, रेखा अष्टुरे इत्यादि अनेक लेखकों की वीरशैव मराठी साहित्य पर रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें और भी कई नाम जोड़े जा सकते हैं।

'वीरशैव मराठी साहित्य' इस विषय पर अनेकों ने विश्वविद्यालयों में प्रबंध सादर करके पीएच.डी. की उपाधि पाई है। उनके नाम–

१. महाराष्ट्रातील वीरशैव धर्मपंथ आणि त्याचे वाङ्मय / डॉ. सुधाकर मोगलेवार, नागपुर विद्यापीठ, १९७२।

२. मन्मथस्वामी : व्यक्ति आणि वाङ्मय / डॉ. चंद्रकांत देऊळगावकर, मराठवाडा विद्यापीठ, १९७५।

३. लक्ष्मण महाराज : व्यक्ति आणि वाङ्मय / डॉ. भी. शि. स्वामी, मराठवाडा विद्यापीठ, १९७९।

४. मराठी वीरशैव संतांची अभंगवाणी / डॉ. राम तोंडारे, मराठवाडा विद्यापीठ, १९८०।

५. वीरनाथ महाराजांच्या चरित्र व अभंगवाणीचा चिकित्सक अभ्यास / डॉ. विनय अपसिंगकर, मराठवाडा विद्यापीठ, १९८३।

६. प्राचीन मराठीतील शिवदैवत-दर्शन / डॉ. शिवशंकर उपासे, शिवाजी विद्यापीठ, १९८५।

७. संत शिवदास यांच्या वाङ्मयाचा तौलनिक अभ्यास / डॉ. वैजनाथ फास्के, मराठवाडा विद्यापीठ, १९८७।

८. विदर्भातील वीरशैव संप्रदाय : ग्रंथकार व वाङ्मय / डॉ. अशोक मेनकुदळे, नागपुर विद्यापीठ, १९८८।

९. मन्मथशिवलिंग यांच्या परमरहस्य या ग्रंथाचा सर्वांगीण चिकित्सक अभ्यास / डॉ. शे. दे. पसारकर, शिवाजी विद्यापीठ, १९८८।

१०. वीरशैव मराठी संतकवि बसवलिंग यांच्या समग्र साहित्याचा अभ्यास / डॉ. चंद्रशेखर कपाळे, शिवाजी विद्यापीठ, १९८९।

११. वीरशैवांचे मराठी हिंदी वाङ्मय : एक अभ्यास / डॉ. श्यामा घोणसे, पुणे विद्यापीठ, १९९५।

१२. संत तुकाराम आणि महात्मा बसवेश्वर यांच्या भक्तिकाव्याचा तुलनात्मक अभ्यास / डॉ. भीमाशंकर बिराजदार, शिवाजी विद्यापीठ, २००१।

१३. वीरशैव मराठी अभंग कविता : एक विवेचक अभ्यास / डॉ. शोभा कराळे, पुणे विद्यापीठ, २००२।

१४. संत मन्मथस्वामी आणि संत तुकाराम : तुलनात्मक अभ्यास / डॉ. प्रवीण कारंजकर, नागपुर विद्यापीठ, २००४।

१५. सिद्धरामेश्वरविषयक मराठी वाङ्मय : एक चिकित्सक अध्ययन / डॉ. अनिल सर्जे, स्वामी रामानंदतीर्थ मराठवाडा विद्यापीठ, २००९।

इसके अलावा अनेक समीक्षक भी इस विषय पर प्रबंध लेखन में व्यस्त हैं।

इस तरह वीरशैव मराठी साहित्य का क्षेत्र समृद्ध है। अब तक वीरशैव मराठी साहित्य का जो चित्र अंकित किया, वह अत्यंत अल्प अर्थात् हिमनग के शिखर दर्शन की तरह ही है। वीरशैव मराठी साहित्य विपुल रूप में उपलब्ध हुआ है, परन्तु अप्रकाशित है। महाराष्ट्र के विकास में और मराठी साहित्य में वीरशैव मराठी साहित्य का कितना और कैसा योगदान है, इसका पूरा चित्र इस साहित्य की पूरी खोज होने पर ही स्पष्ट हो सकता है।

✶

राजस्थान में लुप्त होता वीरशैव जंगम संप्रदाय

ललित किशोर जंगम
करौली, राजस्थान

वीरशैव धर्म अत्यधिक प्राचीन है। इसका प्रमाण हमें हडप्पा संस्कृति से प्राप्त होता है और वीरशैव धर्म के ग्रंथ ''अष्टावरण विज्ञान'' में आठ प्रकार के वर्णों का उल्लेख मिलता है। जिनमें से एक वर्ण जंगम है।

राजस्थान में जंगम की आज से लगभग १० वर्ष पहले जनसंख्या २० हजार के लगभग थी, लेकिन वर्तमान में पंचाचार्यों और सामाजिक संस्थाओं के निरन्तर प्रयासरत रहने से राजस्थान में जंगम सम्प्रदाय की जनसंख्या लगभग ५० हजार सामने आयी है। लेकिन खेद है कि वीरशैव धर्म की यह शाखा राजस्थान से पूर्णत: लुप्त हो गई है।

इस सम्प्रदाय के पूर्णत: लुप्त होने के दो कारण मुख्य रहे हैं। सर्वोच्च कारण गत जगद्गुरुओं द्वारा राजस्थान प्रदेश में किसी प्रकार का कोई धर्म का प्रचार-प्रसार न होना, इसके अभाव में राजस्थान के जंगम अपनी परम्परा को बिल्कुल भूल गये हैं।

दूसरा मुख्य कारण जैसा की इस सम्प्रदाय को अपना मूल कार्य भूल जाने के कारण विभिन्न प्रकार के व्यवसाय अपना लिये हैं। जंगम का कार्य सभी के घर-घर जाकर शैव धर्म का प्रचार-प्रसार कर दक्षिणा स्वरूप जो प्राप्त हो, उससे जीवन यापन करना है और यह सम्प्रदाय पूर्णत: इस कार्य को छोड़ चुका है।

अत: अब इस सम्प्रदाय को पुन: इसके मूल कार्य की ओर प्रकाश डालना चाहिए।

लुप्त हो रहे जंगम सम्प्रदाय को आज विकास के लिए निम्न बातों पर प्रकाश डालना चाहूँगा।

(i) यह सम्प्रदाय मूल रूप से लुप्त न हो, इसके लिए पंचाचार्यों द्वारा लगातार धर्म का प्रचार-प्रसार कर शैव धर्म के प्रति उपदेश देकर जंगम को अपने मूल कर्त्तव्य की ओर आकर्षित करना।

(ii) वर्तमान में यह सम्प्रदाय पूर्णत: लुप्त हो गया, इसका मूल कारण रहा है– अशिक्षा और गरीबी। अशिक्षित होने के कारण यह समाज अपने कर्त्तव्य तक नहीं पहुँच सका और धीरे-धीरे कार्यों से अपना जीवनयापन करने लगा। इसके लिए हमें राजस्थान में शिक्षा व धार्मिक सम्मेलनों का समय-समय पर आयोजन कर समाजसेवी संस्थाओं द्वारा इस संस्कृति को बढ़ावा देने से पुन: इस सम्प्रदाय को विकसित किया जा सकता है।

(iii) राज्य सरकार/केन्द्र सरकार द्वारा समय-समय पर लुप्त हो रही जंगम परम्पराओं को बढ़ावा देकर प्रोत्साहित कर आर्थिक सहयोग करना।

(iv) वर्तमान में युवा पीढ़ी सबसे अधिक इंटरनेट पर आकर्षित है, तो इंटरनेट के माध्यम से युवा पीढ़ी को जंगम संस्कृति पर चर्चा कर जंगम सम्प्रदाय को प्रकाश में लाया जा सकता है।

✶

Original and Translated Vīraśaiva Works in Telugu Literature

Dr. K. Pratap
Rtd. Professor
Sri Venkateshwara University, Tirupati

Though the Telugu language was in use from the first century A.D. the literary activity commenced with the translation of the Mahabharata by Nannaya. When Buddhists and Jains began to propagate their religions through the vernaculars of the south. Rajarajanarendra (1022-63), the Chalukyan King and the fervent follower of the Vedic religion decided to get the Mahabharata that was considered as pancamaveda, translated into Telugu, to protect the vedic religion. Rajarajanarendra requested his friend Nannaya (11th century), a great scholar and a poet to translate Vyasabharata into the Telugu. By considering the request of this patron, Nannaya has become the first poet (ādikavi) in Telugu. He has successfully completed the ādi and sabhā parvas and suddenly died when he was translating the third aranyaparva. With his flowing and dignified style of poetic talent he became the guide and model for later poets in Telugu.

After the death of Nannaya there was socio-religious turmoil in the Telugu country. Basavesvara, the minister of Bijjala, had commenced his revolutionary movement in neighbouring Kannada country. He used to preach that devotion (bhakti) to the Lord Siva is the only means to attain salvation and questioned the authority of the Vedas and rejected out rightly four-fold varnasrama system. In order to reach the common folk he adopted a literary tool namely vacana (simple prithy passages) free from the ornate poetry of traditional form to propagate his ideals. The tremendous impact of the movement slowly entered the Telugu country and attracted great poets of the day. As a result the translation of the Mahābhārata was delayed by around two centuries to be continued by Tikkana of

the thirteenth century. The interim period between Nannaya and Tikkana is generally called the age of Saiva poets (sivakavulayugamu) and produced abundant literature on the tenets of saivism in general and virasaivism in particular and the lives of the ardent devotees of Siva. The virasaiva literature in Telugu has assumed different literary forms such as purana, prabandha, caritra, katha, sataka, stuti, mahatmya, geya and yaksagana. (Virasaivandhra vanmayamu by Sista Ramakrishna Sastri, Introduction, p 27) A humble attempt is being made in this paper to introduce these works one by one.

Kumārasambhavamu

Inspired by Kalidasa's Kumarasambhava, Nannechoda, believed to have lived in the first half of the twelfth century attempted to write an epic poem in Telugu of the same name. He was a great devotee of Siva. His Kumarasambhava was regarded as the first poem in the Telugu language. The birth of Ganesvara, the love episode of Śiva and Parvati, the birth of Kumārasvāmi and the killing of Taraka by him form the main theme of the poem in twelve cantos. Though the main theme of the poem is drawn from Kalidasa's Kumārasambhava, it endowed independent style and indigenous ideas. He dedicated it to his guru Jangama Mallikarjuna. On account of the richness of his imagination and exalted style he was conferred a title 'Kavirajasikhamaṇi'. It was published by Madras University with the Preface by Manavalli Ramakrishnakavi.

Śivatattvasaramu

The Sivatattvasaramu is the only available work of Mallikarjuna Panditaradhya (1120-80), who had authored many works in Telugu and some of which are in Kannada also. This Mallikarjuna Panditaradhya is different from the Mallikarjuna Panditaradhya mentioned above as the guru of Nannechoda. The Śivatattvasaramu contains more than four hundred kanda verses ending with the epithets namely 'Śiva', 'Aja', 'Rudra' or

'Maheśa' etc. in the vocative case. It describes in detail the Śivadikṣa and the tenets of Śaivism and refutes Buddhism, Jainism and the māyāvāda of Advaitis. It is said to be the first sataka in Telugu in spite of its number of verses. Palkuriki Somanatha in his Panditārādhyācaritra states that apart from Sivatattvasaramu, Panditārādhyā had written Lingodbhava-devagadya, Rudramahimā, Yamesvaraśataka, Bhimesvara-gadya, Stutislokapañcaka, Parvatavarnana, Srimukhagadya, Adyabhaktaganasahasranamamu which are not available to us. It was published under Andhrashityaparishat pracuranalu, with the preface by Komarraju Venkata Lakshmana Rao.

Basavapurāṇamu

The Basavapuranamu, an original work in the form of purana, was written by Palkuriki Somanāth (1160-1240), who occupied a very important position among the vīraśaiva poets as well as the dvipada writers in Telugu. Somanatha was a great scholar in Sanskrit, Telugu, Kannada and other languages and composed works in all the languages. Basavapurāṇa composed in dvipada form, mainly depicts the life story of Basaveśvara incidentally it narrates the stories of the devotees of Śiva such as Bejja Mahadevī, Kannappa, Surasanamma, Cirutondanambi etc. It also describes supernatural powers of Basavesvara. He was very fond of using dvipada form and he himself admits and says–"Janu Telugu is more popular and attractive than the language of the great gadya (prose) and padya (poetry) compositions and I intentionally compose dvipadas in that language. Do not treat them lightly thinking that they are mere Telugu words but consider them as valuable as the Vedas". The popularity of Basavapurāṇa was so much that it made Bhīmakavi of Karnataka to translate it in to Kannada language. Tamil and Sanskrit translations followed in course of time. Telugu too it had number of adoptions in different literary forms like padya and gadya in later days.

(Palkuriki Somanatha has written 31 works in total

according to G. Nagaiah, Telugu sahitya samikshā p.140. Telugu; (1) Basavapurāṇamu, (2) Panditārdhyacaritra in dvipada, (3) Anubhavasaraṃu, (4) Vrsadhipasatakamu, (5) Caturvedasaramu, (6) Chennamallu sisamulu in poetry form, (7) and thirteen lyrics. He has written Somanathabhāṣyam, Rudrabhāṣyam, Vrshabhastakam, Trividhalingasthakam and Saṁkritabasavodaharana in Sanskrit, (5) In Kannada there are seven works namely Sadguru ragale, Chennabasava ragale, Aksarankagadye, Śaranabasava ragale, Basavaliṅganāmāvali, Silasampadane, and Śivasahasraganamale).

The Basavapurāṇamu with the preface of Bandaru Tammayya was published by Vavilla Press, Chennapuri and it was recently published by Telugu Visvavidyalayamu, Hyderabad, in the year 2002.

Pidaparti Somana (1500-1525), the son of Pidaparti Basavana composed Palkuriki Somanatha's Basavapurāṇam into padya form. And he also translated Camarasa's Kannada Prabhulingalile into Telugu in Dvipada form. The Prabhuliṅga lilā mainly deals with the story of Allamaprabhu and his mystic activities. Incidentally it also narrates some of the stories of 'Śivabhaktas'. It consists of five chapters with twenty five gatis.

Pidaparti Basavappa, the son of Palana, the brother of Pidaparti Somana, versified or wrote Prabhuliṅglile in padya form Likewise, the same themes were rendered in to different poetic forms.

Mahadevudu, son of Sambhuliṅgaradhya, has attempted to write Basavapuranamu in verse form. It is an incomplete work and available from the end of the first chapter to eighth chapter only. (VV.p.75)

Tummalapalli Nagabhusana Kavi (1750) of Haritapagotra and the son of 'Tripurantaka has written Basavavijayamu in three asvasas on the basis of Palkuriki Somanatha's Basavapurāṇamu. It is unpublished (VV.p.177)

Nallanagandla Naganaradhyudu of the same time also made a similar attempt by writing Basavavijayamu in the form of dvipada. (VV.p.180)

Baccu Siddakavi, a disciple of Mardala Parvatarya, had composed Basavapuranam also known as Basavacaritraa in five asvasas. The poet describes the life of Basava and other Sivabhaktas. He also makes a reference to 'maribasava' who was referred to as 'malayabasavaraja' in Kannda Basavapurana. (VV.p.182)

Chennabasavapurāṇamu

Attalluri Papakavi of kausikagotra and the son of Sundarambikā and Srigirimantri lived around 1750. He has authored Chennabasavapurāṇamu. It depicts that Chennabasava was born to Nagınba, the sister of Basaveśvara as an amsa of Kumāraśvāmi. It is depicted as was narrated by Renuka to Agastya and dedicated to Kandukuri Amṛutaliṅgāmatya. (VV.p.186)

Panditārādhyacarira

Palkuriki Somanatha's Panditārādhya carita composed in dvipada form narrates the life of Mallikārjuna Panditārādhya, a great Śaiva preceptor and also the author of Śivatattvasaramu. It speaks of the poetical merits of Somanātha. The work is divided in to five prakaraṇas viz: dīkṣa, puratana, vada, mahima and parvata and it contains all the characteristics of a grand epic. The main these of the work deals with the victory of Panditārādhya over the Bauddhas, jainas and carvakas in the court of Velnati Cola. It reveals multifaceted scholarship of Somanātha in various fields of study such as music, dance, medicine, alchemy etc. Some portions of Śivatattvasaramu are quoted verbatim. It was published by Andhragantha-malapracuranalu with the preface by Chilakuri Narayana Rao. And recently it was published by Telugu Viśvavidyālayamu, Hyderabad 1990.

Vrsadhipasatakamu

Somanatha's Vrsadhipasatakamu is the first available sataka in Telugu containing all the characteristic features of a sataka. He composed some verses in manipravala style using the languages of Tamil, Kannada and Marathi. His speaks of his multi-lingual talent. Each verse in the śataka ends with a refrain 'basava basava basava vrsadhipa'. It was published by Om Namssivāya Sahiti Samskruita Parishat, Secunderabad, 1998.

Caturvedasaramu

The Caturvedasaramu was intended to glorify the superiority of the lord Śiva on the basis of the passages from the Vedas, smṛitis and purāṇas. He extols in three hundred verses of sisa metre the significance of wearing of vibhuti, rudrākṣa and linga (54.96), the nature of prakrti and purusa (97=106), reasons to the devotees of Viṣṇu to convert into the devotees of Śiva (107-114), reasons for asuci (115-143), Carastuti (144-157), the characteristics of sīla (158=120) and the details of śivānubhava (202-300). Each verse ends with the word "basava". It was published by Om Namassivāya Sahiti Sāṁskritika Parishat, Secunderabad, in the year 1999.

Chennamallusisamulu

There are thirty six verses of sisa metre in which the satsthalas viz; bhakta, māhesvara, prasādī, prāṇaliṅgi, śarana and aikya are described. It is said that Somanatha while descending his jīvasamadhi he uttered each verse on each step. It was published by Om Namssivāya Sahiti Sāṁskutika Parishat, Secunderabad, 2007 with the commentary by name 'svayam prabha' by Tumapudi Koteśvara Rao.

Basavodāharana

Somanatha has composed Udaharanas in both Telugu and Sanskrit. 'Udaharana' is a poetic form in which eight verses of

kalika and utkalika metres composed using all the eight cases of Sanskrit language. It is generally used to eulogize the glory of gods and great persons.

Pidaparti poets, the staunch followers of Palkuriki Somanātha, apart from propagating the works of Somanātha, had attempted to write some independent works based on the works already in existence. For instance, Pidaparti Basavana (1475-1500) has written three works; 1. Pillanayanaru kathā, 2. Dikshabodha and 3. Brahmottarakhandamu.

Pillanayanaru kathā

A small episode found in the Basavapurāṇamu was developed in to a kāvya, where the well known Śaiva crusader of the Tamil country. Tirujñānasambandam's life story was depicted. It elaborately deals with how Pillanayanaru refuted the Buddhists and jains and converted the king Kulottuṅga Chola and Sundarapandyan in to Śaiva-fold.

Diksabodha

Pidaparti Basavana's Dīkṣābodha was a translation of Keraya Padmarasa's Kannada work of same name. The Kannada version also a translation of Sanskrit works of the same name. Pidaparti Basavana translated it in the form of dvipada. It is in the form of a conversation between a master and his disciple. It deals with the basic tenets of Virasaivism, the ritual procedures and the religious practices followed by them and the characteristic of a teacher and student.

Brahmottarakhandamu

The Brahmottarakhandamu is a translation of the Brahmottarakhanda of the Skandapurāṇa. Pidaparti Basavana composed it in the dvipada form. Later it was rewritten in padya form by Patamatta Somanatha and Sridhara Malle.

Ācārasaṅgrahas

Vīramāheśvaracarasaṅgrahmu

Parvatamantri Lingana has rendered in to Telugu the Vīramāheśvaracarasaṅgraha of Nīlakanthanāganāthacharya's Sanskrit work. It has ten chapters (asvasas) viz. 1. The power of vibhuti, 2. The power of rudrākṣa, 3. The power of pañcākṣari, 4. The power of the name Hara, 5. The glory of Śivarātri, 6. The origin of chakra and sankhu, 7. The story of Markandeya, 8. The release of Visnu's curse, 9. The glory of Sarabhendra, 10. The punishment of Vyāsa. The author was a disciple of Mallikārjuna Panditārādhya. The work is not published so far and the manuscript of which is available in the Madras State oriental Mss, Library in Chennai.

Śaivacarasangrahamu

Kuntamukkata Tirumalanatha, son of Ahobalamantri, has composed Śaivacarasangrahamu describing the worship of Śiva and the religious practices prescribed in the āgamic texts. It consists of three chapters.

Vīrasavacarasaṅgrahamu

The Vīrasavacarasaṅgrahamu of Śivaramalingakavi, or Śivaramaliṅgarāju of Bhāradhvāja gotra was the son of Hariraju and Seetamma. He was the disciple of Somasekharaguru, the pontiff of Gokarnamatha. His Vīrasavacarasaṅgrahamu is the translation of the Sankarasamhitā portion of the Skandapurāṇa. The author himself states that the work was written in the year 1773. The work is edited by Prof. B. Ramaraju and published by A.P.Govt. Oriental Manuscripts Library and Research Institute, Hyderabad, 2008.

Śaivasiddhāntaśikhāmaṇi

Cheṅnapraggada Nāgeśvarakavi wrote Śaivasiddhāntaśikhāmaṇi in four chapters in dvipada form. Though it is

based on the siddhāntaśikhāmaṇi of Śivayogī Śivācārya, the author arranges 108 sthalas in his own way. He himself furnishes that he belongs to atreyagotra, son of Vīrabhadra and Guruvmba and a disciple of Mallampalli Rāmaliṅgarādhyā. It is an unpublished work. The exact date of the author is not known and he may not be earlier than 1700 AD.

Ṣaṭsthaladarpaṇamu

Siddddhānathudu elucidates the six sthalas of vīraśaivas in twenty nine verses of sīsa metre in the style of a taravali. The refrain in each runs like "bhaktahrtpadmabhrnga sri brahmaliṅga". Nothing is known about his date and parentage. (VV.p.161)

Śaivagamaśikhāmaṇi

Neppelle Appanaryudu of Kaundinyagotra, son of Brahmaliṅgarya and a disciple of Ivvaturi Ramanaradhya, composed Śaivagamaśikhāmaṇi in five chapters in padya form. It narrates the glory of bhasma, rudraksa, śivaliṅga, the results accrued on wearing them on the body and the procedure of worship of Śiva in each chapter respectively. (VV.p.163)

Anyavadakolahalamu

It is a sataka of 108 verses in sisa metre written by Śivayogindrudu, who dedicates this work to his master Palkuriki Somanatha. Nothing is known about him except that he belongs to the family of Siddharāmeśvara. It deals with the glory of wearing bhasma, rudrākṣa, liṅga, the superiority of Śiva, his adoration, the duty of a devotee, Śiva in Brahmana disguise and the eternality of Śiva. It was published from the Bhairava Mudrāksarasala, Bandar. (VV.p.168)

Mahatmyamulu

Śrisailamahātmyamu

Attaluri Papakavi also wrote Śrisailakhandamu also known

as Śriśailamahatmyamu. It is a translation of Śriśailakhandam, a part of the Skandapurāṇa. It depicts the glory of the famous pilgrim centre Śriśailam and its surrounding tīrthas located in Kurnul district of present Andhrapradesh. The work was dedicated to Kandukuri Murtiraju. (VV.p. 186)

Śriśailamahatmyamu

Nagaluri Seshanaradhyulu had also written Śriśaila-māhātmyamu known as Parvatapuranamu in six chapters. Though the date of the author is not known it is assumed that he belongs to the 16th century and is later them Palkuriki Somanatha. The work was published by Śaivasiddhānta Mudraksharasala, Chennapuri in the year 1888. (VV.p.203)

Rudrākṣamāhātmyamu

Puvatamantri Liṅgana, who had written Vīramāheśvara-carasangraha, composed Rudrākṣamāhātmyamu in dvipada form euloguing the glory of rudrākṣa and the effects of its being worn on the body. (VV.p.212)

Amalapurapu Sanyasakavi also composed a Rudrākṣa-māhātmyamu consisting of three chapters in verse form. (VV.p.213)

Vibhutirudrākṣamāhātmyamu

Pochiraju Virayakavi alias Kolakaluri Virana wrote Vibhutirudrākṣamāhātmyamu. It is a translation of the same name from the Brahmottarakhanda in dvipada from. It was dedicated to Sripatipanditārādhya of Vijayawada. (VV.p.215)

Pañcākṣarimāhātmyamu

Rentala Viranaradhya, a devotee of Pattasam Vīrabhadra had written Pañcākṣarimahtmyamu in five chapters glorifying the power of pañcākṣarimantra. (VV.p.219)

Śivarātrimāhātmyamu

The significance the Śivarātri festival was depicted in an

epic poem of five chapters by Akkanarya son of Mryutyunjayudu and Akkamambā, and the work is dedicated to Śriśailamallikārjuna. (VV.p.220)

Somavaramāhātmyamu

Tummalapalli Nāgabhusanakavi, the author of Basavavijayamu, wrote the significance of somavara (Monday) in eleven chapters. He compares the somavara of Śaivas to that of ekādaśī of Madhvas. (VV.p.223 and p.117)

Srigiri Mallikarjunavami and Eevani Vīrabhadrakavi also have written Somavaramahatmyamulu in dvipada form. They borrowed the theme from the portions of the Brahmottarakhanda. It is also known by name 'simantini katha'. (VV.p.224 and 226)

Kavyas or Prabandhas

On the lines of earlier poets who have borrowed themes from the Purāṇas for their independent epics (kavyass). Vīraśaiva authors too adopted themes for their epics from the divine sports of Śiva and the episodes of the devotees of Śiva like the marriage of Śiva with Gaṅga, the stories of Ballala, Siriyala etc.

Śivalalavilāsamu

Śivalalavilāsamu by Kuchimanchi Thimmakavi is a poem of two cantos (asvasas). It is an independent and original poem drawing its theme from the Skandapurāṇa. The marriage of Śiva with Gaṅga is described in the first canto. The second canto highlights the feelings of Pārvatī. Obviously the love is main sentiment. The author was known for his poetic talent and authored a dozen works. He himself states that he has composed this poem in 31 days in the year 1756 AD. (VV.p.233)

Ballālacaritra or Rajasekharavilasamu

The same Thimmakavi wrote another poem by name Ballālacaritra drawing the theme from the Basavapurāṇamu. The poem deals with the story of Ballāla, who offers his own

wife to fulfil the desire of the guest who is none other than Śiva himself. (VV.p.239)

Valeśvarakavi, son of Polaymatya and the disciple of Ivvaturi Ramanarādhya also authored Ballālacaritra in prose form. He includes the significance of smearing vibhuti, wearing rudrakṣa and reciting pañcākṣarīmantra etc., in the course of the narration of the story of Ballala. (VV.p.141)

Pochiraju Viranakavi, Basavanna, Nimbadridasu, Chittaru Gngadharudu were also composed Ballalacaritra in dvipada form.

Chittaru Gangadharudu apart from the Ballalacaritra also wrote Gangavilasamu and Siriyalavilasamu in dvipada form. His parents are Viraiah and Mallamamba. His Ballālacaritra and Siriyalacaritra were dedicated to Rachaviti Vīrabhadrasvāmī. His Ballālacaritra was published by Ganti Suryanārāyana Śastrī; Madras. The same work was reproduced in verse form by Kuchimanchi Thimmana in the name of Padyaballalacaritra. (VV.p.252)

Siriyalacaritra

Garikapati Tammayya wrote Siriyalacaritramu in three asvasas. The story of Cirutondanambi, a vīraśaiva devotee, is narrated in the poem. (VV.p.262)

Mariṅganti Venkatacharya has written Mallaricharitamu in four asvasas. The theme of the episode was drawn from the Skandapurāṇa. (VVp.273)

Mallaricharitramu

Maringanti Venkatacharya has written Mallaricharitramu in four asvasas. The theme of the episode was drawn from the Skandapurāṇa. (VV.p.273)

Malhamacaritamu

Edapati Erranayya wrote Malhamacaritamu in three

asvasas. It narrates a love story between Puṣpagandhi and Malhana, a devotee of Śiva. (VV.p.281)

Renukavijayamu

Sannidhanam Suryanarayana sastri on the request of Chidirematham Viirabhadra Śarma, who has become the Jagadguru of Jñānasiṁhāsanapīthaṁ of Varanasi, composed the life and achievements of Renukacārya in the name of Renukavijayamu. It is published in the year 1943 by Śivadharma granthamala, Secunderabad. (VV.p.294)

Due to the constraint of the time, the author could not consult the reference works other than the Vīraśaivandhravanmayamu. By Sista Rāmakṛṣṇa Śastri, the copy of which was also incomplete having missing many pages. The author regrets for the lapses.

*

Original and Translated Vīraśaiva Literatue in Tamil

Dr. T. Ganesan
Senior Researcher in Śaivāgama and Śaivasiddhānta
French Institute of Pondicherry, Pondicherry

Śaivism is one of the most ancient religions. We have many archeological and other evidences that show śaivism was wide spread not only in every part of our ancient Bhāratadeśa but also in many parts of the world. God Śiva is held as the highest and supreme Reality who controls the entire universe and the living beings is one of the most important concepts of Śaivism.

Without stopping with the many forms of religious practices, Śaivism also has a variety of philosophical concepts; from extreme dualistic thought on the on hand to non-dualism at the other end, one can find any number of variegated philosophical viewpoints. But fundamental to all these doctrinal variations is the concept of triple-categories (tripadārtha): the supreme and highest Lord of all the universe and living beings (Pati), the individual selves (Paśu) and the material universe that binds the beings (Pāśa).

Vīraśaiva Literatues : Preliminary Survey

The Vīraśaiva ācārya lineage in Tamilnadu

1. Civappirakāca cuvāmikaḷ
2. Cāntaliṅka cuvāmikaḷ
3. Kumāratēvar
4. Citamparacuvāmikaḷ

To take first Civappirakāca cuvāmikaḷ who in the main and a very important Vīiraśaiva literary activity in the Tamil country starts with Civappirakāca Cuvāmikaḷ from the 17th century as we do not come across any text in Tamil before this period and after him, it was a regular one for quite some time.

Prabhulinga Leelai

Gorakkar Gati

Prabhuliṅga Leelai is a 15th century Vīraśaiva work, written in Kannada and comprising 1,111 verses. It was originally composed when a Vīraśaiva scholar, Camarasa, was challenged to produce a work that was greater than either the *Mahābhārata* or the *Rāmāyaṇa*. Shortly afterwards Camarasa had a dream in which Vīrabhadra, the son of Śiva, asked him to write a long poem. Camarasa subsequently composed *prabhuliṅga Leelai* in eleven days, after which he presented it at the court of his king, where it was approved by both the monarch and the scholars who had challenged him.

This Kannada word was translated into Tamil verse by Śivaprakāśa Swāmigal, an accomplished Vīraśaiva poet and scholar, had a strong connection with Tiruvannamalai. His father, Kumāraswāmi Desikar, used to come to Arunāchala from Kañchipuram every year for the Deepam festival. It is said that his three sons, of whom Śivaprakāśa Swamigal was the eldest, were all born by the grace of Arunāchala. When Śivaprakāśa Swāmigal grew up, he had a Guru in Tiruvannāmalai - also called Śivaprakāśa - whom he visited regularly. On his first *pradakshina* of Arunāchala, Śivaprakāśa Swāmigal composed *Sonasaila Malai,* a hundred-verse poem in praise of Arunāchala.

On one of his journeys around Tamil Nadu Śivaprakāśa Swāmigal went to Tirunelveli to meet and be taught by a pandit who was an expert on grammar. This teacher accepted him as his student after Śivaprakāśa Swāmigal had demonstrated his exceptional proficiency him to go to a scholar and defeat him in a contest of Tamil Prosody, and as a condition of his defeat, make the scholar pay obeisance to the pandit.

Śivaprakāśa Swāmigal accepted the assignment and

1. Portions of this translation are taken from the Prabhuliṅga Leelai by David Godman

challenged the pandit to compose spontaneous verses, on a specified topic that they would both pick, that had no labial sounds in them. That is to say, the verses had to be composed without any letters such as 'm' and 'p', which are sounded by putting the lips together. The scholar was unable to compose a single verse with this restriction, whereas Śivaprakāśa Swāmigal managed to produce thirty-one on the prescribed theme. The rival scholar accepted defeat and went to prostrate before Sivaprakāśa Swāmigal's grammar teacher.

Śivaprakāśa Swāmigal died when he was only thirty-two, but in his short lifespan he composed many Tamil works, *prabhuliṅga* Leelai, chronicles the life and deeds of Allama Prabhu, a 12th century Vīraśaiva saint and teacher. There are two traditions regarding Allama Prabhu's life. Śivaprakāśa Swāmigal follows that tradition which sees him as a manifestation of Śiva Himself in *Prabhuliṅga Leelai.*

The 'Gorakkar Gati' ('The chapter on Gorakkar') begins with Allama Prabhu journeying towards (called here 'Mount Paruppatam'), a major Śaiva pilgrimage centre in Andhra Pradesh.

Just as the gentle southern
breeze caressing a grove of
young trees
causes their falme-like buds to blaze
forth,
He [Allama Prabhu] who is liberal in his compassion,
was wandering around,
having assumed a divine form that brought
delight to the hearts and minds of His devotees.
Beholding the broad-based Mount
Paruppatam, over which clouds laden with

rain hover,
He advanced towards it.

Note : The nest ninteen verses, which describe the scenery and the greatness of Mount Paruppatam, are omitted. The phrase 'such riches as these' in the next verse refers to these descriptions of Srisailam.

Allama, our king, He who is sweeter to us than a mother,
drew near to our holy mountain
Where such riches as these abound in
plenty. He reached the place where
Gorakkar dwelt,
he who, full of arrogance, rejoiced greatly in his
heart over his attainment of *kāya siddhi*.

Note : Gorakkar was a yogi who had striven hard to extend his lifespan andto make his body impervious to harm.Though the ideas expoused by Gorakkar seem tobe very similar to those propounded by Goraknath, a famous north Indian yogi who lived between the sixth and ninth centuries, this Gorakkar is probably a different man.

Kāya siddhi is the attainment of being able to extend the lifespan of the body indefinitely, and to make it indestructible through magic potions and spiritual exercises.

Seeing the supreme One approach, Gorakkar,
Deeming Him [Allama] to be a great *siddha* like himself,
was filled with pride [in his own achievements].
Instead of falling at the feet of the Eternal
One, whose feet are full-blown lotus flowers,
he stood there, with his hands joined

together. After offering Him a seat, he began
to speak: —
'You who are *jnana siddha,* vome!'

[Gorakkar speaks:]
'Since it has been granted to me this
day to greet your glorious arrival,
on this day, for me, the sun has risen in
heaven. What is more, on this day
my eyes have attained true sight.
Truth to tell, can such a meeting be easy to
attain for those who have not performed
tapas beyond compare?

All the scriptures declare that those who do not
unite with the band of devotees,
who, with the virtuous qualities as their
support, never swerve from the pure truth, can
never unite with the one who bears an eye on
His forehead. What profit can accure, so to
speak, to one
who possesses no initial capital?

The verse is derived from a similar idea that appears in *Tirukkural,* verse 449

For those with no initial capital, there will be no gain; for the king who lacks the support of wise counsellors there will be no stability.

Having addressed the Supreme Guru

with pleasant remarks of this kind,
in accordance with the civilities to be offered to a guest, he [Gorakkar] said: 'Pray tell, Great One, who are you who come here?'
He stood in a questioning attitude,
offering praise to that fair Ocean of Grace.

[Allama replied:]
'One who has eradicated as alien [to himself]
the dense, fundamental illusion of
egoity and has, in full clarity, realised
the Self - such a one will be able to
know Me also. What point is there in
speaking to one
who remains attached to the perishable
body?' So proclaimed He who knows *jnanis*
who have realised the truth non-
dually.

Note : The implication of the idea expressed in the final sentence seems to be that Allama Prabhu can see that Gorakkar is not enlightened.

Fully convinced that his body,
composed of the five elements, was his true
self, [Gorakkar] declared:
'He who, by the grace of the primal Lord,
has acquired *kāya siddhi*
through the use of magic pills and other
methods, will never die. This being so, death will

come
to him who has not acquired
them'.

[Allama replied:]
'You have stated that life is the body's life,
and that death is the death of this sack stuffed with
flesh, which is the body. It seems to me
that you think that your body is your very
self.
Your perception of the body is like that of the
Materialists who do not know anything other than the
body'.

Note : Allama is alluding to a group ('*Sarvaka*') which maintained that only information received by the senses can be regarded as valid knowledge. These people do not therefore accept the existence of God or the existence of any state after death. Allama continues:

'Sir, if the body is "I", then why do you refer to it as "my" body?
There are people who regard clothes and gold [ornaments],
which are worn and
removed, as their
possessions,
but if one ponders on
this, are there any among
them
who will call any of these items "I"?
Speak!' said Allama.

Gorakkar stood [his ground], and asked:
'Since we say "I thought, I ran [and so on],"
then please explain to me what this is that is called
"I". 'The virtuous and supreme *jñāna* Guru lovingly
replied:

'The statement "I thought" pertains to the mental faculties
only. In the same way, the "I" will have to be identified
with the body, the sense organs and the mental
faculties. If this is true, the "I" will become many [and
not one].
So, know that what you say is erroneous superimposition.'

Note : Allama uses the word 'attiyasam', which is the Tamil equivalent of the sanskrit '*adhyāsa*'. It means the transference of an attribute from one thing to another which does not really possess it.

'We use the term "life" to describe the activity of the *prāṇa*,
but that term is really, in its true sense, a name for the Self,
which is, in fact, entirely distinct from this *prāṇa*.
So say those who understand the grammar of
language. 'This spoke our Lord, out of true
understanding.
to abolish his delusion.

[Allama continues:]

'When the arcane *Vedas* proclaim that Self is being-consciousness-bliss,

why have you ruined yourself, thinking this body to be "I",

When it is merely a deceiving hovel of misery,
stuffed with flesh, fat, bones and skin,
which endures no longer than a lightning flash, and is gone?"

'Just as a man will feel disgust if he touches
some unclean fifth that lies in the street,
one who has set his heart upon gaining true
liberation, which abolishes the birth that fills him
with terror,
will feel revulsion for the impure bodily
form and free himself from it.'

'Like those who take medicine to cure an illness,
the great ones embrace *Śivam*,
intent upon quitting this remnant of a
body. Why do you endeavour to remain
united with this body with which you have
identified? This is like a sick person who
takes medicine
in order to remain united with his disease!'

'All your plans to render your body immortal
through the use of potions will accomplish
nothing other than prolonging the span of your
bodily existence. Your statement that the body is
indestructible is untenable. It is not proper that
you should thus assert
that your body is indestructible.

You whose penances are great, at least,
henceforth seek only liberation,' said the Lord.
Striking empty space, Gorakkar's arms grew seak
and he was filled with wonder for the Lord.
'The Supreme Light that I worship is truly He!' he cried,
his body perspiring as he quaked with fear.
Abandoning the pride he had entertained,
he began to follow the true path of pure love. After
prostrating himself at the feet of our King, which
are luxuriant lotus flowers, filled with nectar, he
rose to his feet and began to speak:

'If you come to know *Guhesan* [The Lord of the Cave]
as he really is,
the disease of birth will be ended for you,
and you will, as is fit, experience supreme bliss,'
said He who is without blemish.
[Gorakkar] replied: 'Praise be to You, my Father!
Show me Your loving compassion, and explain
the true meaning of the word *Guhesan*.
Show me Your grace that I may know
and fully comprehend who it is
that is designated by that name.'
With [Gorakkar] paying homage, our Lord replied:

'Note well the meaning [of this word]:
The cave [*guhai*] is the Heart,
and the one who dwells within it is *Īsan,* the Lord.
I Myself am the one who is implied

by the word *Guhesan.'*

Thus declared the Flawless One.

At this the *siddha* rejoiced in his heart,

and his face lit up as he asked:

'If you are [the Lord], then why in Your hand,

that is like a tender blossoming lotus flower,

do You hold a Śiva *liṅgam*? Plese explain.'

The phrase 'Lord of the Cave' ('*Guhesan*') is one that appears in almost all of Allama's

vacanas, his mystical poems. It seems to be his favourite epithet for the transcendent reality.

'In accordance with the

injunction solemnly enjoined

upon us

by the *vedas* and all the other holy books,

that a guru and teacher should always

engage in the performance of good works,

he who has the ability to subdue the

power

of the fetter [of bondage] in the aspirant, the mature

seeker, should only abandon the performance of good

deeds

when his body dies, and not before.'

Allama Prabhu's meeting with Gorakkar was also recorded in a work entitled *Sunyasampadane* (*The Achievement of Nothingness*). There, after Gorakkar has conceded defeat,

1. *Sunyasampadane,* ed. S.S. Bhoosnurmath, pub. Dharwar 1958, p. 449, cited in *Speaking of Śiva* by A.K. Ramanujan, pub, Penguin 1985, p.14

After this text we may pass on to the opus magnum of Civappirakāca cuvāmikaḷ, namely, his Tamil rendering of the original Sanskrit Siddhāntaśikhāmaṇi, composed of 880 Tamil verses of various metres, it is one of the master pieces of Cuvāmikaḷ and also of Tamil textual tradition.

The contents of the Cittāntacikāmaṇi:

First the Aṅkattalam with its 6 inner divisions of Pattattalam, Mākēcattalam, Piracātittalam, Pirāṇaliṅkittalam, Caraṇattalam, Alkkiyattalam are dealt with. Next, in the Linkattalam the Ācāraliṅkattalam, Kuruliṅkattalam, Civaliṅkattalam, Jaṅkamaliṅkattalam, Piracātaliṅkattalam, and Makāliṅkattalam are dealt with. Civappirakāca Cuvāmikaḷ describes all the 101 sthala-s-ekottaśatasthala–of the Vīraśaiva religio-philosophical system distributed in these two sections.

- Analysis of the text:

While paying obeisance to the Goddess, the Śakti of supreme Śiva, cuvāmikaḷ beautifully says that "the daughter of the mountain, Pārvatī is like a young girl who plays by constructing many small houses of the Māyā, the sand". In such a poetic statement Cuvāmiakḷ succinctly expresses the Śaiva doctrine according to which Māyā is the material by which innumerable worlds are created by Śiva.

Civaprakācacuvāmikaḷ salutes Basava deva by stating by saluting him the entire community of Śivaśaraṇa-s are saluted just as God Vināyaka, as told in the Purāṇic legend, circumambulated Śiva and claimed he had circumambulated the entire universe.

The Veda-s and the Śaivāgama-s are equally valid; they both propound the highest truth, Śiva, as the non-dual one. The role of Śiva as the creator of the universe, the status of the individual selves, their predicament in the world experiencing pleasure and pain, the final attainment of its actual state by the awakening of Śiva-knowledge are all well explained by

Civappirakāca cuvāmikaḷ very clearly mostly following the original text of Siddhāntaśikhāmaṇi. On the whole Cuvāmikaḷ strictly follows the original and tries to present the ideas clearly with his usual grip over the finesse about the Tamil poetic traditions.

The Cittāntacikāmaṇi is a valuable text both for the basic concepts of Vīraśaiva doctrines and practices as well as for the Tamil poetic beauty; the text tells so much about the great capacity of Cuvāmikaḷ as a great accomplished Tamil poet who at the same time is at ease with doctrinal intricates of the Vīraśaiva system. It is a testimony to his ability as a poet and a philosopher. Perhaps it is the first full fledged text in Tamil dealing with all the important aspects of Vīraśaiva system. For, we do not hear any other Vīraśaiva text in Tamil before the advent of Civapirakāca Cuvāmikaḷ. Certainly true to his capacities and erudition, Cuvāmikaḷ has given us a very valuable text enriching the Tamil literature 1 to a great extent. In fact Tamil Vīraśaiva teachers' lineage starts with Cuvāmikaḷ and he is counted to be the first of the Tamilnadu Vīraśaiva ācārya-s.

The next Tamil text of high value dealing exclusively with the Vīraśaiva system is the Civappirakācavikācam (Śivaprakāśavikāsa); this is also from the pen of Civapirakā Cuvāmikaī. Here Cuvāmikaḷ shows his full knowledge of the Śaiva philosophical doctrines based on the Śaivāgama-s. While the Cittāntacikāmaṇi was divided into explaining the Ṣaṭshala doctrine of the Vīraśaiva system in all its developments, the Civappirakācavikācam is composed in the traditional fashion–explaining the fundamental triple categories (tripadārtha), Pati, Paśu and Pāśa–of the Śaiva system. This text which is a original composition of Civapirakāca Cuvāmikaḷ, is made of 333 Tamil metrical verses of different metres.

In the very beginning verse itself Civapirakāca Cuvāmikaḷ states categorically that Śiva is the instrumental cause (nimittakāraṇam) for the entire creation, which view is one of the fundamental concepts of Śaiva system.

The gene. l presentation of the concepts such as Śiva. His attributes, His Śakti-s, His uniqueness, etc., are all mainly modelled on the earlier Śaiva philosophical manuals such as the Tattvaprakāśa of Bhoja; sometimes even passages from the Mṛgendrāgama (Vidyāpāda) and the Pauṣkarāgama that deal with these concepts are also seem to have been utilised by Civapirakāca Cuvāmikaḷ. In fact in verse 175 he approvingly cites the view of Tattvaprakāśa. Civapirakāca Cuvāmikaḷ also deals with various worlds (bhuvana-s) as part of his description of the six adhvā-s–mantra, pada, varṇa, tattva, bhuvana and kalā.

On the whole the Civappirakācavikācam is a compendium of all the fundamental philosophical doctrines of Śaiva system which is basic both to the Śaivasiddhānta as well as to the Vīraśavia schools.

Next in the comes the Cāntaliṅkacuvāmikaḷ. He has composed four text: the Kolaimaruttal, Vairākkiyacatakam. Vairākkiyatīpam and Avirōtavuntiyār. The first one, Kolaimaruttal mainly deals with the various sins of committing the act of killing animals for food, the sins and ill effects of consuming meat and the great merits of complete abstention from killing and from consuming meat. Cāntaliṅkacuvāmikaḷ states that one cannot cite as example different acts of great Śiva-devotees such as Kaṇṇappaar (who had offered raw meat to Śiva out of highest devotion) or Caṇḍeśa Nāyanār (who hit the leg of his own father when he kicked the milk meant for abhiṣeka of Śiva) and start doing such acts. For, these type of acts are done with utmost devotion and are uncomparable and orginary persons who do not possess such supreme devotion cannot do them.

The Vairākkiyacatakam consisting of 100 verses strongly advocates non-attachment (vairāgya) as the supreme virtue and presents its greatness. The author, Cāntaliṅkacuvāmikaḷ, being a disciple of Civappirakāca Cuvāmikaḷ, addresses his mind to

have firm faith and devotion on the holy feet of Civappirakāca Cuvāmikaḷ.

The Vairākkitatīpam also consisting of 100 verses, speaks the utmost importance of non-attachment and full renunciation for achieving the grace of Śiva and eventually union with Him.

The Avirōtavuntiār is another rshort poem by Cāntaliṅkacuvāmikaḷ where he derides the external show of one's ritual observances and other formalities without any devotion to Śiva. For him all formal rituals and other procedures will disappear once the true devotion to Śiva appears in his mind.

The next Vīraśaiva ācārya is Kumāeatēvar. He appears to hace composed 16 texts grouped under Kumāratēvar cāttirakkōvai.

They are:

1. Mahārājāturạvu: In 115 verses it deals with the Purāṇic legend of how one king named Mahārājā, possessed of extreme renunciation quit his throne and took to monastic life with a view to inculcate the greatness of renunciation.
2. The Cuttacātakam, another Vīraśaiva text composed by Kumāratēva contains 93 Tamil verses. After presenting the Kriyāmārga ina ageneral way as expounded in the Veda-s and in the 28 Śaivāgama-s, the jñānamarga expounded in the Vātula and other such Āgama-s are briefly explained.
3. The Viññānacāram in 97 verses deals with the general Śaiva doctrines, appearance of manifoldness in the unique Brahma, namely, Śiva, the fall of Śiva's grace (Śaktinipāta) on the self, etc.
4. Attuvitavuṇmai in 40 verses explains the natuer of non-duality.

5. Piramāṉupūtiviḷakkam again briefly talks about the nature Brahma-experience.
6. The Ñāṉavammāṉai is a small tract explaining the doctrines in simple language.
7. Vētāṇtatacāvattaikaṭṭaḷaccurukkam is a very brief prose listing the 36 tattva-s and their evolutes.
8. The ten philosophical concepts of Vīraśaiva system (daśakārya)–māyārūpa, māyātericana, māyācutti, cīvarūpam, cīvatericanam, cīvacutti, pirammarūpam, pirammatericanam, tēhkaivalliyam, and vitēhakat-valltyam–are very briefly explainedin prose.
9. Cakacaniṭṭai in 10 verses talks about the various qualities of the sefl.
10. Upatēcacittāntakkaṭṭaḷai in prose is a conversation between the disciple and the Guru on the state of the self.
11. Piramacittiyakaval deals with the nature of Brahma.
12. Civataricaṉa akaval again deals withthe non-ual relationship between Śiva and the self.
13. Ākamaneṟi akaval in a very brief manner speaks about the triple mala-s and their covering the self.
14. Vētaneṟi akaval briefs about the false appearance of snakein a rope and the actual nature of reality.
15. Piramāṉupava akaval expounds the Brahma realisation.
16. Civacamaracavāta akaval talks about experience o Śiva everywhere.

The next Vīra´aiva ācārya in line, Citamparacuvāmikaḷ, mostly wrote many commentaries on many of the compositions of Cāntaliṅkacuvāmiakḷ and Kumāratēvar.

This is a brief survey of Tamil Vīraśaiva literature that commenced in the early 17th century and blossomed into many texts and commentaries in the succeeding period. The originator

of this literary traditionis Civappirakāca Cuvāmikaḷ with his extensive writings and translations.

A detailed analytical study with more emphasis on the expositionof philosophical doctrines and other important Vīraśaiva concepts expounded in this literature will be of great contribution for the deeper understanding of Vīraśaivism in the Tamil country.

✱

हिन्दी में वीरशैव साहित्य : मूल तथा अनुवाद

उपोद्घात

सनातन वीरशैव धर्म की स्थापना श्रीभगवान् शिव अपने विशेष अंशवाले शिवगणों के रूप में अवतरित होकर प्रत्येक युग के आरम्भ में करते हैं। "इस सनातन वीरशैव धर्म के संस्थापक पाँच आचार्य हैं। शिव के पाँच मुखों से अवतरित इन आद्य आचार्यों ने प्रत्येक युग में विभिन्न नामों से वीरशैव धर्म की स्थापना की है।"[१] इन आद्य पाँच पीठों में से एक सुक्षेत्र काशी के सांप्रत पीठाधीश काशीज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री श्री श्री १००८ जगद्गुरु विश्वाराध्य डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्यजी के षष्ट्यब्दी के पूर्ति के उपलक्ष्य में आयोजित वीरशैव साहित्य संगोष्ठी में विविध भाषाओं में उपलब्ध वीरशैव साहित्य की चर्चा अपने आप में एक अहम् तथा ऐतिहासिक घटना है। मैं इसके लिए वीरशैव धर्म के मूर्धन्य विद्वान् पंडित श्रद्धेय सांप्रत श्री काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्यजी को साधुवाद देता हूँ। काशी जैसी ज्ञानियों की, विद्वानों की, संतों की, दासों की नगरी में, संपूर्ण भारत के विभिन्न भाषाभाषियों का महासंमेलन वीरशैव साहित्य को केन्द्र में रखकर हो रहा है।

वीरशैव धर्मानुयायियों की संख्या दक्षिण भारत में, विशेषत: कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु में अधिक है। आगम, सिद्धान्तशिखामणि जैसे प्रमुख शास्त्रग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में हुई है। आम आदमी के लिए शास्त्रों का विचार बोल-चाल की भाषा में गद्य-पद्य में लिखने तथा संवाद रूप में प्रसारित करने का काम कन्नड में शिव-शरणों ने, महाराष्ट्र में मराठी में वीरशैव संतों ने किया है। महाराष्ट्र के कुछ संतों ने हिन्दी (हिन्दुस्तानी) रचनाएँ की हैं। जिनका विचार इस आलेख में किया जा रहा है।

वीरशैव धर्म-दर्शन का विचार मूलत: संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध है। हिन्दी में, जहाँ तक मैंने देखा और पाया है, बहुत कम मूल ग्रंथ उपलब्ध हैं। सांप्रत काशीज्ञान-सिंहासनाधीश्वर पीठाधीश वेदान्ताचार्य, विद्यावारिधि डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्यजी लिखित 'वीरशैव अष्टावरण-विज्ञान' हिन्दी में उपलब्ध मूल ग्रंथ है। पद्य ग्रंथ में महाराष्ट्र के मराठवाडा अंचल के संत कवि लक्ष्मण महाराज (इ.स. १८०८-१८७८) १०८ हिन्दी पदों की रचना की है। पश्चिम महाराष्ट्र के वीरशैव संतकवि महादेव प्रभु ने हिन्दी में पद्य रचना की है। इनका काल इ.स. १८२४-१८९८ माना जाता है। महाराष्ट्र के ही लातुर के एक संत चन्ना (निश्चित काल उपलब्ध नहीं) ने भी हिन्दी में कुछ पदों और दोहों की रचना की है। इनके अरिरिक्त यदि किसी के द्वारा वीरशैव-साहित्य हिन्दी में उपलब्ध है, तो इस शोध-लेख में उसका उल्लेख इसलिए नहीं कि वह मुझे प्राप्त नहीं हुआ है।

मूल ग्रंथ

मूल ग्रंथों में "वीरशैव अष्टावरण-विज्ञान" समीक्षात्मक गद्य-ग्रंथ को पहले लेते हैं। इस ग्रंथ में वीरशैव धर्म की प्राचीनता, ऐतिहासिकता, तत्त्वों की चर्चा है। जिससे जिज्ञासु की जिज्ञासा की पूर्ति होगी। धर्म के संस्थापकों की, आचार्यों की, संतों, शिवशरणों-शरणियों की जानकारी प्राप्त होगी। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय 'अष्टावरण विज्ञान' है। 'अष्टावरण के अन्तर्गत अन्तरंग और बहिरंग स्वरूप की शास्त्रीय और वैज्ञानिक रीति से विवेचना प्रस्तुत की है। यह ग्रंथ हिन्दीभाषा में होने से सर्वग्राह्य है।' इस ग्रंथ के "विद्वत्पूर्णप्रशस्तिः" में सम्पूर्णानंद-संस्कृत-विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. रामकरणशर्मा लिखते हैं–"श्री रेणुकाचार्य आदि पंचाचार्यों द्वारा संस्थापित एवं महात्मा बसवेश्वर द्वारा पुनर्नवीकृत (पुनरुज्जीवित) शक्तिविशिष्टाद्वैत (वीरशैव) मत का साङ्गोपाङ्ग पर्यालोचन कर रहे हैं।"[३]

आगे आप लिखते हैं–

"उसी परम्परा में लेखक ने यह ग्रंथ 'वीरशैव अष्टावरण विज्ञान' हिन्दी भाषियों के ज्ञानवर्धन की दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ में साधक के लिए उपादेय १. गुरु २. लिंग ३. जङ्गम (शिव के साथ अभेद बुद्धि रखनेवाला महापुरुष) ४. विभूति ५. रुद्राक्ष ६. मन्त्र, ७. पादोदक तथा ८ प्रसाद इन प्रसिद्ध बहिरंग-अष्टावरणों का वीरशैव दर्शन के अनुसार साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार अन्तरंग अष्टावरणों का भी।"[४]

महाराष्ट्र में समन्वयवादी वीरशैव कई संत हुए, उनमें मन्त्रज्ञस्वामी लिंगेश्वर, बसवलिंग, महादेव, शिवदास, लक्ष्मण महाराज आदि हैं। महाराष्ट्र के आष्टी-जिला जालना के संत कवि लक्ष्मण महाराज ने मराठी में (५५०९ इतनी) विपुल पद्य रचना की है। इनमें आपने हिन्दी में १०७ पद रचनाएँ की हैं। "लक्ष्मण महाराज की हिन्दुस्तानी भाषा पर मराठी भाषा का प्रभाव है। इनमें बारह ज्योतिर्लिंग पर बारह पद हैं।"[५]

महाराष्ट्र के ही एक और वीरशैव सन्त श्रीमहादेव प्रभु जो वाई जिले के जांब निवासी थे। जिन्होंने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में पद्य रचना की है। इनमें भक्तहृदय की आर्तता, आत्मीयता, अनुभूति का निवेदन है। इन पदों में राजयोग तथा वेदांत दर्शन है। भावनाओं की विविधता दिखाई देती है। मराठी का कम अधिक मात्रा में प्रभाव इनकी हिन्दी रचनाओं का दिखाई देता है। दोहरे शीर्षक के अन्तर्गत जो हिन्दी की पद्य रचना दी है, वह हिन्दी के रूढ़ 'दोहा' पद्य बंध से अलग है। १५९ पृष्ठों के इस ग्रंथ में मराठी के अतिरिक्त हिन्दी की पर्याप्त रचनाएँ दिखाई देती हैं।

"महाराष्ट्र के ही एक वीरशैव संत कवि श्री चन्नाप्पा शिववसप्पा वारद ने भी हिन्दी में रचनाएँ की हैं। आप महाराष्ट्र के मराठवाडा अंचल के लातुर से हैं। आप प्रतिभाशाली भक्त-हृदय संत कवि हैं। हिन्दी के ३९ पद और ३२ दोहरे इस ग्रंथ में संकलित हैं।"[६] महाराष्ट्र के इन वीरशैव संतों के हिन्दी पद्यरचना की यह विशेषता है कि सभी ने समन्वय का विचार अपनी रचना का प्रमुख स्वर बनाया है।

वीरशैव साहित्य हिन्दी में मौलिक रूप में गद्य तथा पद्य में जो मुझे उपलब्ध हुआ, वह इस तरह है।

अनुवाद तथा समीक्षात्मक ग्रंथ

मूल की तुलना में हिन्दी में अनुवादित वीरशैव साहित्य : पद्य तथा समीक्षात्मक अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। वीरशैव धर्म के पुनरुत्थान का काम कर्नाटक में शिवशरणों ने वचनसाहित्य के माध्यम से, धर्म-सभा-संमेलनों, विचारों के आदान-प्रदान से किया। माली भण्डारी महात्मा बसवेश्वर, अकम महादेवी, सिद्धरामेश्वर, अक्कम्मा, अभुगे रायम्मा, आयदक्कि लक्कम्मा, नीलम्मा, मुक्लायक्का, काकव्वा, गोग्गव्वा, मोवगी महादेवम्मा, सत्यक्का, हडपदलिंगम्मा अल्लम्मा, चन्नबसवप्पा, जेडर दासिमय्या, आयदाक्कि मारय्या, उदिलिंगपेद्दी, नुलियचंदय्या मधुवय्य हडपद अप्पण्ण, अंलिगर चौडय्य, किन्नरी ब्रहमय्या, मडिवाल माचय्या, मोडगी मारय्या, तुरगादी रामण्णा, डरिलिंग देव, उलियुमेश्वर, चिक्कण्ण, एकांतद रामय्या, डोहर कक्कय्य, वगेय मदितंदे, बहुरूपी चौडय्या, मरूक शंकरदेव, घाड़टेवालय्या, वचन भांडारी शांतरस, हाकिनाक कल्लय्या, सोड्डक बाचरस, कोल शांतय्या, अजगण, और शिवशरणियों में नागलांविका, अन्य। इन शरण-शरणियों के वचनों का कम अधिक मात्रा में हिन्दी में अनुवाद उपलब्ध है। कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड के कन्नड अध्ययन पीठ द्वारा भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचनों का हिन्दी अनुवाद डॉ. एम्.एस. सुंकापुर, डॉ. एम्. बी. कोट्रशेट्टि के संपादन में प्रकाशित हुआ है। अक्कमहादेवी के वचनों का अनुवाद डॉ. नन्दिनी गुंडुराव द्वारा प्रकाशित हुआ है। महात्मा बसवेश्वर के वचनों का अनुवाद डॉ. भगवानदास तिवारी से सोलापुर से, आचार्य नंदीश द्वारा बसवमुक्ति मंदिर बीदर (कर्नाटक) से प्रकाशित हुआ है। बसव समिति बेंगकूर से शरणों के चुने हुए वचनों का अनुवाद डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी द्वारा संपादित, प्रकाशित हुआ है।

समीक्षात्मक ग्रंथों में डॉ. काशीनाथ अंबल ने (गुलबर्गा–कर्नाटक) "संतों और शिवशरणों के काव्य में सामाजिक चेतना" अन्नपूर्णा प्रकाशन–कानपुर–१९९०, वीरशैव धर्म के मूलतत्त्व मूल लेखक: डॉ. मल्लिदेवरू अनुवाद डॉ. शिवराज एच् भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली-वाराणसी से १९९१ में प्रकाशित हुआ है। कर्नाटक विश्वविद्यालय,

धारवाड से १९९३ में डॉ. श्रीमती मंगल देसाई द्वारा लिखित वीरशैव रत्ती शिवशरणी एवं सौराष्ट्र की महापंथी मका कवयित्रियाँ : तुलनात्मक अध्ययन ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। रुद्रलिंग संस्कृति नामक ग्रंथ आचार्य नंदीश ने १९९९ में बीदर से प्रकाशित हुआ है। बसव समिति-बेंगलुरू से डॉ. श्रीमती शकुंतला आर्-भूसनूरमठ द्वारा लिखित 'हिन्दी निर्गुण संत साहित्य और कन्नड वीरशैव शरण साहित्य में सामाजिक जागृति' ग्रंथ २००३ में प्रकाशित हुआ है। एक और ग्रंथ डॉ. काशीनाथ अंङ्गलगे द्वारा लिखित 'बसवेश्वर : काव्यशाली और सामाजिक शक्ति' लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद द्वारा २००६ में प्रकाशित हुआ है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त बसव समिति द्वारा हिन्दी में प्रकाशित ग्रंथ हैं–बसव वचनामृत उमापति शास्त्री, बसवदर्शन–डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर 'प्रेमी', अक्कमहादेवी वचन : डॉ. के. मुदण्णा, भारतीय भाषाओं में बसव साहित्य : डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर, श्रीमती वत्सला पाटील, अल्लमप्रभु डॉ. अजय कुमार सिंह, अल्लमप्रभु के वचन–डॉ. निप्पेस्वामी, सिद्धरामेश्वर के वचन : डॉ. मुद्दण्णा, श्री.वी. हनुमंत राव, सोमेश्वर शतक : श्री.वी. हनुमंतराव, शरणतत्त्वविवेचन : डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर 'प्रेमी' इन ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी में वीरशैव साहित्य गद्य और पद्य में उपलब्ध होगा। जिन ग्रंथों को इस शोध निबंध के लिए आधार बनाया गया है, उनका उल्लेखमात्र मैंने यहाँ किया है। इस आवेदन का उद्देश्य हिन्दीभाषियों को वीरशैव साहित्य का संक्षेप में परिचय मात्र करा देना है।

वीरशैव साहित्य : मूल

वीरशैव दर्शन का मूल आगमशास्त्र में है। 'वीरशैव अष्टावरणविज्ञान' में इसे वेदसम्मत बताते हुए लिखा है–

"वेदसम्मत इस सिद्धान्त शिवागम के उत्तरभाग में वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादित है, अत: आगमशास्त्र इसका मूल माना जाता है। इसीलिए पारमेश्वरतंत्र के–

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम् ।
कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि ।। (९.२२.२३)

इस वचन में आगमसम्मत षड्दर्शनों की गणना में वीरशैव की गणना की गई है। उसी पारमेश्वरतन्त्र में–

न वीरशैवसदृशं मतमस्ति जगत्त्रये ।
सर्वभोगप्रदं पुण्यं शिवसायुज्यदायकम् ।। (१.४२)

इस प्रकार इस मत की सर्वोत्कृष्टता भी बताई गई है।"[७]

वीरशैव धर्म तथा दर्शन उभय रूप है। दार्शनिक व्याख्या देते हुए आपने इसी ग्रंथ

में आगे लिखा है–'वी' धातु का अर्थ 'ज्ञान' अथवा 'विद्या' होता है। 'र' शब्द रमण का वाचक है। इस प्रकार 'वी' शब्द से प्रतिपाद्य जो शिव और जीव के अभेदबोधन करनेवाली विद्या है, उसमें रमण करने वाले शिवभक्त ही वीरशैव कहलाते हैं।[८] श्री दासगुप्त द्वारा 'सिद्धान्तशिखामणि' में प्रतिपादित वीरशैव शब्द के दार्शनिक विवेचन के बारे में आक्षेप का विस्तार से उत्तर दिया है। यहाँ पर उसकी चर्चा मैं आवश्यक नहीं मानता।

'वीरशैव' शब्द के धार्मिक निर्वचन देते हुए सिद्धान्तशिखामणि में चन्द आ. क्रियासार का दृष्टान्त देकर उसे समझाया है। इतना ही नहीं, 'स्कन्दपुराण' की 'शंकरसंहिता' के अनुसार लिखा है–

"यो हस्तपीठे निजमिष्टलिङ्गं
विन्यस्य तल्लीनमनप्रचारः ।
बाह्यक्रियासङ्कुलनिस्पृहात्मा
सम्पूजयत्यङ्ग स वीरशैवः ।।

इस श्लोक में करपीठ में इष्टलिङ्ग की अर्चना विधि को सम्पन्न कर उस तरह की अर्चना में अनुरक्त व्यक्ति को वीरशैव की संज्ञा दी गयी है। इससे वीरशैवों की यह इष्टलिंगार्चना कितनी प्राचीन काल से चली आ रही है, इसका भी ज्ञान हम लोगों को हो जाता है।"[९]

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र के अनुसार 'विशिष्ट ईर्यत इति वीरः' इस तरह 'वीर' शब्द की व्युत्पत्ति को बताकर उस विशिष्ट आचारवाले शैव को 'वीरशैव' कहा गया है। श्री नीलकंठशिवाचार्य ने क्रियासार के–

विरोधार्थो विशब्दः स्याद् रशब्दो रहितार्थकः ।
विरोधरहितं शैवं वीरशैवं विदुर्बुधाः ।। (भाग १, पृ. ११)

इस वचन में वीरशैव शब्द की व्युत्पत्ति विरोधरहित के अर्थ में बताकर वीरशैवों के सर्वलोकानुरागित्व को सिद्ध किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि वीरशैव लोग प्राणिमात्र के प्रति अनुराग करते आये हैं और आगे भी करेंगे।"[१०] इसी ग्रंथ में आपने आगे लिंगायत शब्द वीरशैव का पर्यायवाचक कैसे है–इसे सप्रमाण सिद्ध किया है। "महर्षि वेदव्यास के स्कन्दपुराण का दृष्टान्त देकर लिखा है–

शैलादेन महाभागा विचित्रा लिङ्गधारकाः ।
शवस्योपरि लिङ्गं च ध्रियते च पुरातनैः ।।
लिङ्गेन सह पञ्चत्वं लिङ्गेन सह जीवनम् ।।

(स्कंद., केदारखण्ड ७।४१-४२)

शिवलिंगनिष्ठा का बहुत सुंदर रीति से चित्रण किया है। शिवदीक्षा के अनन्तर जिसके जीवन का उत्तरकाल अधिकतर शिवलिंग पूजा, ध्यान आदि में यापित होता है, वही लिंगायत है।"[११] वीरशैवों के प्रभेद, दार्शनिक सिद्धान्त, विशेषाद्वैत, शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत आदि पर्यायी नामों की व्युत्पत्तिमूलक चर्चा की है। वीरशैव धर्म-दर्शन के संस्थापक आचार्य श्रीजगद्गुरु रेवणाराध्य (रेवणसिद्ध), श्री जगद्गुरु मरुयाराध्य, श्रीजगद्गुरु एकोरामाराध्य, श्रीजगद्गुरु पण्डिताराध्य, श्रीजगद्गुरु विश्वाराध्य को पंचाचार्य कहा जाता है। इन प्राचीन आचार्यों द्वारा स्थापित मठों में 'वीरमाहेश्वर' (जंगम) वंशोत्पन्न ब्रह्मचारी बटुओं का पट्टाभिषेक किया जाता है। इन पंचाचार्यों की विस्तृत जानकारी दी गई है।

वीरशैव धर्म के पुनरुज्जीवन में बसवेश्वर का योगदान पर विचार करते हुए इस बात का खण्डन किया गया है कि वे इस धर्म के संस्थापक थे।

"यह प्रवाद सुनने में आता है कि ख्रि. श. बारहवीं शताब्दी में कर्नाटक में अत्यन्त प्रख्यात चालुक्य वंश के बिजल नामक महाराजा के प्रधानमंत्री श्री बसवेश्वर के द्वारा इस धर्म की स्थापना हुई थी। किन्तु यह बात कदापि सत्य नहीं है, क्योंकि कर्नाटक के बीजापुर जिले के बागेवाडी ग्राम निवासी श्रीमादरस और मादलांबिका नामक ब्राह्मणदम्पतियों से उत्पन्न श्रीबसवेश्वर अपने आठवें वर्ष में ब्राह्मणोचित उपनयन संस्कार को त्यागकर तब कूडलसंगम क्षेत्र में प्रख्यात वीरशैवाचार्य श्री जातवेदमुनि शिवाचार्य से वीरशैवधर्मोचित इष्टलिंग दीक्षा को ग्रहण किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि बसवेश्वर से पहले भी यह धर्म था और इसके आचार्य भी थे।"[१२]

इस सन्दर्भ में डॉ. एस्.सी. नन्दीमठ, डॉ. भाण्डारकर, श्री के.ए. नीलकण्ठ शास्त्री, डॉ. जे.एन्. फर्क्युहर, डॉ. यदुवंशी के इस सन्दर्भ में विचारों को देकर बसवेश्वर को इस धर्म का प्रचारक बताया गया है।

"युगारंभ में पंचाचार्यों से संस्थापित वीरशैव धर्म का जब बारहवीं शताब्दी में ह्रास हो रहा था, उस समय बसवेश्वर का जन्म हुआ और उन्होंने इस धर्म में दीक्षा प्राप्त कर अपने जीवनपर्यंत इस धर्म के तत्त्व प्रचार के लिए बहुत परिश्रम किया। अतः वीरशैव लोग प्रतिदिन धर्मसंस्थापक पंचाचार्यों के स्मरण के साथ इस धर्म के प्रबल प्रचारक श्री महात्मा बसवेश्वर का भी चिन्तन करते हैं।"[१३]

वीरशैव साहित्य और उसके रचयिता शीर्षक के अन्तर्गत वीरशैव साहित्य के मूल स्रोत की चर्चा करते हुए संस्कृत में उपलब्ध ग्रेंथों और ग्रंथकारों के नाम दिये गये हैं। "सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार वीरशैव साहित्य का मूल स्रोत अट्ठाईस आगम हैं। इस आगम साहित्य के बाद का बहुत सा वीरशैव साहित्य अनुपलब्ध हो गया है। उनमें

सिद्धांतशिखामणि एकमात्र उपलब्ध है, जिसमें कि श्रीरेणुकाचार्य द्वारा महर्षि अगस्त्य को उपदिष्ट वीरशैव सिद्धान्तों का श्रीशिवयोगी शिवाचार्य के द्वारा संकलन किया गया है। शिवयोगी शिवाचार्य का काल लगभग ख्रि. श. आठवीं शताब्दी माना जाता है। इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी के श्रीपति पण्डिताराध्य द्वारा लिखित ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य सुप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा का वीरशैव साहित्य अपार है। उसमें कुछ प्रमुख ग्रंथ और ग्रंथकारों के नाम इस प्रकार है–

१.	श्री मायिदेव	अनुभवसूत्र व विशेषार्थप्रकाशिका
२.	श्रीनन्दिकश्वर	लिङ्गधारणचन्द्रिका
३.	श्री स्वप्रभानन्दशिवाचार्य	शिवाद्वैतमञ्जरी
४.	श्री मरितोंटदार्य	वीरशैवानन्दचन्द्रिका
५.	"	सिद्धान्तशिखामणि की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या
६.	"	कैवल्यसार प्रभृति ग्रन्थ
७.	केलदी बसव भूपाल	शिवतत्त्वरत्नाकर
८.	श्री शंकर शास्त्री	वीरशैव भाष्ययुक्त ईश, केन, मुण्डक, सिद्धान्तशिखोपनिषत्
९.	"	ब्रह्मसूत्रवृत्ति
१०.	श्री. टी.जी. सिद्धाप्पाराध्य	वीरशैवभाष्ययुक्त श्वेताश्वतरोपनिषत्
११.	"	भगवद्गीता और शरणगीता
१२.	"	शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन
१३.	ईशानगुरु	रेणुकचम्पू
१४.	सिद्धनाथ शिवाचार्य	रेणुकविजयचम्पू
१५.	वृषभलिंग शिवयोगी	शिवप्रसङ्गरत्नाकर
१६.	सोसले रेवणाराध्य	शिवाधिक्य शिखामणि
१७.	यत्नन्दूर षडक्षर कवि	कविकर्णरसायन
१८.	निट्टूर नञ्जणाचार्य	वेदान्तसार वीरशैव चिन्तामणि
१९.	वृषभ पण्डितशिवाचार्य	नारायणोपनिषद्भाष्य
२०.	मौनप्प पंडित	वीरशैवाचार कौस्तुभ

२१.	त्रिलोचन शिवाचार्य	सिद्धान्तसारावलि
२२.	शिवानुभव शिवाचार्य	शिवाद्वैतदर्पण
२३.	हूली नीलकंठ शिवाचार्य	शिवाद्वैत-परिभाषा
२४.	षडक्षरमन्त्री	वीरशैव धर्मशिरोमणि
२५.	गुलूरू सिद्धवीरणार्य	अनादि वीरशैव सार संग्रह

आदि संस्कृत के सैकड़ों ग्रंथ।''[१४]

इनके अतिरिक्त मराठी तथा कन्नड भाषा में वीरशैव-तत्त्व-प्रतिपादन करनेवाले सन्तों, शरणों की वाणियों में विपुल साहित्य उपलब्ध हैं।

डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्यजी के अष्टावरण विज्ञान में अष्टावरण, पंचाचार, षट्स्थल की जानकारी दी गई है। जो वीरशैव साधक के अंग, प्राण तथा आत्मा माने जाते हैं। अष्टावरण का विवेचन शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक ढंग से किया गया है।

ग्रंथ लेखक डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्यजी उपसंहार में लिखते हैं–

''अज्ञान को दूर करनेवाला सामान्य ज्ञान ही अन्तरंग का गुरु है, प्राणलिंग और भावलिंग ही अन्तरंग के लिंग हैं, तत्त्वज्ञान ही अन्तरंग का जंगम है, चिद्रूप परमात्मा का चिन्तन ही अन्तरंग का भस्म है, सभी वस्तु एवं व्यक्तियों में रुद्र को ही देखना अन्तरंग रुद्राक्ष है, शिव-जीव का ऐक्य बोध हो जाना ही अन्तरंग का मन्त्र है, स्वकीय परमानन्दस्वरूप का दृढ़बोध अथवा शिष्य में रहनेवाले बोध्य-बोधक भेद के निवृत हो जाने पर दोनों में अभेद ज्ञान हो जाना ही अन्तरंग का पादोदक हैं और मन का सदा प्रसन्नता में रहना ही अन्तरंग का प्रसाद है।

पूर्वोक्त बहिरंग अष्टावरण में श्रद्धा रखकर यथोक्त विधि से आचरण करनेवालों को ये अन्तरंग आवरण प्राप्त हो जाते हैं। अन्तरंग आवरण को प्राप्त करना मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना चाहिये, अत: केवल वीरशैव ही नहीं, प्रपञ्च के प्रत्येक मनुष्य को पहले बहिरंग अष्टावरण में पूजनीय स्थान में विराजमान गुरु, लिंग और जंगम में पूजा की सामग्री के रूप में विद्यमान विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र में और पूजा के फलस्वरूप पादोदक एवं प्रसाद में अत्यन्त श्रद्धा रखकर अन्तरंग अष्टावरणों को प्राप्त करके अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।''[१५]

श्रीलक्ष्मण गाथा

वीरशैव साहित्य हिन्दी में उपलब्ध मूल ग्रंथ के रूप में समीक्षात्मक एकमेव जो मुझे प्राप्त हुआ, उसकी चर्चा की है। अब पद्य रूप में हिन्दी में उपलब्ध साहित्य के ग्रंथ

में श्रीलक्ष्मण गाथा में १०८ पद्य हैं। लक्ष्मण महाराज मूलत: मराठी के संत कवि रहे हैं। जिन्होंने हिन्दुस्तानी में कुल १०७ पद्यों की रचना की है। अत्यंत सरल सहज शैली में लिखे हुए पद को समझने के लिए न कोष की आवश्यकता है, न किसी भाष्यकार की, पहले ही पद को लीजिए–

"शीतल चंदन शीतल जल रे। शिवजी को अति प्यारा है ।।१।।

ध्यावो ध्यावो सुख का थारा है ।।

थोड़ा बेल थोड़ी जी पतिया। थोड़ी भबुत प्यारी रे ।।२।।

नाना सुगन्ध पुष्प की माला। धूप दीप नैवेद्य है प्यारा रे ।।३।।

ध्यावो जी शिव जी भाव के भूके। हम तुमसे वो न्यारा रे ।।४।।

भक्तन के घर शिवजी का वास। लछमन का धन सारा रे ।।५।।"[१६]

वीरशैव लिङ्गोपासक, निर्गुणोपासक होने के बावजूद साधना के लिए शिवजी को प्रसन्न करने के लिए सगुणोपासकों की तरह अपने आराध्य को प्रसन्न करने के लिए पूजा-अर्चना करते हैं। इस पद में शिवजी को मलयागिरि का शीतल चंदन, हिम (ठंडा) जल, बेल के पत्ते, भस्म, फूल, धूप, दीप, नैवेद्य अत्यन्त प्रिय बताया गया है। अंतिम दो पंक्तियों में इन कर्मकाण्डों से वो भक्ति भाव के भूखे हैं, भक्तों का घर ही ईश्वर का निवास स्थान है, लिखा है। शिवजी को भक्त कवि श्रीलक्ष्मण महाराज अपना धन मानते हैं।

पद में 'रे', 'रे भाई', 'सखी री', 'हे मन', 'करो रे', 'देखो रे', 'पियो रे', 'लेवो रे', 'झूठी रे', 'धरो रे', 'भाई रे', 'आई रे', 'करो रे', 'आया रे', 'छोड़ो रे', 'चलो रे', 'भजो रे', 'स्मरो रे', 'मन रे', 'सुधारे रे', 'मुनी रे', 'माइ रे', 'बंदा रे' जैसे संबोधन कहीं श्रोता को तो कहीं अपने आप को, अपने आराध्य से संवादार्थ प्रयुक्त है। जिससे पदों में जान आ गयी है। संवादशैली के कारण उसमें प्रवहमानता आ गयी है।

नंदी, षण्मुख, भृंगी, नामदेव, सनकादिक, सिद्ध, साधु, ब्रह्मा, विष्णु, नारद, तुंपर, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव, ज्ञानदेव, निवृत्ती, मुक्ताबाई, सावता माली, गोरा कुम्हार, मुकुंद मुनी, संत तुलसीदास, कबीर, कमाल, रामदास, सूरदास, मीरा बाई आदि महाराष्ट्र तथा पूरे भारतवर्ष के संतों का उल्लेख भक्तिभाव तथा प्रेम से अपने पदों में करते हैं, खुद को बंदा बोलते हैं।

लक्ष्मण महाराज हिन्दी में अपना उल्लेख 'लछमन' करते हैं। बोली भाषा में लक्ष्मण के स्थान पर 'लछमन' अधिक ग्राह्य बन जाता है। दक्षिण भारत की हिन्दी 'दखनी हिन्दी' का आभास इन पदों में मिलता है।

महादेव प्रभुगाथा

महाराष्ट्र के एक अन्य कवि 'महादेव प्रभु' के हिन्दी पदों में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है। वे पद हिन्दी कम उर्दू अधिक लगते हैं। शायद उनके समय में महाराष्ट्र प्रचलित हिन्दुस्तानी का वही रूप हो सकता है। लक्ष्मण महाराज के बाद संख्या की दृष्टि से हिन्दी में विपुल रचना आपने की है।

मुरशद, परवर दिगार, दाता गरिबन को, नमाज, जिखरा, किताब-कुदाना, काजी, मदिना-मक्का, दस्ता-पंजा, ल्लाईल, पीर, पैगंबर, अलख-खलक, ख(क) बूतर, 'दिल लगा मेरा दीदार से', 'खूब रखो निगा हुशीयार से', 'ख़ुर्बान', 'लगा हस्क मुने इलाहा इल्लिला नुराना', 'बेदर्द', रज्म खुदाका, दोनो हारफ, 'आलं', 'मौला', 'निमाज ज़िखरा', 'पांचो बखत', दर्गा-महजिद अल्ली, जैसे अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है इनके पदों में।

योग-राजयोग का इनका विशेष अभ्यास होगा, अतः वैसे पदों की भरमार है। उदाहरण के लिए एक हिन्दी पद्य देखिए–

अलख खलक भरपूर भरा है सब पंची बोलत बोल रे।
गगन मंडल मो तारा झलके मोतन लडी अनमोल रे ।।१।।
गुरु कृपांजन भरले आखे मो ।।
करिया घुंगर खोल रे ।।२।।
प्रभु महादेव कहे सत जुहारी ।।
परखो परख ले लाल रे ।।अलख. ।।३।।[१७]

महादेव प्रभु राजयोगी संत थे। इनके गुरु कौन थे, इसका पता नहीं लगता। गुरु के बारे में पदों की रचना जरूर मिलती है। गुरु के सन्दर्भ में उनका यह पद देखिए–

"स्मर नर दुस्तर भवसागर तर गुरुपरारविंदा शरण जा गुरुपरारविंदा ।।१।। भज ।।

नरनार असुर सुर गुरुचरणों पर लाग रही तन मन धन से ।।२।। भज ।।

लय लागी मेरी गुरुवचन से ।। वेद पढ़े कोई पुजो विधि हरिहर से ।।३।। भजन ।।

गुरुपदारविंद मकरंद सेवी रसने ।। निजध्यास साक्षि लक्ष ब्रह्मी समरसने ।।४।। भजन।।

बुवाआदम् के कद्म परसे वदन मेरा बल जाऊ ।। कान सेस कुंडल सीस चंद्रमंडल गंगाजल कमंडल सुफल गुण गावू ।।५।। भजन ।।"[१८]

अंतिम पंक्ति में तो शिवजी का ही वर्णन है। वीरशैव तत्त्वों का विवेचन हिन्दी के पदों में कहीं नहीं मिलता। वीरशैव धर्म की उदारता, सर्वतत्त्वसमन्वय, विश्व मानन एक

मानकर श्रेष्ठ कनिष्ठता को दूर कर एकमात्र देव की कल्पना स्वीकार्य होने से वे ही विचार उन्होंने अपने पदों में रखे हैं।

श्री चन्नाकृत अभंगाचा गाथा

महाराष्ट्र के लातूर के एक और सन्तकवि चन्ना ने मुख्य रूप से मराठी में और गौण रूप से हिन्दी में रचनाएँ की हैं। उनके एक दीर्घ पद्यरचना में अष्टावरण के बारे में जानकारी दी गयी है।

गुरु का चरण जो कोई दबावें। उसकी जन्ममरण मिट जावे।
वो तो जीवन्मुक्त कहलावें। हमेशा ब्रह्मानंद में रहवें।।१।।
भस्म की महिमा सबसे भारी। भस्म तो लगावे नर नारी।
भस्म बिन कहलावे अनाधिकारी। भस्म लगावे सो अधिकारी।।२।।
तन मन धन ये तीनु देना। चूरण गुरु मुद्रिका लेना।
मैं तूं दोनों कूं बिसरना। आपहि आप में आप समाना।।३।।
जंगम महिमा सुनो तुम भाई। जंगम चैतन्य रूप सोई।
जंगम बिना ज्ञान नई पाई। जंगम स्वरूप है मोक्ष दाई।।४।।
जो नर भस्म नहीं लगावें। वो तो जन्म मरण दुःख पावें।
उसकूं यमदूत ले जावें। उठाके नर्क कुंड में भावें।।५।।
लिंग है जगतकु आधार। लिंग का रूप है निराकार।
लिंग बिन झूठा सब संसार। लिंगधारण करे सुरनर।।६।।
जंगम स्वरूप बड़ा अनिवार। जिसका किसकूं न लगें पार।
जंगम रहा जगतकु आधार। करें वो भक्तन कूं भवपार।।७।।
श्वासनकु भस्म लगा उस मात। यमदूत छोड़ गये प्रेत।
तुम सुनो भस्म की बात। उसकूं ले जावें शिवदूत।।८।।
जो कोई नक लिंगकूं देखा। उसका निकल गया सब धोका।
उसीने ब्रह्मानंद सुख चाखा। उसीने टालीं कर्म की रेखा।।९।।
चूरण पंचाकक्षरका भेला। जो कोई लेवें गुरु का चेला।
चुकाया जन्म मरण का झोला। रहा वो आपमें आप झोला।।१०।।
गुरु का तीरथ जो कोई लेवें। उसका विविध ताप हर जावें।
सब तीरथ में पाप धो जावें। गुरु तीरथ में मुक्त हो जावें।।११।।
गुरु का मंत्र लेना भाई। मंत्र बिन जप तप साधन नहीं।
मंत्र मूल प्रणय कह लाई। जगत में मंत्र बिना कुछ नहीं।।१२।।

सुनो तुम रुद्राक्ष की बढ़ाई। रुद्राक्षमाला फेरें जो कोई।
उसी का जन्म मरण हटजाई। वो तो निजानंद सुख पाई।।१३।।
गुरु का प्रसाद लेना भाई। प्रसादबिना शांत न होई।
जो नर प्रसादिक कहलाई। सो नर ब्रह्म में ब्रह्म हो जाई।।१४।।
चूरण सत्‌चित आनंद मोठा। जो कोई खावे गुरु का वोटा।
उसने नर तनु का रंग लूटा। हमेशा ब्रह्मानंद में बैठा।।१५।।
चूरण अष्टवर्णका मेला। खावें वीरशैव अलबोला।
चन्ना संगमबसवका चेला। हमेशा चूरण में रंगेला।।१६।।[१९]

श्रीचन्नाकृत अभंगाचा गाथा

वीरशैवानुयायियों में अष्टावरण के प्रति विशेष श्रद्धा है। चन्ना कवि ने विस्तार से इस पद में अष्टावरण का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इस तरह के पदों के अतिरिक्त हिन्दी में ३२ दोहे लिखे हैं। दोहरे शीर्षक के अन्तर्गत उन्हें संकलित किया है। दिल, नारी, ब्रह्म, अल्लाह, कर्म, क्रोध, मन, संसार की असारता, नर जन्म, जीवन-मृत्यु, तीरथ, जप, इश्क, मोक्ष, संतसंग, अहंकार, आत्मा, अज्ञान, पीर-पैगंबर जैसे विषयों को लेकर इन दोहों की रचना की है। इन दोहों पर हिन्दी पूर्ववर्ती रचनाकारों की छाया दिखाई देती है। जैसे–

माला जपें हात में जीभ जपें कछुं नाम।
दिलकू ध्यास लग गया तो क्या किसी का काम।।[२०]

कबीर के ''माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुखमाहि'' इस दोहे की याद सहज ही में आती है। ''कस्तुरी कुंडलि बसै मृग ढूँढै बन माहि'' दोहे की याद अगला दोहा पढ़ते हुए आ जाती है–

मृग नाभी में कस्तुरी पन मृग सुंगत फिरें घास।
तैसा आत्म तूंहि है केंऊं फिरे दुजियन को ध्यास।।[२१]

'वीरशैव साहित्य' हिन्दी में मूल रूप में बहुत ही अल्प है; जिनकी चर्चा ऊपर की है। डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्यजी के मौलिक समीक्षात्मक ग्रंथ के अतिरिक्त श्रीलक्ष्मण महाराज, श्रीमहादेव प्रभु, श्री चन्ना इनकी रचनाओं में वीरशैव सिद्धांतों, आचार-विचारों की न तो चर्चा है, न ही उसका आभास।

हिन्दी में वीरशैव साहित्य : अनुवाद

अनुवादित हिन्दी-साहित्य, मूल की तुलना में अधिक है। सारा अनुवाद कन्नड

शरण-साहित्य का ही है। वीरशैव धर्म-दर्शन का पुनरुत्थान बारहवीं सदी में हुआ। सभी वर्ण-जाति के स्त्री-पुरुषों ने इस धर्म की दीक्षा लेकर अपने अनुभवों को अपनी भाषा में व्यक्त किया है। आचार तथा विचारों का प्रतिपादन स्वानुभवों पर आधारित होने के कारण उनका विशेष महत्त्व है। जहाँ सारे शिवशरण एकत्र आकर विचार मंथन किया करते थे, उसे 'अनुभव मंटप' नाम दिया था। कईयों ने इनका अनुवाद अपनी अपनी भाषाओं में अपनी शैली में किया है। हिन्दी में भी पर्याप्त अनुवाद तथा समीक्षात्मक ग्रंथों की निर्मिति हुई है। इनमें धारवाड के कर्नाटक विश्वविद्यालय के भाषा विभाग के द्वारा हुआ अनुवाद ग्रंथ रूप में विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग से हुआ है। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्यों तथा शोधकर्ता छात्रों द्वारा हुआ शोधकार्य लक्षणीय है। तुलनात्मक, समीक्षात्मक ग्रंथ जो मुझे उपलब्ध हुए, उन्हीं के आधार पर यह आलेख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

हिन्दी में प्रकाशित, अनुवादित इन रचनाओं के कारण पूरे देश के धरातल पर विश्व के स्तर पर इन शिवशरणों के वचन साहित्य को सम्मानित होने का अवकाश प्राप्त हुआ है। 'भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचन' नाम से दो भागों में कन्नड अध्ययन पीठ, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड से महात्मा बसवेश्वर के कन्नड वचनों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

"महात्मा बसवेश्वर १२वीं शताब्दी के महान् दार्शनिक, राजनीति-विशारद और क्रान्तिकारी समाजसुधारक थे। वे कर्नाटक में पैदा हुए, पर उनकी विचारधारा न केवल सारे भारतवर्ष के लिए, अपितु विश्व के लिए भी वरदान सिद्ध हुई। उनसे प्रवर्तित जीवन मूल्य कालातीत एवं सीमातीत तथा वर्तमान युग के लिए अति लाभप्रद है। उनका कार्य क्षेत्र मुख्यत: कर्नाटक एवं दक्षिण भारत था। महाराष्ट्र, उड़ीसा, गुजरात, उत्तर प्रदेश एवं काश्मीर तक उनका प्रभाव था।"[२२]

महात्मा बसवेश्वर ने धर्म को, दर्शन को अत्यंत सरल-सुगम बनाया। अध्यात्म चिंतन को जनसाधारण के लिए सुपाच्य बनाया। बसवेश्वर ने सुधारवादी विचारकों को इकट्ठा किया, उनके विचारों के बल पर समाजव्यवस्था में परिवर्तन लाने का सफल प्रयत्न किया।

भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचन भाग-१ में कुल ७६५ वचनों का हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। वीरशैव दर्शन में लिंगांग सामरस्य (जीव-शिव ऐक्य) के लिए छ: सोपान बताये गये हैं–भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और ऐक्य। इन्हीं को व्यक्त करनेवाले वचनों का हिन्दी में अनुवाद इस भाग में है।

अनुवादित वचन (काव्य) साहित्य के बारे में कुछ लिखूँ, मैं यह स्पष्ट करना चाहूँ कि मूल रचना का सौन्दर्य चाहे वह गद्य में हो या पद्य में, अनुवादित रचना में नहीं आ सकता। मूल रचना का आशय मात्र अनुवादित रचना से समझा जा सकता है।

भाग १ में भक्त और माहेश्वर स्थल संबंधित वचनों का समावेश है। भक्तस्थल के अन्तर्गत पिण्ड, पिण्डज्ञान, संसार हेय, गुरुकरुणा, विभूति, पंचाक्षरी, लिंगधारण, तामस निरसन, भक्त का भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण, ऐक्य स्थल से संबंधित वचनों का अनुवाद किया है। माहेश्वर स्थल के अन्तर्गत-माहेश्वर का ज्ञानी, माहेश्वर,भक्त, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और ऐक्य स्थल से संबंधित वचनों का हिन्दी काव्यानुवाद, वचनों में आये सन्दर्भों की अन्त:कथाएँ दी गई हैं। पारिभाषिक शब्दावली देकर अनुवादित वचनों का काव्यानुवाद सुगम बनाया है।

महात्मा बसवेश्वर को कर्नाटक में 'बसवप्पा', 'बसव' नाम से संबोधित किया गया है। अनुवाद में 'काव्यानुवाद' गद्यानुवाद की तुलना में अधिक कष्टप्रद है। मूल भाषा में जिस 'काव्यानुबंध' में लिखा जाता है, जरूरी नहीं। अनुवादित भाषा में उसी तरह आ जाये। अनुवादक स्वतंत्र रूप से आशय को बाधा न लाते हुए अनुवाद करता है। जिन्होंने मूल रचना पढ़ी है, जो उस भाषाओं के ज्ञाता हैं, उन्हें मूल रचना जितनी पसंद होती है–अनुवाद पसंद आयेगा ही यह संभव नहीं। उदाहरण के लिए भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचन भाग एक के मूल वचन और उसके काव्यानुवाद को लेकर इसको समझायेंगे। हिन्दीभाषी को मूल भाषा कन्नड का ज्ञान होगा ही ऐसा नहीं है। तब भी इसे समझाने का प्रभाव करते हैं–

"हाथी बड़ा, अंकुश छोटा, कह सकते हैं? कभी नहीं।

पर्वत बड़ा, वज्र छोटा, कह सकते हैं? कभी नहीं।

अहंकार घना, प्रकाश धीमा, कह सकते है? कभी नहीं।

विस्मृति बड़ी, आपका स्मरण करनेवाला मन, छोटा यह कह सकते हैं? कभी नहीं।

कूडल संगम देव!"[२३]

इसका मूल कन्नड वचन भी यहाँ देते हैं–

"करि घना, अंकुश किरिदवबहुदे बारदै अय्या? गिरि घना, वज्र किरिदनबहुदे बारदे अय्या!

तमंथ घना, ज्योति किरिदनबहुदे बारदैअय्या? मरहु घना, निम्म नेनहु किरिदनबहुदे बारदै अय्या? कूडलसंगमदेवा निम्म कृपेय पनव निमे बल्लिरि।"[२४]

प्रत्येक प्रश्न में आर्जव, आर्तता, वात्सल्य भाव के साथ भक्तश्रेष्ठ बसवेश्वर ने पाठक, श्रोताओं को प्रेम भाव से, संभाषण करते हुए 'अय्या' बोलकर संबोधित किया है जो कि हिन्दी अनुवाद में नहीं है। प्रश्न में ही उत्तर समाहित होने के कारण अलग से उत्तरार्थी पद्यांश लिखने की आवश्यकता नहीं थी, जो मूल रचना में नहीं है। हिन्दी अनुवाद में 'कभी नहीं' अनावश्यक होते हुए उसे रखा है मूल काव्य को अनुवादित काव्य में लाने

में त्रुटि-सी अनुभव होती है। मूल वचन में भक्ति भण्डारी बसवेश्वर ने अंतिम पंक्ति में अपने आराध्य कूडलसंगम देवको संबोधित कर आपकी करुणा-कृपा की सघनता आप ही जानते है, कोई और नहीं। इस तरह शरणागत भाव व्यक्त किया है, जो हिन्दी काव्यानुवाद में लेशमात्र भी देखने को नहीं मिलता। प्रत्येक पद (वचन) को लेकर यह कहा जा सकता है। किन्तु इस सन्दर्भ में न केवल इसी अनुवाद के बारे में तो सर्वसामान्य रूप से यह देखा जाता है कि मूल रचना के आशय मात्र को अनुवादक अनुवाद में लाता है।

'गुरु' वीरशैव दर्शन में अष्टावरण में पहले स्थान पर है, षट्स्थल में गुरु करणस्थल में विचारणीय है। कबीर ने जैसे गोविंद से गुरु को बड़ा बता दिया है; म. बसवेश्वर ने भी उनके श्रेष्ठत्व को स्वीकार किया है। वे कहते हैं 'शिवपथवन अखिडे मोदलु गुरुपथवे कूडलसंगमदेवा'; शिवपथ जानने के पहले गुरुपथ पर चलना जरूरी है।

विभूतिस्थल के एक वचन का अनुवाद अधिक गद्यप्राय हुआ है। काव्य में क्रियापद की योजना बहुत कम होती है, यदि होती भी है, तो गद्य-सा कर्ता-कर्म-क्रियापद क्रम तो नहीं होता। इस वचन को देखिए–

"कमल सरोवर की शोभा है;
तरंग सागर की शोभा है;
गुण नारी की शोभा है;
चन्द्रमा गगन की शोभा है;
कूडलसंगमदेव के शरणों के
ललाट की विभूति ही शोभा है।"[२५]

इसकी मूल रचना कन्नड में देखिए–

"निरिंगे नैदिलेये शृंगार
समुद्रक्के तेरेये शृंगार
वारिगे गुणवे शृंगार
गगनक्के चंद्रमने शृंगार
नम्म कूडलसंगन शरणरिगे
नोसल विभूतिये शृंगार।"[२६]

मूल कन्नड में कम शब्दों में आशयसघनता दृष्टिगोचर होती है। वीरशैव सदाचार को अधिक महत्त्व देते हैं। 'आचार' शब्द का प्रयोग 'सदाचार' इस अर्थ में करते हैं।

'आचारवे स्वर्ग अनाचारवे नर्क'

सूक्ति में अपनी बात को बाँधते हैं। अपनी अर्थात् "वीरशैव दर्शन" को बोलते हैं। कर्म को अधिक महत्त्व देते हैं। भगवद्गीता के कर्मयोग को इन्होंने कम से कम शब्दों में प्रभावी रूप में आम आदमी को समझने योग्य शब्दों में रखा है। कर्नाटक में वह अत्यधिक प्रचलित, लोकभाषा में मुहावरे की तरह बना है।

"कायकवे कैलास"

कायक अर्थात् 'कर्म' करना ही कैलास को प्राप्त करने जैसा है।

ईश्वर एक है, उसके नाम भले ही अनेक हों। एक ही ईश्वर मानकर उसकी आराधना करनी चाहिए। एकाधिक देवताओं के पीछे भागनेवालों को एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट रूप में कह दिया है।

'देवता एक है, नाम भले अनेक हो

परम पतिव्रता स्त्री का एक ही पति होता है।'–बसवप्पा[27]

धर्म की व्याख्या सर्वसामान्यों की समझ में आ जाये, इसलिए आम आदमी की बोली भाषा में समझाया आपने। कर्मकाण्डों में नहीं नियत कर्म में धर्म है। सभी जीव मात्र में शिवतत्त्व छिपा हुआ है। समाज में चातुर्वण्यानुसार जिन्हें समाज से दूर रखा था, उन्हें अपने सगे संबंधी बनाकर, उनसे विवाह संबंधों से, सवर्णों के साथ लाने का प्रयास किया। सब जीव मात्रों के लिए धरती एक, पानी एक है तो उस पर बने शिवालय और हरिजनों की बस्ती अलग कैसे? शौच आचमन के लिए प्रयुक्त पानी मूलत: एक है, तो मनुष्य निर्मित वर्णभेद क्यों? लिंग दीक्षा देकर उन सबको आपने लिंगायत बनाकर बराबर को हक दिलाया। वीरशैव धर्म का तत्त्व आचरण में लाकर उसका प्रचार तथा प्रसार अपने जीवनावधि में पूरे जोर-शोर से अपने शरण परिवार समेत किया। कर्नाटक विश्वविद्यालय से आपके वचन साहित्य पर पर्याप्त काम हुआ है, इधर महाराष्ट्र के शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर से भी काम हुआ है। शोध कार्य ग्रंथ रूप में अंशत: प्रकाशित हुए हैं। इसमें उनके व्यक्तित्व को लेकर शोध हुआ है, उनके व्यक्तित्व के साथ अन्य सन्तों, शरणों के जीवन का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वैसे ही उनके कृतित्व अर्थात् वचनों का स्वतंत्र रूप में और अन्य संतों के रचना के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

महात्मा बसवेश्वर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक पृष्ठभूमि का ग्रंथकारों ने विचार किया है। समकालीनों की दृष्टि में बसवेश्वर के वचन साहित्य का विचार किया है। उन्होंने अनुभव मंडप की स्थापना की– उस सन्दर्भ में किया हुआ विचार प्रमुख रूप से आता है। उन्होंने पुरोहितवाद का विरोध

किया, बाह्याडम्बरों का खण्डन किया, ग्रंथस्थ ज्ञान का तिरस्कार किया। गुरु के प्रति समर्पण भाव, कथनी-करनी एक होने पर जोर दिया, सदाचार-सत्यवाणी, अंतरंग शुद्धि, बहिरंग शुद्धि, सत्संग, दया भाव को महत्त्व दिया। बुद्ध, महावीर, पैगम्बर, जैसस, मार्क्स, अम्बेडकर, जैसे महापुरुषों के साथ तुलना की है ग्रंथकारों ने। दास सम्प्रदाय में कबीरदास के साथ उनके रचनाओं की तुलना की है। शिवशरणों शरणियों की वचनों की तुलना कबीर के अतिरिक्त रविदास, दादू दयाल, रज्जब, सुन्दरदास, गरीबदास, बषना वाजिद और भीषनजी, पीपा, धन्ना, कमाल, गुरुनानक, यारीसाहब, लूला साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, जगजीवन साहब, हरिदास, मलूकदास, धरनीदास, दरियाद्वय, बिहारवाले दरिया साहब, चरनदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि के साथ की है।

शिवशरणों ने जाति-पाँति, संग्रह प्रवृत्ति का विरोध किया है। नारी-प्रशंसा, अन्ध श्रद्धा का खण्डन किया है।

शिवशरणियों एवं सौराष्ट्र की महापंथी भक्त कवयित्रियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है डॉ. श्रीमती मंगल देसाई ने। वीरशैवों की भाँति सौराष्ट्र के महापंथियों ने जाति-पाति आदि भेदभावजन्य समाजरचना का तीव्र विरोध किया है, अतः शोधकर्त्री ने इस विषय पर संशोधन कार्य किया हैं।

शिवशरणियों में गंगाबिके (गंगम्म) नीलांबिके (नीलम्म) ये दोनों बसवेश्वर की क्रम से प्रथम और द्वितीय पत्नी हैं। बसवेश्वर की बड़ी बहन अक्क नागम्म, बिज महादेवी, गुड्डापुर दानम्मो, आयदक्कि लक्कमा, उरिलिंग पेद्दिगल, पुण्य स्त्री कालप्वे हैं। इनकी तुलना महापंथी इन संत कवयित्रियों के साथ की है–सती तोरलदे, सती लोयण अथवा लोचन, गंगासती पानबाई, रूपांदे आदि।[२८]

कर्नाटक की वीर विरागिणी महाशिव शरणी अक्क महादेवी की तुलना कई कारणों से संत मीराबाई से की जाती है। बचपन से मीराबाई गिरिधर गोपाल को अपना पति मान लिया था, तो अक्क महादेवी ने चन्नमल्लिकार्जुन (शिवजी) को अपना पति मान लिया था। दोनों में उस ईश्वर के प्रति होनेवाली समर्पण वृत्ति पराकोटि की है।

डॉ. नन्दिनी गुण्डुराव ने अक्क महादेवी के कन्नडवचनों का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करते हुए उन्हें षट्स्थल के अनुसार विभाजित कर प्रस्तुत किया है। अक्क महादेवी के जीवन से संबंधित वचन हैं, जिनसे उनके स्वभाव का पता लगता है। ईश्वर को पाने की लालसा में सगे-संबंधी, माता-पिता, पति को छोड़कर चल देती हैं। माता पिता को वह कहती है–

"भूख लगी तो भिक्षान्न है,
प्यास लगी तो तालाब और कुएँ हैं

निद्रा के लिए उजाड़ मंदिर हैं
मेरे संग चन्न मल्लिकार्जुन हैं''[२९]

मूल कन्नड वचन हैं–

"हसिवादोडे भिक्षान्नगकुंटु
तृषेयादोडे केरे भावि गकुंटु
शयनक्के हाबुदेगुलुगकुंटु
भालसंगातक्के निनेनगुंटु चन्न मलिकार्जुन[३०]

अक्क महादेवी को अपने आप में इतना विश्वास है कि वह उसके ईश्वर से अलग होती नहीं, वह हमेशा उसके साथ ही रहती है। सर्वसंगपरित्याग कर वह कदली वन में रहती है, जहाँ जंगली हिंस्र पशु आदि के साथ निर्भय होकर रहती है। इसी आशय का वचन में आप लिखती है–[३१]

बेहद मेलोंदु मनेय भाडी
मृगगविगंजिदडेंतय्या !
समुद्रदतडिलोंदु मनेय माडी
नोरेतेरे गदिगंजिदडेंतय्या !
संतेयोदुगोंदु मनेय माडि
शब्द को नाचिदडेंतय्या !
मल्लिकार्जुन देवा, केवय्या
लोकदोडगे दुहिद नविक
स्तुति निंदेगनु बंदडे
मनदल्लि कोमल तावदे
समाधानियागिरबेकु ।''

इस वचन का हिन्दी में अनुवाद डॉ. गुंडुराव ने इन शब्दों में किया है–

"गिरि पर बसा इक घर
पशुओं से कैसा डरना !
सागर तट पर बना इक घर
लहरों से कैसा डरना !

बाजार में बना इक घर, शब्द से क्या लजाना
सुन, चन्नमल्लिकार्जुन !
संसार में जन्म लेकर
स्तुति-निंदा से विचलित न होकर
मन में क्रोध न कर,
शान्तचित्त से चाहिए रहना।"[३२]

निर्भय होकर स्वतंत्र रूप से जीवन यापन करना, स्तुति-निंदा को समान मानकर जीना सभी को नहीं आता, असामान्य, महाविरागिणी, अक्कमहादेवी ने जो लिखा है, वैसे जिंदगी जी रही है वह! अत: कई कारणों से मीराबाई से वह सरस लगती है। जो महात्मा बसवेश्वर के वचनों के काव्यानुवाद के बारे में कही, वही अक्कमहादेवी के वचनानुवाद के बारे में कही जा सकती है। काव्यानुवाद पूरी तरह से सफल हुआ है, ऐसे नहीं लगता!

डॉ. श्रीमती शकुन्तला आर्. भूसनूरमठ ने "हिन्दी निर्गुण संत साहित्य और कन्नड वीरशैव शरण साहित्य में सामाजिक जागृति "विषय पर परिश्रमपूर्वक रचना की है। बारहवीं सदी में महात्मा बसवेश्वर के नेतृत्व में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति घटी। नैतिक, आध्यात्मिक और मानवीय मूल्यों के आधार पर सर्वसमभाव समाज का निर्माण करना ही इस क्रांति का मुख्य लक्ष्य था। शरणों ने कहा कि मानव की गरिमा, जन्म से नहीं, उसके कर्म और सद्‌गुणों से होती है। शरणों ने बाह्य दिखावे का खण्डन किया है, निर्गुण-निराकार-एक देवोपासना पर बल दिया है। ऊँच-नीच भाव का खण्डन किया है। समानता पर आधारित समाज की स्थापना की। सभी प्रकार के कर्मों को समान बताकर 'श्रम' गौरव किया। स्त्रियों को पुरुषों के बराबर का हक दिया। आम लोगों की बोली भाषा में वचनों की रचना कर, धर्म की सरल-सहज व्याख्या की है।

उत्तर भारत के निर्गुण संतों के साहित्य में इन्हीं तत्त्वों की प्रतिष्ठापना की गयी है। रामानंद, कबीरदास, रैदास आदि संतों की उक्तियाँ इन्हीं तत्त्वों को अभिव्यक्त करती हैं। शरणों के समान, संत भी निर्गुणोपासक हैं। निर्गुणी संतों ने भी निरर्थक, धार्मिक आचरण से मानव मूल्यों को ही अधिक महत्त्व दिया। उनका विश्वास था कि ऐसे प्रगतिपूर्ण मूल्यों के आधार पर समाज का विकास होगा।

डॉ. शकुन्तला भूसनूरमठ ने इस ग्रंथ में वीरशैव सिद्धांतों का परिचय देते हुए, शरणों एवं संतों की जीवनी तथा संदेश के बारे में भी संक्षेप में विवरण दिया है। कबीर ने निर्गुण-निराकार ईश्वर के बारे में उसे फूल की गंध से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पतला बताया

है, जो आप सभी विद्वज्जन जानते हैं–

जाके मुँह मात्रा नहिं, नाहि रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तन्त्र अनूप।।

महात्मा बसवेश्वर मंदिर-शिवालय की कल्पना को नकारते हुए अपने शरीर को ही मंदिर की उपमा देते हैं–

उववववरू शिवालय माडुवरप्पा,
नानेनुमाडलि बडवनय्या।
एक काले कंब, देखे देगुल
शिखे होकर करुसवय्या।।
स्थावरकवउंटु जंगमकविविल्ला कूडलसंगमदेवा

अर्थात् धनी लोग ईश्वर के लिए मंदिर बनवाते हैं, किन्तु मुझ जैसा गरीब क्या करे? मेरे पैर ही मंदिर के खंभे हैं, शरीर ही देवालय है, सिर ही मंदिर का सुवर्ण कलश है। शरीर में स्थित परमात्म तत्त्व के लिए मंदिर की आवश्यकता नहीं है।''[३३]

धनसंचय वृत्ति का विरोध करते हुए गरीबदास ने जो बात कही हुई है, महात्मा बसवेश्वर ने उसे अपने शब्दों में ठीक वैसे ही कहा है। दोनों को लेखिका ने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है, जो देखनेयोग्य है–

सन्त न बाँधे गाँठरी पेट समाता लेई।
साई सु सम्मुख रहै, जहाँ, मांगे वहाँ देई।।

कबीर का भी एक दोहा इसी तरह का है। महात्मा बसवेश्वर अपने एक वचन में कहते हैं–

यदि मैं, एक धागा कपड़ा, एक कण सोना आज के लिए या कल के लिए, कहकर इकट्ठा करूँ, तो आपको सौगंध है मुझे हे प्रमथों की कुंडल संगमदेव!

मूल रचना इस प्रकार है–

'होन्निनोळगोंदोरेय, सीरे योळगोंदेळेय, इंदिगै, नलिंगेयंदें नादोड़े निम्माणे, निम्म प्रमथराणे, कूडकसंगमदेव!''[३४]

शिवशरणों में म. बसवेश्वर के बराबर अल्लमप्रभुदेव का नाम लिया जाता है। शून्य सिंहासन के, अनुभव मंडप के आध्यात्मिक गद्दी पर अध्यक्ष के रूप में विराजमान थे। शरणों के वचन साहित्य का ''शून्य संपादने'' नाम से सात खण्डों में प्राप्त है। अल्लम प्रभुदेव ने कबीर के समान मूर्तिपूजा का विरोध किया। मंदिरों के निर्माण के भी ये विरुद्ध

थे। बाह्याचारों पर उन्होंने कटु प्रहार किया। अपने वचन में उन्होंने कहा–

मनका गिनने में समय व्यर्थ न गवाँओ,
मूर्तिपूजा में वक्त बरबाद न करो।।[३५]

कबीर के दोहे सहज ही में याद आते हैं। सुमिरन के बारे में प्रसिद्ध दोहा है–

माला तो कर में फिरे जीभ फिरै मुखमाँहि।
मनुवा तो चहु दिसी फिरे, यह तो सुमिरन नाहि।।

मूर्तिपूजा का विरोध करते हुए उनका कहा हुआ दोहा सर्वदूर परिचित है–

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते या चाकि भलि, पीस खाय संसार।।

महात्मा बसवेश्वर तीर्थस्नान, वृक्ष तथा मूर्तिपूजा का विरोध करते हुए उसकी निरर्थकता को अपने वचन में स्पष्ट शब्दों में फटकारते हुए दिखाई देते हैं।

अलम्म प्रभुदेव के ''शून्य संपादने'' ग्रंथ की तुलना चिंतक ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के संवादों के साथ करते हैं।

शिवयोगी सिद्ध रामेश्वर, दाडिवाव याचिदेव, योविगे मारय्य, गंगाबिके, नीलांबिके शरण शरणियों के रचना का विचार इस ग्रंथ में किया है। बसवेश्वर के परवर्ती वीरशैव शरण कवियों में हरिहरदेव, राघवांक, पद्मरस, पाल्कुदि के सोमेश्वर,भीम कवि, महालिंगदेव, चामरस, मग्गेय मायदेव, तोंटद सिद्धलिंगार्य, निजगुण शिवयो लक्कण्ण दण्डेरा, गुब्जी मल्लणार्य, मुप्पिन षडक्षरी, षड्सरदेव, सर्वज्ञ देव, सर्पभूषण शिवयोगी कवि आदि।

सर्वज्ञ की त्रिपदियाँ, सार्वभौमिक चिरंतन तत्त्वों का उद्घाटन करती हैं। हर त्रिपदी हिन्दी के दोहे के समान है, स्वतंत्र अर्थ रखती है। एक-एक त्रिपदी कहावत के समान है। ये त्रिपदियाँ तीन लोकों को नापने की त्रिविक्रम शक्ति रखती है। सर्वज्ञ न्याय, निष्ठुर हैं। ... सर्वज्ञ कन्नड साहित्य का ध्रुवतारा है। ज्ञान का सागर और सब कुछ जाननेवाला 'सर्वज्ञ' होकर भी विनय से उन्होंने कहा कि सबसे एक-एक बात जानकर वे सर्वज्ञ बने हैं। कन्नड भाषा भाषियों की जीभ पर सर्वज्ञ की त्रिपदियाँ नाचती रहती हैं।

सर्वज्ञ कबीर के समान महान् भक्त होते हुए, एक बड़े समाजसुधारक भी थे। सन्त साहित्य के सारे तत्त्व, सर्वज्ञ के साहित्य में मौजूद हैं।''[३६]

हिन्दी निर्गुणी सन्तों तथा कन्नड वीरशैव शरणों द्वारा लोक जागृति-तुलनात्मक अध्ययन चौथे प्रकरण में प्रस्तुत किया है।

धार्मिक क्षेत्र में नवीन दृष्टि-ईश्वर का निर्गुण निराकार स्वरूप की व्याख्या महात्मा बसवेश्वर ने अत्यंत सयुक्तिक, सुंदर शब्दों में की है। उस विश्वव्यापक अदृष्ट, अगोचर, अनादि अनंत अखंड, अछेद्य, अभेद्य, अगम, अलख-निरंजन बताया है, मात्र अनुभव संवेद्य है।

"शरणमणि बसवेश्वर उस परब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन, अपने एक वचन में करते हैं कि उसका विस्तार पूरे ब्रह्माण्ड से भी परे है। पाताल के उस पार तक उसके श्री चरण हैं, ब्रह्माण्ड ऊपर उसका मुकुट है। वह अगम्य, अगोचर, भक्तन के करस्थल में इष्टलिंग के रूप में स्थापित हुआ है।

जगद्गल, मुगिलगल, मिगेयगल, निम्मगल

पातावदिंतल निम्न श्रीचरण, ब्रह्माण्डदिंत्तज्ञ निम्म श्रीमुकुट,

अनगम्य अगोचर, अप्रतिम, लिंगवे कूडलसंगम देवय्य।

एन्त्र करस्थलक्के बन्दु चुळुकादिरय्य ॥"[३७]

कबीर उस अरूप का वर्णन इन शब्दों में करते हैं–

संतों धोखा काँसूं कहिए,
गुण में निर्गुण, निरगुण में गुण है बाट छांडि क्यों बहिए।
अजर अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाहिं सरूप वरण नहिं जाकै, घटि घटि रहयौ समाई।
प्यण्ड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई, नाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यण्ड ब्रह्माण्ड छाडि जो कथए, कहै कबीर हरि सोई॥[३८]

यह हरि, राम शून्य का पर्यायवाची है, जिसकी उपलब्धि 'गगनमण्डल' में होती है। 'शून्य' का अर्थ है–'न होना', 'नास्ति'। 'सुन्न महल', 'सहस्त्रार' आदि पारिभाषिक शब्द सन्त साहित्य में मिलते हैं। संत कबीरदास, दादू दयाल, गुरु नानक, मलूकदास, रैदास, दया बाई, सहजोबाई आदि ने परब्रह्म के अर्थ में 'शून्य' का प्रयोग किया है।

कर्नाटक के वीरशैव शरणों ने इसी शून्य के लिए 'बपलू' कहा है। शरण अल्लम प्रभुदेव कहते हैं–

"यह शून्य न सत्य, न असत्य ही

न सहज हौ न असहज ही

न मैं हूँ, न तुम ही हो, यहाँ नहीं वहाँ नहीं,

यही शून्य है ॥"[३९]

अल्लम प्रभु ने भी उस शिवतत्त्व का वर्णन, लिंगमूर्ति का वर्णन करते हुए यही बताया है–उसका न आदि है न अंत, न वह इह है न पर, न वह सुख है न दुःख, न पुण्य न पाप, न प्रभु ना दास, न कार्य है न कारण, न धर्मी न कर्मी, न पूज्य न पूजक इन सबसे परे है।

बसवेश्वर, अक्कमहादेवी आदि शरणों ने उसे समझने तथा समझाने का प्रयास किया है। सिद्धरामेश्वर ने तो उसे शून्य-अशून्य से परे निराकार निरञ्जन बताया है।

ईश्वर अथवा परब्रह्म के बारे में संतों और शरणों के विचारों का साम्य उनके पदों और वचनों में देखा। जीव-जगत् और माया के विचारों में भी साथ देखा जा सकता है। जो जन्म लेता है, उसे मृत्यु है। ज्ञानियों ने शरीर और जगत् की अस्थिरता का विचार किया है।

शरणों ने श्रम-गौरव किया, बसवेश्वर, सिद्धरामेश्वर, नूलिय चंदय्य, आयदक्कि मारय्य, सकलेश मादरस आदि ने श्रम-प्रतिष्ठा करते हुए कई वचनों की निर्मिति की है। संत कबीर, गुरु नानक, दादू दयाल, निपट निरंजन आदि ने श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाई है।

वीरशैव तत्त्व के अनुसार, चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, चाहे गुरु हो या शिष्य, बिना पसीना बहाये, बैठकर खाने की अधिकार किसी को नहीं है। व्यक्ति अपनी आवश्यकता के लिए काम करेगा, साथ ही दूसरों के हित का भी उसे ध्यान रखना है। ...शरण जो 'दासोर' (अन्नदान-नित्य अन्नक्षेत्र में) चलाते थे, उनका यही आदर्श था। अनेक शरणों ने 'कायक' (कर्ममार्ग) का महत्त्व गाया है–

'गुरु होने पर भी कायक से ही जीवन मुक्ति है,
लिंगदेव की भी शिलामुक्ति कायक से ही होगी,
जंगम होने पर भी कायक से ही उसके वेष का पारा टूटेगा,
यही त्रेन्नबसवप्रिय चन्द्रशेखर का ज्ञान बोध है।'

तुलिय चंदय्य,

खाये बिना भूख न मिटे, कर्मयोग बिना निर्मलचित्त कैसे!
पकाये बिना अन्न कैसे? कपिलसिध् मल्लिकार्जुन तुम्ही बताओ।

सिद्धरामेश्वर

वैसे तो सभी संतों ने कम अधिक मात्रा में श्रम की प्रशंसा की है। दादू दयाल की उक्ति प्रसिद्ध हैं–

'उद्यम में आनंद है, जो साई सेती होइ।''

श्रम गौरव का आदर्श मानव जाति के लिए अत्यावश्यक तत्त्व है। कर्म छोटा या

बड़ा नहीं होता। कर्मनिष्ठा मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है। वीरशैव शरण हो या दास संत हो सबने श्रम की प्रतिष्ठा के गीत गाये हैं। श्रीमती शकुंतला आर. भूसनूरमठ ने अपने ग्रंथ में वीरशैव शरण-शरणियों के तथा हिन्दी के प्रसिद्ध दास कवियों की रचनाओं का हवाला देते हुए उनकी रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

समीक्षात्मक ग्रंथों में डॉ. शिवराज एल्. ने डॉ. मल्लिदेवरू के ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद "वीरशैव धर्म के मूलतत्त्व" नाम से भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली से १९९१ में प्रकाशित किया है।

छः अध्यायों में ग्रंथ प्रसिद्ध है–१. वीरशैव धर्म में ईश्वर की कल्पना २. जीवात्मा की कल्पना ३. छत्तीस तल और विश्व का विकास ४. अविकृत परिणामवाद सिद्धान्त ५. वीरशैव धर्म का साधना पथ ६. उपसंहार।

अनुवादित ग्रंथों में यह समीक्षात्मक एकमात्र ग्रंथ है। अनुवादित होने के बावजूद इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि वीरशैव धर्म के मौलिक तत्त्वों की जानकारी इसमें सप्रमाण दी है। मूल रचना का महत्त्व होता ही है, किन्तु यह अनुवाद इतना सरस-सफल हुआ कि यह किसी मौलिक रचना का अनुवाद है, इस पर विश्वास ही नहीं होता। डॉ. शिवराज हिन्दी के आचार्य थे; उन्होंने मूल कृति को पर्याप्त कष्ट उठाकर हिन्दी में अनुवादित किया है। मूल कन्नड वचनों को देवनागरी में लिप्यंतरित किया है। हिन्दी में काव्यानुवाद और गद्यानुवाद अत्यंत सफल हुआ है। संस्कृत के दृष्टांत, पदटिप्पणी के रूप में दिये हैं, जो रचना को अधिक ठोस और समृद्ध बना दिया है। लिंगपूजा के संदर्भ में सप्रमाण आपने अपना मत दिया है–

"शैवागम, उपनिषदों, तथा शरणों की वाणी के अनुसार लिंग जो परात्पर है (पूर्ण है), प्रकाशों का प्रकाश है।

हड़प्पा और मोहेंजोदरों के अवशेषों में मिले शिवलिंगों की संख्या इस बात का प्रमाण है कि लिंगपूजा पुराकाल से चली आई है। इन प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि लिंगपूजा तीन हजार ई. पू. में भी रही होगी।"[४०]

वीरशैव धर्म में ईश्वर की कल्पना को स्पष्ट करते हुए–चन्न बसवप्पाके वचन का प्रमाण देते हुए लिंग की मार्मिक व्याख्या दी है–विकार ही शून्य है। बिंदु ही लीला है। गकार ही चित् है। इन्हीं तीनों में लिंग की सत्ता है। इसका मर्म जानने वाला ही लिंग-संगी है। इस मर्म को जाननेवाला ईश्वर के साक्षात्कार में समर्थ है।[४१]

"ब्रह्माण्ड (कॉसमोलॉजिकल की दृष्टि से भी लिंग की व्याख्या आपने दी है–वे इस सन्दर्भ में लिखते हैं–

"वास्तव में ईश्वर निराकार है और भक्तों के लिए ही वह साकार होता है। ईश्वर की दृष्टि का जनक है। सर्वसमर्थ ईश्वर स्वेच्छा से कोई भी आकार ग्रहण कर सकता है। विश्व अर्धवृत्ताकार लगता है। वृत्ताकार क्षितिज ही उसकी सीमाएँ हैं। वह धरती पर टिका है। लिंग का ऊपरी हिस्सा अर्धवृत्ताकार है।[४२]

लिंग की तरह-तरह से व्याख्या देकर उन्होंने इष्टलिंग की जानकारी दी है। निष्कललिंग से ज्ञानचित्र का विकास हुआ। इससे नाद, बिन्दु, कला आदि के लिए क्रम से रहे–'अ', 'उ', 'म' तीन वर्ण निकले। चित्त, अ, उ, म के योग से ओंकार प्रणव है।

ओंकार प्रणव ही महालिंग है। शिवपुराणानुसार–

अ–लिंग पीठ का द्योतक है।

उ–जलधारी का प्रतीक है।

म–ऊपर की गोलाकृति है।

यह महालिंग ही शिवलिंग माना जाता है। जिसमें शिव (नाद) शक्ति (बिंदु) और कला विद्यमान है।

यह लिंग सृष्टि का मूल कारण है। मोक्षार्थी इसकी पूजा करते हैं। सृष्टि का मूल माना गया यह लिंग–भावलिंग, प्राणलिंग, इष्टलिंग इन तीनों रूपों में पहचाना जाता है।

प्रथम अध्याय के लिए आपने १४२ सन्दर्भ दिये हैं। इससे ग्रंथकार ने ग्रंथनिर्मिति के लिए कितने कष्ट उठाये हैं, इसका अंदाज किया जा सकता है। इष्टलिंग के बारे में आपने लिखा है–

"गुरु से मिले इष्टलिंग की उपासना का विधान है। इष्टलिंग व्यक्ति की आत्मा से भिन्न नहीं है। अत: इष्टलिंग शिव का प्रतीक है। वह सर्वांतर्यामी है।

वास्तव में इष्टलिंग अपना ही आत्मरूप है। इष्टलिंग देवादिदेव शिव का ही प्रतीक है। सभी वीरशैव शरणों ने इष्टलिंग को सदा शरीर पर धारण करने की बात पर जोर दिया है। सभी वीरशैव शरणों ने इष्टलिंग को सदा शरीर पर धारण करने की बात पर जोर दिया है। लिंग भवसागर पार करने के लिए नौका है। भक्त को सदा लिंग धारण करना चाहिए और परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए उसकी पूजा करनी चाहिए।"[४३]

इस ग्रंथकार ने प्रत्येक वाक्य के लिए प्रमाण (आधार) दिया है। अत: अनुवादित होने पर भी समीक्षात्मक प्रस्तुत ग्रंथ वीरशैव धर्म तथा दर्शन को हिन्दीभाषियों को समझाने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सात पृष्ठों के प्रथम अध्याय के लिए पदटिप्पणियाँ उन्नीस पृष्ठों की हैं।

"वीरशैव धर्म में "जीवात्मा की कल्पना" पर दूसरा अध्याय प्रस्तुत किया है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच का संबंध क्या है! वीरशैव धर्म के समन्वयात्मक पद्धति के सहारे मूल सत्य का वर्णन किया है। वीरशैव धर्म में जीव (अंग) ब्रह्म (लिंग) से आरम्भ में व्यावहारिक धर्म से भिन्न है, पर वही अंततोगत्वा उससे इस तरह मिल जाता है, जिस प्रकार घी में घी, दूध में दूध और जल में जल।"

इन्हीं शब्दों में दूसरा अध्याय संपन्न किया है।[४४]

तीसरे अध्याय में छत्तीस तत्त्व जिन्हें वीरशैव धर्म में विशेष महत्त्व है, उसका विचार मंडित कर विश्व का विकास कैसे हुआ है बताया है। सूक्ष्मागम क्रियापाद, वातुल शुद्धारक तंत्र, श्वेताश्वतरोपनिषद्, सिद्धान्तशिखामणि, होलि बाइबल, तैत्तिरीयोपनिषद् तोरंद सिद्धलिंग शिवयोगी के वचन, लिंगलीलाविलास चरित, षट्स्थल ज्ञान सारामृतवचन, वचनशास्त्र सार खण्ड-२, शून्यसंपादने, ऋग्वेद, छांदोग्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, वातुलागम, शैवसिद्धांत, योगचूडामण्युपनिषद्, इंडियन फिलासफी, ए हैण्डबुक आफ वीरशैविज्म, सांख्यकारिका, चित्यागम, पारमेश्वरागम आदि ७२ पदटिप्पणियों से तीसरा अध्याय समृद्ध रूप में प्रस्तुत किया है।

चौथा अध्याय–अविकृत परिणामवाद सिद्धान्त में शिव और शक्ति अविनाभाव को समझाया है। सिद्धांत शिखामणि के दृष्टांतों से अपने मत की पुष्टि की है। यह सारा ब्रह्माण्ड मूलत: शिव की शक्ति में ही निहित है। अत: वीरशैव दार्शनिकों के अनुसार सृष्टि का विकास सूचित करनेवाला सिद्धान्त 'अविकृत परिणामवाद कहा जाता है और निर्मित यह संसार भी सत्य है। वीरशैव दार्शनिक शिव के संकल्प के अनुसार विश्व में होते इस अवर्तन-निवर्तन को मुण्डकोपनिषद् में उल्लिखित मकड़ी के दृष्टांत द्वारा समझाते हैं। जिस प्रकार से अपने इच्छा से मकड़ी जाल बुनती है और लपेट लेती है, उसी प्रकार शिव की इच्छा से विश्व का यह आवर्तन-निवर्तन होता आया है। संसार शिव की शक्ति में सूक्ष्म रूप में विलीन हो जाता है। अत: वीरशैव दार्शनिक सृष्टि की सत्यता का समर्थन करते हैं, उसे स्वीकार करते हैं।[४५]

इस अध्याय के लिए ४५ पदटिप्पणियाँ दी गयी हैं।

पाँचवें अध्याय में वीरशैव धर्म के साधना पथ का सप्रमाण विवरण दिया है। १४७ पद टिप्पणियाँ दी हैं। दीक्षा का महत्त्व प्रारंभ में देकर अष्टावरण, पंचाचार, षट्स्थल का विस्तृत विवेचन इसमें दिया है।

"वीरशैव धर्म में भक्ति, ज्ञान और क्रिया को समान महत्त्व दिया है। मोक्ष के लिए लोक का परित्याग आवश्यक नहीं है। वह केवल शुद्ध और पवित्र जीवन पर जोर देता है और जीवन के सभी क्षेत्रों में परिपूर्णता का समर्थन करता है। वह अंधविश्वास की निंदा

करता है। जाति, संप्रदाय आदि की उपेक्षा कर यह प्रत्येक को सामाजिक समानता और आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है। श्रम की महत्ता पर बल दिया गया है। अर्चना और अर्पण की विधियों से वह समस्त पदार्थों को प्रवाद में परिणत करने का दिव्य उपाय अपना चुका है। इस प्रकार उसका महान् लक्ष्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास और परिपूर्ण शुद्धि रखता है।''[४६]

उपसंहार में सभी अध्यायों का निष्कर्ष दिया है।

निष्कर्ष

हिन्दी में मौलिक ग्रंथ रूप में प्रकाशित रचनाओं की संख्या मात्र चार है। जो मुझे प्राप्त थी, उनकी सूची साथ में दी है। सुविज्ञ पाठक, श्रोतागण यदि इनके अतिरिक्त हिन्दी में वीरशैव साहित्य उपलब्ध हो, तो मुझे सूचित करें।

श्रद्धेय काशी पीठाधीश डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्य, श्री शांततीर्थ स्वामी, औरंगाबाद, श्रीमती डॉ. श्यामा छोणसे, श्री वारद, डॉ. शे.दे. पसारकर जी का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे मूल ग्रंथ उपलब्ध करा दिये। चार ग्रंथों में वीरशैव दर्शन, अष्टावरण विज्ञान ग्रंथ विशेष रहा है। अन्य ग्रंथ हिन्दी पदों के संकलन हैं। रचनाकार वीरशैव संत कवि रहे हैं। उन पदों में वीरशैव दर्शन को विशेष महत्त्व दिया गया है, ऐसा नहीं है।

अनुवादित अधिकतर ग्रंथ कन्नड वचनों पर आधारित हैं। शरणों की जीवनी पर भी रचे हुए हैं। तुलनात्मक ग्रंथों में हिन्दी के निर्गुण सन्तों, सौराष्ट्र के महापंथी भक्त कवियित्रियों के रचनाओं को केन्द्र में रखकर हुई हैं। संतों और शिवशरणों के काव्य में सामाजिक चेतना पर, काव्य शक्ति पर लिखे हुए ग्रंथ हैं।

डॉ. मल्लिदेवरू के ''वीरशैव धर्म के मूल तत्त्व'' ग्रंथ मेरी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। डॉ. शिवराज एच् ने इसका सरस-सफल अनुवाद प्रस्तुत किया है। वीरशैव दर्शन का हिन्दीभाषियों को परिचय कराने में डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्य और डॉ. मल्लिदेवरू के ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

इस आलेख में विषय को पूर्णत: मैं न्याय दे पाया हूँ, ऐसा मेरा दावा नहीं है। मुझे शिव विश्वनाथ बाबा की, ज्ञान की, पंडितों की नगरी में श्रद्धेय काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्यजी की कृपा तथा प्रेरणा, मार्गदर्शन से कुछ कहने का अवसर प्राप्त हुआ, इसलिए मैं उनके श्रीचरणों पर कोटि कोटि विनम्र दण्डवत प्रणाम अर्पित करता हूँ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. वीरशैव अष्टावरण विज्ञान : डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य पृ. १४।
२. वीरशैव अष्टावरण विज्ञान : डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, वेदान्ताचार्य, विद्यावारिधि (शुभाशीर्वचन)।
३. वीरशैव अष्टावरण विज्ञान "विद्वत्तापूर्णप्रशस्तिः"।
४. वही पृष्ठ वही।
५. श्री लक्ष्मण गाथा-संपादक : डॉ. शे.दे. पसारकर। प्रथम संस्करण २१ मे २००१ पृ. प्रस्तावना पृ. ४५।
६. श्री चन्नाकृत अभंगात्रा गाथा। प्रकाशक: श्रीचन्नबसप्पा महालिंग अप्पा बारह अंबाजोगाई द्वितीय आवृत्ति २२.०७.२००६।
७. वीरशैव अष्टावरण विज्ञान : डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, उपोद्घात पृ. ३-४।
८. वही पृ. ४;
९. वही पृ. ९;
१०. वही पृ. १०;
११. वही पृ. १०;
१२. वही पृ. २६;
१३. वही पृ. २७;
१४. वही पृ. २९;
१५. वही पृ. ९३-९४;
१६. श्रीलक्ष्मण गाथा–प्रकाशक कृष्णकान्त राजाराम अष्टेकर प्र.आ. २१ २००९ पृ. ४६३।
१७. महादेवप्रभुगाथा : संपा. पं. शिवाप्पा खके। श्री सिद्धेश्वर प्रकाशन वसमतनगर जिहिंगोली (महाराष्ट्र) प्रथम संस्करण २५ अगस्त २००२ पृ. १३१ पद : १४७।
१८. वही पृ. १२६।
१९. श्री चन्नाकृत अभंगगाचा गाथा, प्रकाशक श्री चन्नबसव महालिंगअप्पा वारद अंखाजोगाई जि. बीड द्वितीय आवृत्ती २२.७.२००६, पृ. २९५-२९६।
२०. वही पृ. ३४८;
२१. वही पृ. ३४९;
२२. भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचन भाग-१ कन्नड अध्ययन पीठ, कर्नाटक विश्वविद्यालय प्रका. प्र.मु. १९७६ प्रस्तावना पृ. १।
२३. वही पृ. ३ वचन क्रमांक ६।

२४. शून्य संपादने कर्नाटक युनिवरसिटी धारवाड, पृ. १९७० पृ. ३१४ पदसंख्या-५।
२५. भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचन भाग-१ पृ. १७ वचन ७४।
२६.. Eleventh and twelth century Kannada literature. Dr. H.T. Sasnur. Ramakrishna Academy of Education and Culture, Bijapur. Edition 1991. p. 67
२७. "देवनोब्ब नामहलवू । परमपतिव्रते गे गंडनोब्ब ।।"
भक्तिभण्डारी बसवण्णबर वचनगबु-वचन ६१३ पृ.२४६।
२८. वीरशैव स्त्री शिवशरण एवं सौराष्ट्र की महापंथी भक्त कवयित्रियाँ तुलनात्मक अध्ययन अनुसंधात्री डॉ. श्रीमती मंगल देसाई प्रकाशन प्रसारंग कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड प्रथम प्रकाशन जुलाई १९९४ पृ. ९।
२९. अक्क महादेवी के वचन डॉ. नंदिनी गुंडुराव–कर्नाटक वि.वि. धारवाड। प्रका.१९८७ पृ.७।
३०. Eleventh and twelth century–Dr. H.T. Sashur p.89
३१. वही पृ० २१।
३२. अक्क महा. के वचन...डॉ. नंदिनी गुडुराव, पृ. ६१ वचन क्रमांक १३३।
३३. हिन्दी निर्गुण संत साहित्य और कन्नड़ वीरशैव शरण साहित्य में सामाजिक जागृति (पृ. ४३) प्रकाशन–बसव समिति बेंगलुरु प्रकाशन वर्ष २००३।
३४. वहीं पृ. ४७;
३५. वही पृ. ११२;
३६. वहीं पृ. १३९;
३७. वहीं पृ. १४५;
३८. वही पृ. १४६;
३९. वही पृ. १४७;
४०. वीरशैव धर्म के मूलतत्त्व : डॉ. मल्लिदेवरू अनुवाद : डॉ. शिवराज एच. प्रका. भारतीय विद्या प्रकाशन।
४१. वही पृ. २;
४२. वही पृ. ३-४;
४३. वही पृ. ७;
४४. वही पृ. ३४;
४५. वही पृ. ५२;
४६. वही पृ. ६९;

* हिन्दी निर्गुण संत साहित्य और कन्नड वीरशैव शरण साहित्य में सामाजिक जागृति डॉ. शकुन्तला आर्. भूसनूरमठ

प्रकाशक बसव समिति, बसव भवन, श्री बसवेश्वर सर्कल, बेंगलूर-५६०००१

प्रथम प्रकाशन : २००३ कुल पृष्ठ : ३१२

* शरणों के चुने हुए वचन

संपादक एवं प्रधान अनुवादक : डॉ. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी

बसव समिति, बेंगलूर-५६०००१

प्र.सं. २००९ कुल पृष्ठ : १६+९२

* बसवेश्वर : काव्यशक्ति और सामाजिक शक्ति

डॉ. काशीनाथ अंबलगे

लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नयी दिल्ली, पटना

प्रथम संस्करण : २००६

कुल पृष्ठ संख्या : १२०

अन्य सन्दर्भ ग्रंथ

* Eleventh and twelth century : Kannada Literature : Dr. H.T. Sasnur Ramkrishna Academy of Education and Culture, Bijapur. First Edition : 1991

* Śūrya Sampādane, Karnatak University, Dharwar, 1970, Prof. S.S. Bhoosnurmath Prof. Armande Menezes. Volume

अनुवाद ग्रंथ

* वीरशैव धर्म के मूल तत्त्व

मूल लेखक : डॉ. मल्लिदेवरू

अनुवादक : डॉ. शिवराज एच्.

भारतीय विद्या प्रकाशन, हिन्दी (आज) वाराणसी

संस्करण : १९९१ कुल पृ. ९४

* भक्ति भण्डारी बसवेश्वर के वचन–भाग १,२
प्रधान संपादक : डॉ. एम्.एस्. सुंकापुर
संपादक : डॉ. एम.बी. कोटूशेट्टी
कन्नड अध्ययन पीठ कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड
प्रथम मुद्रण : १९७६ कुल पृष्ठ १९६
प्रथम मुद्रण : १९७८ कुल पृष्ठ २०२

* अक्क महादेवी के वचन
अनुवादक : डॉ. नन्दिनी गुण्डुराव
कन्नड अध्ययन पीठ, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड
प्रथम मुद्रण : १९८७ कुल पृष्ठ १२५

समीक्षात्मक ग्रंथ

* वीरशैव स्त्री शिवशरण एवं सौराष्ट्र की महापंथी भक्त कवयित्रियाँ : तुलनात्मक अध्ययन डॉ. श्रीमती मंगल देसाई–अधिव्याख्याता, कर्नाटक कला महाविद्यालय, धारवाड, प्रसाराग कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड १९९४ कुल पृ. १७१

* बसव वचन तरंग
आचार्य नंदीश
कल्याण कर्नाटक प्रकाशन, बसव मुक्ति मंदिर, बीदर (कर्नाटक)
प्र.सं. २००२ कुल पृष्ठ संख्या : ७+१४०

* संतों और शिवशरणों के काव्य में सामाजिक चेतना
डॉ. काशीनाथ अंबलगे
अन्नपूर्णा प्रकाशन, साकेत नगर, कानपुर-२०७०१४
प्र. संस्करण १९९० पृ. सं. २५२

संदर्भ ग्रंथ

मूल : ग्रंथ

* श्री लक्ष्मण गाथा : संपादन डॉ. शे.दे. पसारकर

प्रथमावृत्ति २१ मई २००१

पदे (हिन्दुस्तानी) ३४२३ से ३५३० कुल पद १०८

पृ. ४६३ से ४७७

* श्री चन्नाकृत अभंगामा गाथा

श्री चन्नबस महालिंग अप्पा वारह

अंबाजोगाई जि. बीड.

द्वितीय आवृत्ति–२२.७.२००६

पृ. २५९, २६०, २८४, २८६, २८७, २८५, २८६, ३०६, ३०७-३११, ३२१, ३२८, ३२९, ३३०, ३३३, ३३४, ३३६, ३३९, ३४०, ३४५, ३४६-३४९

कुल-७६८ ३६ पद +३२ दोहरे

* वीरशैव अष्टावरण-विज्ञान

डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य

वेदान्ताचार्य, विद्यावारिधि

श्री गुरु अमरेश्वर प्रकाशन, अमरेश्वर मठ

गुरेदगुहु-५८७२०३

प्रथम संस्करण-१९८५ कुल पृष्ठ ९६

* श्री महादेव प्रभु गाथा

संपादक : पं. शिवप्पा खड़े

श्री सिद्धेश्वर प्रकाशन, वसमतनगर जि. हिंगोली (महाराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति २५ अगस्त २००२ पृ. संख्या १५ हिन्दी में वीरशैव साहित्य : मूल तथा अनुवाद १२७ ९

★

द्वितीय पर्याय

Critical Analysis of Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi (Based on manuscripts and printed books)

Dargu Shashikant Basveshwar
Assitstant Professor
Department of Sanskrit
Netaji Subhashchandra Bose College, Nanded

Abstract

The country Bhārata has tradition of ancient culture. It is based on the philosophy–'Ekam Sadviprā Bahudhā Vadanti' the Supreme power is one and experts called him by different names. The god of knowledge is Śiva–according to Ācārya Sāyaṇā's commentary on Ṛigveda–'Tam vande Viddhyātīrtham Maheśvaram'. Lord Śiva is the origin of all Vidhyās means knowledge. There are two main streams of the knowledge–Āgama and Nigama.

Āgama means which came from mouth of Śiva and Nigama means which came from breath of Śiva. Āgamas are also called as 'Tantra' whereas Nigamas are called as 'Veda'. According to Śrī Reṇukācārya the Āgamas are divided into four types–Śaiva, Pāśupata, Soma and Lākula.

The Śaivāgamas are important part of Āgama literature which is the Pramāṇa as like Veda. There are 28 Śaivāgamas which are divided into 4 sub-sections–Kriyā, Caryā, Yoga and Jñāna. The last part (Uttar) of Śaivāgamas is known as Siddhānta. It is the origin of Vīraśaivasiddhānta.

The Vīraśaivasiddhāta has tought by Reṇukācārya to Agastya. This dialogue was summarized by Śrī Śivayogi Śivācārya in the 7th century named as 'Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi'. This paper focused on the critical study of all the manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi text.

Keywords

Āgama, Tantra, Nigama, Śaivāgamas, Śrī Siddhānta-śikhāmaṇi, ṣaṭsthalas.

Introduction

The country Bhārata has tradition of ancient culture. It is based on the philosophy–**'Ekam Sadviprā Bahudhā Vadanti'** the Supreme power is one and experts called him by different names. The god of knowledge is Śiva–according to Ācārya Sāyaṇā's commentary of Ṛigveda–**'Tam Vande Viddhyātīrtham Maheśvaram'.** Lord Śiva is the origin of all Vidhyās means knowledge. There are two main streams of the knowledge–Āgama and Nigam.

Āgama

A well-structured and traditionally communicated wisdom known as **Āgama**. The word **Āgama** is derived from root **'Gam'** meaning 'to go', 'to tell' with the prefix **Ā,** which means 'from all sides / views / attitudes / surround / overall'. The word therefore means–'Whatever comprehensively tells an individual about what is proper and what is improper is **Āgama**'.

According to Kullukabhaṭṭas commentary on Manusmṛti and Hāritasmṛti–the Śruti is divided into two sections–Vaidikī tāntrikī caiva dvividhā kīrtitā śruti[1].

Dvidhā śāstrāṅyupadiṣṭāni, tatra bhedapradhānāni vedādīni śāstrāni, abhedapradhāṇāni ca śaivādīni.[2]

Āgama teaches us about the right conduct, about the nature of the divine states and the manner of obtaining them, about the glory of god and about reality.[3]

The Kulārṇava Tantra discussed about this concept as–

Kṛte śrutyuktā ācarastratayam smṛti-sambhavaḥ.

Dvāpāre tu purānoktaḥ, kalāuvāgamasammataḥ.[4]

The definition of Āgama as applicable to the Śaivāgamas is that it is the wisdom that proceeded from the mouth of Śiva and received by the ear of Pārvati, it was the view of Vāsudeva–

Āgatam śivavaktrāstu gatam ca gịrijāmukhe.

Matam ca vāsudena Āgamastena kīrtītaḥ.[5]

A variant reading is–

Āgatam śivavaktrebhyo gatam ca girijāmukhe.

Maltrayavināśitvādāgamaḥ parikirtitaḥ.[6]

Sir Monier William defined the word Āgama–a tantra or work including the mystical worship of Śiva and Śakti[7] Āgama : A system of philosophy.[8] Vācaspati Miśrā explained the word 'Āgama' as–

Āgacchanti budhimārohanti yasmāt abhudaya nihśresyasopāyaḥ sa Āgamaḥ[9]

The knowledge Which is for abhudaya (Ihlok-kalyān) and Niśryesyasa (Mokṣa). On the contrary Nigama means-karma, Upāsana (worship) and knowledge includes in Veda or Nigama and Āgama shows the way to achieve all these things. Thus, both co-relates with each other. Vedas or Nigama focus on knowledge and Āgama preferred action. Both knowledge and action are necessary for human beings. The Āgamas are action.

Āgama-Tantra

Āgamas are also known as Tantra. 'Tantra'- √ 'Tan' root + 'Trana suffix. 'Tan' means–to expand (Tanyate Vistāryate Jñānamaenen iti Tantram). 'Tran'–'to protect' both the roots are enclosed with 'Tantra'. The suffix 'Trā' is form the root 'to save'. That knowledge spreads as well as saves.[10] According to 'kāmikāgama'–

Tantra means–

Tanoti vipulānarthān, tantra-mantra samanvitān.

Trānam ca kurute yasmāt tantramityabhidhiyate.[11]

Śrī Baldev Upādhyāya explains the meaning of 'Tantra' as–Śāstra, siddhānt, anuṣṭhān, vijñān etc. In Mahābhārata Nyāya, Dharmaśāstra, Yogśāstra etc. Śāstras are known as 'Tantra'.

Nigama

The word 'Nigama' derived from prefix Ni + √ Gam–

gacchati. To settle down (acc. or loc.).[12] According to Mahākavi Bhāravi Nigama means–to conclude or sum up.[13] Kullukabhatta in his commentary on Manusmṛti explained the meaning of Nigama–any work auxiliary to and exploratory of the Vedas.[14] Sir Monier William used the Nigama word for Veda and Vedic text as per Nirukta of Yāska.[15]

Tantrāgamasārasarvasva–

Nirgatam girijāvaktrād gatañca giriśasrutau.

Matañca vāsudevasya tasmānnigama ucyate.[16]

Śaivāgama

According to Śrī Reṇukācārya the Āgamas are divided into four types–**Śaiva, Pāśupata, Soma and Lākula**.

Iśānādibhihi pancabhihiantrākhyerādhikariśiverukta Āgamāḥ.

Te cat eva pañcastrotomaya ityucyante, pañcastrotaso veti.[17]

(Pañcastrotasa–iśānādibhiḥ pañcamantreihirukta śivāgama daśa, rudrāgamacāṣṭādaśa iti)

These Āgamās are ancient–

Prachiṇeṣu yugeṣu ṛṣayaḥ moukhikam.

Śaivāgamarahasyopadeśam guruśiṣyasantatya cakruhu.

Śaivādini rahasyāni purvamāsan mahātmānam.

Ṛṣiṇām vaktṛa kuhare teshuevanugrahakriya.[18]

This doctrine is the supreme knowledge. According to Ta. Aa. 22.9

Śivāgamasya sarvebhyoapyagamebhyo viśishtata.

Śivajñānen ca vinā bhuyopi pasutodbhavah.[19]

Śaivāgama were taught by lord Śiva. According to Śivamahāpurana Vāyusamhitā Śaivāgamas has been divided into two sections as–Śroutaḥ and Swatantraḥ.

In Śaivāgama there is a belief that from each of the five faces of Śiva emerged a class of Āgama. Emerging from the Sadhyojāta face (West) the class of Āgama known as bhuta, consisted according to tradition of twenty books, from the Vāmdeva face (North), the Vāma class had twenty four books, from the Aghora face (South) the Bhairava class emerged consisting of thirty two books, from the Tatpuruṣaḥ face (East) emerged Garuda class of twenty eight books, from the Iśāna face (Upper face) emerged the Siddhānta class consisting of books giving the background to the temple worship.[20]

Kāmikādi Vātulānt 28 Āgamas are called as Swatantra Āgama. These are also called as 'Siddhāntāgama'. These Siddhānt Āgamas are the teachings of Śiva or Rudra. Each Śaivāgama has four sessions or Pādas like - Kriyā, Caryā, Yoga and Jñānam. Kriyā pāda explained the construction of temples, statues of deities and its worship. Caryāpāda focused on rituals and festivals. Yogapāda practiced the yogic kriyās. Whereas the Jñāna pāda introduced Pati-Paśu-Pāśa the Trik Siddhānta.[21]

Type of Śaivāgama

There are many branches of Śaivāgamas. Unfortunately today very few branches are in good condition. The Śaiva Āgamas are mainly divided into three doctrines as - dvaita, dvaitādvaita and advaita. Pāupata, Sidhāntaśaiva referred dvita, Lakuliśapāśupata, Srikanṭhiyaviśiṣṭādvait, Vīraśaiva, raseśwara are dvaitādvaita doctrine and Nandikeśwar-Pratyabhigñyā-krama-kula follow Advaita doctrine. The 28 Śaivāgamas are divided into two parts as 10 Śaivāgams follow Pāśupata and remaining 18 refers siddhānta philosophy.[22]

The commentary of Aghor Śivācārya on Srikaṇṭhasuri's statement - 'Āptoktirārtra siddhāntaḥ Śivaḥ evāptimān yataḥ' as - 'Siddhāntśabdaḥ pankajādiśabdavādyogrudhyā śiva-praṇiteṣu kāmikādiṣu daśaṣṭādaśatantreṣu prasiddhaḥ'.[23]

It means 28 kāmika–Vātulāgamas are knows as Śaivāgamas. Such as

Kāmikam yogajam cintyam kāraṇam tvajitam tathā.

Diptam sukṣamam sahastrañca anśumat suprabhedokam.

Vijayañcaiva niśwāsam swāyambhuvamathanilam

Vīrañca rouravam caiv mukuṭam vimalam tathā

Candrajñānañca bimbañca prodgitam lalitam tathā

Siddham santānśarvoktam pārmeśwaramev ca

Kiraṇam vātulam caiv aṣṭavinśaṅkhyayā.[24]

These are the 28 Śaivāgamas. First 10 agamas are called Śaivāgama and last 18 agamas are called as Rudrāgama. Principal Śaivāgamas has sixteen Upāgamās to each Āgama. It means the total numbers of Upāgamās are two hundred and eight. This Śaivāgamas literature is very vast.[25]

According to the statement of Dr. Śivakumāra Swāmī– 'Among the Śaivāgamas that are available, some are not preserved in all the four pādas, another point to be noted is that the Śaivāgamas have two parts, called Pūravabhāga and Uttarabhāga. Even in this case some Śaivāgamas are found to have both the parts and some have one of the parts. Even among these parts all the four pādas, have not been available.[26]

The Pūravabhāga and Uttarabhāga are divided into four pādas–

1. Kriyāpāda

2. Caryāpāda

3. Yogapāda

4. Jñānapāda

Siddhāntas are as per Veda, so these Siddhānta are also authentic teachings.

Śaivatantramīti proktam siddhāntākhyam śivoditam.

Sarvavedārthrupatvāt prāmāṇyam vedavat sadā.[27]

So we can conclude that the Śaivāgamas are Prāmāṇyam accepted as Vedaprāmāṇam.

Śaivācāryas

The ancient tradition of Vīraśaivācāryās described in Śaivāgamas–

'In the excellent city of Kulyapāka, the birth of Śrī Revaṇasiddha was from the Someśvaraliṅga and his stay was at Kadalīpura. Similarly in the great Vaṭakṣetra, the birth of Marulasiddha was from the Siddheśaliṅga and his stay was in Ujjayinī. In the holy place called Drākṣārāma, the birth of Ekorāma was from the Ramannthaliṅga Paṇḍitādhya was born from the Mallikā rjunaliṅga, and his stay was in Śrīgiri (Śrīśaila). In Kāśī, the birth of Viśvārādhya was from the Viśveśaliṅga and his stay was in Kāśi itself. These five Ārādhyās sprung from my, (i.e. Śiva) Five faces in the four Yugas and become well known in the World.'[28]

The heritage of Vīraśaivācāryās shows its important role in the development of Indian culture.

Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi

Siddhāntaśikhāmaṇi is the authentic compilation on 101 sthalas of Vīraśaivasiddhānta,[29] which is the ending part of all Śaivatantras.[30] The Updeśa of Reṇuka to Agastya summarized by Śivayogi Śivācārya as Siddhāntaśikhāmaṇi[31](SS). Author clearly mentioned that he referred 28 Śaivatantrās and Śaivapurāṇans for the Siddhāntaśikhāmaṇi text[32].

Origin of Siddhāntaśikhāmaṇi

Śivayogi Śivācārya mentioned the bibliography of SS–

Ālokya ´aivatantrāṇi Kāmikādyāni sādaram.

Vātulāntāni Śaivāni purāṇānyakhilāni tu.[33]

Siddhāntaśikhāmaṇi is the collection of 28 Śaivatantrās ending part. Śaivatantrās and Śaivapurāṇās are the origin of SS. Śaivatantrās is the branch of Āgama. It is necessary to know the details about the concepts–Śaivatantra, Āgama, Nigama and types of Āgama.

Structure of Siddhāntaśikhāmaṇi

Siddhāntaśikhāmaṇi iti ṣaṣṭi tatpuruṣa compound. The word 'Siddhānta' used for 'Kāmikādi vātulānt 28 Śaivāgamās.[34] Śivoktāḥ kāmikādivātulāntā aṣṭavinśatyāgamāḥ 'Siddhāntaḥ' iti nāmnā prasiddhāḥ.[35] The word 'Siddhānt' root 'sidh' + anth = an authentic truth, or rādhānta. The word 'Siddhāntaḥ'–'Siddhasya vastunaḥ kathanam sidhāntaḥ.[36]

In the Samāpti Mudrā (end title) of Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded manuscript mentioned–"Iti Śrī Śivayogi Reṇukācāryeṇa (Reṇukācārya) agastyasamvādāmakaḥ Śivayogi Śivācāryena viracitam Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ granthaḥ sampurṇamastu."[37]

1. The communication between Śrī Reṇukācārya and Agastya

The Siddhāntaśikhāmaṇi is the foremost authority on the philosophy of Vīraśaivism. The author introduces an account of his heritage, with a preliminary 'Maṅgalācaraṅa' dedicated to Śiva and Śakti and information about the sources of this text. Author described Śiva's creation as model to Brahman's creation and depicts the greatness of Reṇuka and Dāruka, the two lords of Śivagaṇas in the service of Śiva, 'Śiva-Sabhā'. Then the Reṇuka came on the earth with a mission of Śiva and his emergence from the Someśvaraliṅga at Kollipaki. Then his march towards the hermitage of Agastya in the Malaya Mountain. Then after the doctrine of one hundred and one sṭhalas. At the ending part of Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded manuscript (SSN), the author expressed the installation of three cores of Śivaliṅgas at Laṅkā by Reṇuka to fulfill the last wish of Rāvaṇa on the request of his brother Vibhiṣaṇa and Reṇuka's Someśvaraliṅgaikya at Kollipaki.[38]

2. Author

Śivayogi Śivācārya is the author of Siddhāntaśikhāmaṇi. In the ending line of SSN manuscript clearly mentioned–

"Śivayogi Śivācāryeṇa viracitam Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi granthaḥ samupurṇamastu".[39] The author mentioned a list of his ancestors in SS such as–two **Śivayogi Śivācāryas** are introduced by author. One is described as the first among the **Śivayogins** who were quite accomplished in the **Śaiva** practices and as the ocean of **'Śivajñāna'**.[40] Second **Śivayogi Śivācārya**, who was the fourth in the lineage, is the author of Siddhāntaśikhāmaṇi.[41]

Family tree of the author[42]

Śivayogi Śivācārya (01)
|
Śrī Muddadeva
|
Siddhānātha
|
Śivayogi Śivācārya (02)
(Author of SS)

1.4 Date of Siddhāntaśikhāmaṇi

The author of Siddhāntaśikhāmaṇi did not mention the date of his work. The available sources like the manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi, commentary works on Siddhānta-śikhāmaṇi and the work that refers or respects the teachings of Siddhāntaśikhāmaṇi are helpful to know the date of SS. There are different opinions of thinkers, experts about the period of Siddhāntaśikhāmaṇi.

1. Śrī Śrī Śrī Dr. Candraśekhar Mahāśwāmijī mentioned the date of Siddhāntaśikhāmaṇi is 8th century A.D.[43]

2. According to Dr. M. Śivakumār Swāmī the date of Siddhāntaśikhāmaṇi should be regarded as going further back, i.e., before 12th century.[44]

3. Kāśīnāth Śāstri explained the Siddhāntaśikhāmaṇi period is 2000 B.C. But it is not possible; this reference is without Historical base.[45]

4. Dr. Śivaliṅga Śivācārya discussed about Siddhānta-śikhāmaṇi period and mentioned in his Sanskrit commentary 'Śivayogaśātra' as 8th or 9th century.[46]

5. C. Hayavadana and other scholars defined 8th century is the period of Siddhāntaśikhāmaṇi work.[32]

6. According to V.P. Thonṭe: Siddhāntaśikhāmaṇi's anciently may be 5th or 6th century. Because Rajsimha Pallava, the monarch of Tamil country, was adorned as the "Satathala Cakravarty" and "Śaiva Siddhāta Śikhāmaṇi".[47]

7. I observe the epoch of Siddhāntaśikhāmaṇi is 7th century. According to historical evidences the Nārāyaṇarao the warrior and sardar of Badāmi King established a university in his village Sāloṭagi (Dist. Vijāpur). The author of Siddhānta-śikhāmaṇi, Sivayogi is the Chancellor of that University.[48]

Second and important thing the King Pallava of Tamil country ornamented with 'Saiva Siddhānta Śikhāmaṇi' and 'Ṣaṭasthala cakravarti' here it is proved that the Pallava tradition belongs to Śaivism respect to Śaivism and studied 'Siddhānta-śikhāmaṇi'. So they used the 'Siddhānta śikhāmaṇi' word with their name as an adjective.[49] It is not possible the Śivayogi referred the Siddhāntaśikhāmaṇi name from Pallava's adorn because in the first chapter Śivayogi clearly mentioned–

Sarveṣām śaivatantrāṇāmuttaratwānnirittaram.
*Nāmnā pratīyate loke yat **Siddhāntaśikhāmaṇi**.*[50]

It shows Siddhāntaśikhāmaṇi is the title of Śivayogi's work on 101 Vīraśaivasiddhānta and it ornamented by Pallava with his name as adoration to Vīraśaivasiddhānta.

Kavi Bāṇabhaṭṭa is the first poet who had been written the biography of King Harśa[51] (606 to 647 AD) named 'Harśacaritam' and other work 'Kādambari'. These two works are describing the autobiography of king or human beings. That is the new style of literature which mentioned such type of description in Sanskrit literature. So SS had been including the Kavi Vaṅśavarṇānam also.

So it is clearly stated that, **the Siddhāntaśikhāmaṇi's period is ending era of 6th century to starting of 7th century A.D.**

Siddhāntaśikhāmaṇi's Manuscripts

Today we have some Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts in Oriental Research Institute (ORI), Libraries and Maṭhas in different places of India. The details or description of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts which are referred for this research work as follows:

1. Dargu Modi Puratattva Sangrahala, Nanded–Manuscript no. 01

2. Karnataka University, Dharwad–Manuscript no. 294, 1507, 1560, 2341, 2368, 2377

3. ORI Madras University, Madras–Manuscript no. vol.ix-5551, vol.x-5119

4. ORI Mysore University, Mysore–Manuscript no. N.D.xii-41138, 41146

5. Jangamawadi Math, Varanasi–Manuscript no. 01

6. Lasin Math, Basmatnagar, Dist. Hingoli–Manuscript no. 01

7. Rajur Math, Ahmadpur, Dist. Latur–Manuscript no. 01

List of Siddhāntaśikhāmaṇi's manuscripts and printed books:

1. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Madras University, Madras. (Vol. IX. Book No. 5119)

2. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Madras University, Madras. (Vol. IX. Book No. 5551)

3. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Jaṅgamavādi Math, Varanasi, Ujjainīśa vyākhyā (Chapter-5-20)

4. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Ujjainīśa vyākhyā (Chapter 5-20) (Printed)

5. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Iasin Math, Somavar Peth, Basmat, Dist. Hingoli

6. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Rajur Math, Ahamdpur, Dist. Latur

7. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Suprabodhini Vyākhyā (Printed)

8. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Palm leaf KRC Karnataka Uni., Dharvad–SSK 2377 (Suprabodhini)

9. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Siddhāntabodhini Sosale Śrī Revaṇārādhya Vyākhyā

10. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Palm leaf KRC K Uni., Dharwad–SSK 2341

11. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Palm leaf KRC K Uni., Dharwad–SSK 1560 (Chapter-5-20)

12. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Palm leaf KRCK Uni., Dharwad–SSK 294 (NA)

13. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Palm leaf KRCK Uni., Dharwad–SSK 1507 (NA)

14. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Palm leaf KRCK Uni., Dharwad–SSK 2468 (NA)

15. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. palm leaf script–(Mysore, N.D.XII-41138)

16. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Ajñāta vyākhyā–(Chapter-5-20)

17. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Dargu Modi Puratattva Sangrahalaya, Nanded

18. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā–

Oriental Research Institute, Mysore. Palm leaf script (Mysore, N.D.XII.-41146)

19. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41139-(ORI, Mysore had been not permitted)

20. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41140-(ORI, Mysore had been not permitted)

21. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41141-(ORI, Mysore had been not permitted)

22. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41142-(ORI, Mysore had been not permitted)

23. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41143-(ORI, Mysore had been not permitted)

24. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41144-(ORI, Mysore had been not permitted)

25. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41145-(ORI, Mysore had been not permitted)

26. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41147-(ORI, Mysore had been not permitted)

27. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41148-(ORI, Mysore had been not permitted)

28. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Mysore. N.D.XII.-41149-(ORI, Mysore had been not permitted)

29. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Tanjavara Library–Descriptive number-15306 (NR)

30. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Oriental Research Institute, Madrasa (Vol.IX.Book No. 5120) NA

31. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Muru Savir Math, Hubli, Dharwad. (Manu.59) NR

32. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Muru Savir Math, Hubli, Dharwad. (Manu.179) NR

33. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Paṇḍit P.R. Karibasavaśāstri 1880 AD (Published)

34. Śaivasiddhātapañcaka (Śrī 32. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ)

1897 AD. Ellur Andhra Pradeśa. (Published)

35. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Paṇḍit N.R. Karibasavaśāstri 1921 AD (Published)

36. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Bhāvaprakāśa commentary by Paṇḍit Kāśināth Śāstri 1936 AD (Published)

37. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

1940 AD, Jangamavādi Math, Vārānasī (Published)

38. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

1961 AD, Sādhanagranthamandali, Tenāli, Andhra Pradesh (Published)

39. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā

Vīraśaiva Liṅgi Brahman Dharma Granthamālā, Solapur–1905 AD (Published)

40. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Reṇukagītā

Śivakumāra Swāmī (Published)

41. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā

Śrī Mallikarjuna Swāmī, Gadag Publication–1976 AD (Published)

42. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Śivayogaśāstra

Dr. Śivaliṅga Śivācārya, Sanskriti Prakashan, Rajur Math, Ahmadpur, Dist. Latur (Published)–2000 AD

43. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā

Dr. Śivakumāra Swāmī, Shaiva Bharati Shodha Pratisthāna, Jaṅgamavādi Math, Varanasi (Published)

44. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā

Śaivabhārati Shodha Pratisthana, Jangamavādi Math, Varanasi (Published)

45. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati

Kannada–Śaivabhārati Shodha Pratisthāna, Jaṅgamavādi Math, Varanasi (Published)

46. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati

Telugu–Śaivabhārati Shodha Pratisthāna, Jaṅgamavādi Matha, Varanasi (Published)

47. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati

Kannada–Śaivabhārati Shodha Pratisthāna, Jaṅgamavādi Matha, Varanasi (Published)

48. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati

Nepāli–Śaivabhārati Shodha Pratisthāna, Jaṅgamavādi Matha, Varanasi (Published)

49. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvāmṛta

Dr. S.D. Pasārakar–Śaivabhārati Shodha Pratisthāna, Jangamavādi Matha, Varanasi (Published)

50. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Śaivabhārati Shodha Pratisthāna, Jaṅgamavādi Matha, Varanasi (Published)

51. Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ

Russian Language Printed (Published)

Critical Edition

Editing is the process of selecting and preparing writer, visual, audible and film media used to convey information. The editing process can involve correction, condensation, organization and many other modifications, performed with an intention of producing a correct, consistent, accurate and complete work.[52]

According to Bhārati, "The chief aim of textual criticism is to prepare an accurate text of an ancient manuscript through protection of the historical records that may contain in the respective manuscript or carefully preserving the original word and sentence structure of the author. That means to critically edit a work acceptable in all aspects through considerable study with intelligent and prescribed system. This requires critical acumen and also scholarship in the subject on the part of the editor."[53]

Critical Edition of Siddhāntaśikhāmaṇi

Critical Edition is a process by which we can know the original text, difference between all available texts and it is helpful for making authentic text of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts. There are four stages for simple critical edition by which we can systematically arrange all the manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi.[54]

Stage 01-To edit the selected text existed copies must have to collect.

Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript is the oldest script of Siddhāntaśikhāmaṇi. For this critical edition the Nanded manuscript is used as "Mother Script". Nanded manuscript plays

very important role in this process, because it is complete text in good condition. The referred script is Devanāgari due to beautiful handwriting it is easily read. There is no any type of damage in this Nanded script. Handmade paper is used as medium for Nanded Manuscript. For the edition of this mother text other 09 manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi are collected from different parts of the India.

Stage 02-Color photocopies of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts and printed books.

For Critical Edition of Nanded Manuscript it is necessary to read all the original manuscripts carefully. All these manuscripts are stored scientifically by Institutions. Due to handling again and again, Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts could damage, so the institute had given permission to take photocopy of manuscript. Nikon D3100 digital camera used for digital photocopying of the manuscripts.

Stage 03-All the copies are named according to the name of city.

All these 10 manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi's text, so to differentiate all these scripts, it is necessary to give a siglum or name to each manuscript. So all these copies are named by three types.

1. According to the Name of City

SSN:SS–Siddhāntaśikhāmaṇi, N–Nanded.[55]

See, first SS is stands for Siddhāntaśikhāmaṇi and N for Nanded city.

2. According to the Name of the Institute and City

SSORIM, SSORIM2, SSORIMY, SSMTORI, SSLM– these 05 copies are named by their Institution's name. Here, SSORIM means–SS–Siddhāntaśikhāmaṇi, ORI for Oriental Research Institute and M–Madras.[56] In this sign, we can see the Siddhāntaśikhāmaṇi with the name of Institute and end with

name of the city Madras. There are two copies stored in Oriental Research Institute, Madras, so here second copy mentioned as SSORIM2. Oriental Research Institute, Mysore copies named as SSORIMY and SSMTORI.[57] In first sign, MY used for Mysore and in second siglum MTORI means–Maritoṇṭadārya Commentary from Oriental Research Institute, Mysore.

3. According to the list of Institution

There are 04 copies named as–SSK2377, SSK2341, SSK1560, SSUV used for this work which are well stored and named by home Institutes in their catalogue. Such as–SSK2377–SS for Siddhāntaśikhāmaṇi, K–Karnataka University, Dharwad and 2377 is the number of manuscript as per the Institutes catalogue. 2341, 1560 are also mentioned in the catalogue of same institute.[58] SSUV is the copy of Jangamawadi Math, Varanasi[59], where it is stored in Library as SSUV-SS–Siddhāntaśikhāmaṇi and UV–Ujjaniśa Vyakhya. In this copy we can see the absence of number.

In this stage all the manuscripts are named as mentioned three types. With the help of these titles all the copied of Siddhāntaśikhāmaṇi are differentiate with each other properly. Mother copy Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) s also editing with all these manuscripts. This is important stage for Critical Edition.

Stage 04-Method of description

A description of manuscript is very essential part of Critical study. So in this stage a general list of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts is prepared for pre-examinations. After that all the information related with copies collected and present scientifically. Such as–language, script, subject, size, lines of each side, page number, date, author and any special remark etc. all these things represented by method of description. According to V.S. Sukthankar's instruction for critical study of the text provides in the systematic manner.[60]

Stage 05-After collection of copies the editor should go through the whole text of every copy

In this stage all the collected copies of Siddhāntaśikhāmaṇi are completely read carefully. Nanded manuscript is in Devanāgarī script so it is easy to read but some copies are in Kannada and Telugu script. It is hard portion to read such manuscripts, but the Kannada paṇḍita and Telugu Paṇḍita of Oriental Research Institute, Madrasa and Mysore read all the manuscripts and it makes this work authentic.

Preparation of Samhitāpāṭha

Among all concerned copies which are complete or more complete, readable, which is in much better condition, not worm eaten, not damaged by water or any liquid etc. Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) is selected as the mother to transcribe the whole text to compare with other copies. Other copies of Siddhāntaśikhāmaṇi are compared only with the mother manuscript–Nanded text. Today 10 manuscripts are available of this text. These copies are divided into two sections–

1. Primary
2. Secondary

Nanded Manuscript is the Primary or mother text. Original text of Siddhāntaśikhāmaṇi. Progressive text and commentary text are known as secondary text. All these texts are compared and examined with the Nanded text. The Samhitāpāṭha is a textual collection of all these copies of Siddhāntaśikhāmaṇi.

For the critical edition of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscript, it is necessary to make a "Samhitāpāṭha" of all the manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi. So Nanded copy is used as mother copy of Siddhāntaśikhāmaṇi text. After the careful reading of all copies which are in the form of Padapāṭha. All the texts of Padapāṭhās compared with Nanded manuscript and made "Samhitāpāṭha". This collected text is named as–

SSS-SS-Siddhāntaśikhāmaṇi, S–Samhitāpāṭha[61]

Siddhāntaśikhāmaṇi Samhitāpāṭha (SSS) is the Samhitāpāṭha text, which is the edition of all the texts of Siddhāntaśikhāmaṇi in one copy. Nanded text is very primary copy of Siddhāntaśikhāmaṇi, because there is absence of paricchedas scheme, numbers of ślokas and titles also. For the simple critical edition here mentioned chapter scheme, numbers to ślokas and titles also in SSS. There are 1394 total ślokas are in Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded manuscript (SSN) but in Siddhāntaśikhāmaṇi Samhitāpāṭha (SSS) numbers of ślokas are increases up to 1448.[62]

After comparing all the available readings more acceptable reading is taken as the body of the text. Other variant readings along with their sources are given at the end of same life of stanza with all its details.

Critical Edition

The Critical edition is scholarly textual criticism, Rāmachandran (1984-63) points out that "it is a criticism or discussion, not about the ideas in the text but about the text itself, i.e., the verbal expression, or wording, of the composition."[63]

It is the representation of Śivācārya's work Siddhāntaśikhāmaṇi without any change from the editors view point. This work only mentioned all the major aspects of Nanded manuscript of Siddhāntaśikhāmaṇi text compared with all copies. There are some changes in all these scripts. Each manuscript had different Maṅgalācaraṇas–Start line and Samāpti Mudrās–end title. It is necessary to know the changes are coming in both titles and about the scribe. The variations in reading words, grammar have been recorded separately. Then any violation pertaining to meter of the verses ślokās are mentioned systematically. In the process of simple critical editing of Siddhāntaśikhāmaṇi, it is essential to focus on all these five aspects of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts–

1) The changes in the Maṅgalācaraṇas of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts:

2) Different styles of (samāptī mudrā) end titles referred by scribes of Siddhāntaśikhāmaṇi:

3) The Words changed in manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi:

4) Grammatical changes found in different manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi:

5) Some ślokās are added or dropped or changed their sequences in manuscripts:

1) The changes in the Maṅgalācaraṇas of Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts:

In Sanskrit literature any work started with Maṅgalācaraṇa. Maṅgalācaraṇa word consist of two words–Maṅgalā means–goodness and caraṇa means line or Pada or step also. It is mentioned for creation of Good work without any obstacles. The deity is worshiped by writer or poet or author in the Maṅgalācaraṇa.

In the beginning of Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded manuscript (SSN) script writer had been given his great gratitude as–**Om Guruliṅgāya namaḥ.**[64] **Guruliṅga** is the basically Vīraśaiva concept used for Guru or teacher. As per Nanded script there are some texts where Guru is worshiped by scribe. Such as–Bhaje Reṇukendram. Reṇukācāryāya namaḥ,[65]

Śrī Gururevaṇasiddhāya namaḥ[66] Śrī Guru niraṅjanāya saṅgamāya namaḥ[67]

Śrī Gurunāthāya namaḥ[68] Om Guru Basavaliṅgāya namaḥ[69] Om Guruliṅgāya namaḥ[70]

Śrī gurave gati[71] Śrī Gurumudāmāyāmantreśvara ghanaliṅgāya namaḥ[72]

Guru is the most important principal of Śaivāgamasiddhānta. At the starting of SS manuscripts Guru had been worshiped by the scriptwriters as–Reṇukendram, Reṇukācarya,

Revaṇa-siddha, Niraṅjana Saṅgama, Gurunātha, Basavaliṅga, Guru-liṅga. Guru in different forms mentioned as an Iṣṭadevatā 18 times in SSS. Om Guru Basavaliṅgāya namaḥ–mantra is used by three scripts among all the manuscripts. It is clear that these three scripts–SSSSRV, SSK1560 and SSK294 had been written after the Basavannā's period (12th century)[73]. When the scripts writer or the expert who had been shown his respect towards Basavannā and he had been tried his best for the SS. So he completed his work of ss. It shows the family relation between SS philosophy and Basavannā's Vacana Sāhitya.

Mantra of Lord Śiva in the Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts:

Śrī Śivāya namaḥ[74] Śivāya namaḥ[75], Namaḥ Śivaliṅgāya[76], Om Śivāya namaḥ[77] Śivāya gurave namaḥ[78] Om.....lingaśivāya namaḥ[79] Śrī kālahastīśvarāya namaḥ[80] Śivānyai namaḥ[81], Śrī Siddhaliṅgeśvarāya namaḥ[82] These are the mantras which are used by scholars of SS for worshiping lord Śiva at the starting of chapters. Śiva, Śivaliṅga, Śiva as a Guru, Kālahastiśvara, mantreśvara, Ghanaliṅga, Siddhaliṅgeśvara is the names used for the lord Śiva. Near about 21 times lord Śiva worshipped by Śaivāgama scholars. It means Śiva is the main deity of those experts who studied these scripts, those experts who rewrite the scripts of SS, readers who read these scripts of SS.

Gaṇeśa Mantra

Śri Gaṇeśāya namaḥ[83] Lord Gaṇeśa is the deity belongs to Śiva's family, which was mentioned as an Iṣṭadevatā only in one script from Rājur.

Iṣṭadevatā abhivādanam is the ancient tradition of Indian philosophy; it helps to protect work from any obstacles. Śiva, Guru and Gaṇeṣa are the Iṣṭadevatā of scriptwriters or experts. In the description of Guru they mentioned some names of their gurus. It shows the tradition of guruśiṣyaparamparā. According to Iṣṭadevatā vandanam it can conclude that there are many more traditions of śaivāgama education system but they had been accepted the Siddhāntaśikhāmaṇi as way of life.

2) Different styles of (samāptī mudrās) end titles referred by scribes of Siddhāntaśikhāmaṇi:

At the end of each Siddhāntaśikhāmaṇi manuscript mentioned a note or title. It is known as Samāptī mudrā or end-title. It is very useful to know about details of the text i.e. title, author, scriptwriter, date, place and number of verses etc. At the end of Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded manuscript (SSN) scribe noted the End-title as–

1. Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN):

In Śrī Śivayogi Reṇukācāryenāgastya* samvādāmakaḥ Śivayogī Śivācāryeṇa viracitam Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ granthaḥ sampūrṇamstu. Śrī Siddheśvarāya arpaṇamastu.

Hastākṣar Sāraṅga Basava Dargu Modi Nandigram. Kṛpāprasāde Śrī Iśavarayyā Taktha Sinvāsana Lāsin Halimaṭha Kasabe Vasamat. Śake 1723.

Mitī Śrāvaṇa śuddha navamī taddini Siddhāntaśikhāmaṇiḥ grantha lekhan sampūrṇa samāpta. Śubham bhavatu. Kalyānamastu.[84]

In the first line of text 'Śivayogi Reṇukācāryeṇagastyāya' words are used by scribe. The word Śivayogi used as adjective of Reṇukācārya. It is single reference among the Siddhānta-śikhāmaṇi texts. It is one example of Bhāṣyamāliṅya. Reṇuka and Agastya these two words used as 'Reṇukācāryeṇ-agastyāya', this is also grammatical mistake. So it becomes– 'Reṇukācārya-Agastya-Samvādatmakaḥ'. Śivayogi Śivācārya is the author of Siddhāntaśikhāmaṇi.

According to Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) it is clear that scribe dedicated this work to Lord Siddheśvara as–'Śrī Siddheśvarāya arpaṇamastu'.

Sāraṇga Basava Dargu Modi, Nandigrama had been written the Siddhāntaśikhāmaṇi text by the blessings of Holy Guru Iśvara Śivācārya, Lāsin Maṭha, Basmatanagar. The Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded manuscript (SSN) text had been

completed on 'Śake 1723, Śrāvaṇa Śuddha navamī–1800 AD. It is importance of Nanded copy which mentioned clearly author, scribe, date and deity of the text. There is no other text in which we can get references of date, scribe.

2) Siddhāntaśikhāmaṇi manuscript Karnataka University, Dharwad–SSK 2341:

Śrī Siddhāntaśikhāmaṇisapurṇamaṅgalamastu.[85] It is only simple end title used by scribe for SSK2341 script. Only he mentioned that this is the end of SS text.

3) Siddhāntaśikhāmaṇi Lāsin Maṭha Manuscript–SSLM:

Iti Śrī Siddhāntaśikhāmaṇisampurṇa samāptaḥ M(ā)astu.

Śrīsāmbārpaṇamastu 1475[86]

Siddhāntaśikhāmaṇi Lāsin Maṭha Manuscript (SSLM) script end with formally but here Sampūrṇa and Samāptaḥ these two words with same meaning used by scribe. It is scriptwriter's mistake. Scribe devoted the same work to Lord Śrī Sāmba.

4) Siddhāntaśikhāmaṇi Ujjaniśa Vyākhyā, Jangamavadi Math, Varanasi-SSUV:

SSUV text ending at 20^{th} paricchedas and only mentioned the name of the Holy Guru Mallikārjuṇācārya and commentary as Ujjainiśa vyākhyā.[87]

5) Siddhāntaśikhāmaṇi Karnataka University, Dharwad manuscript-SSK2377 and Siddhāntaśikhāmaṇi Suprabodhini Vyakhya-SSSV:

Iti Sri Vīraśaiva māheśvarācārya śivayogiśa saṅgrahite vedāgama purāṇādi sārabhute vīraśaivadharmanirṇaye siddhāntaśikhāmaṇau Reṇuka vibhiṣaṇa samvāda śivaliṅgaikya prasaṅgonāma ekaviṅśatiḥ paricchedaḥ.[88] This is end title of both texts of Suprabodhini Vyākhyā. It is clear mentioned the use of paricchedas or chapter scheme. Texts included 21 paricchedas and Śivoyogīśa is mentioned as the author of Siddhāntaśikhāmaṇi text. It is summarized collection of Vedāgama and Purāṇās. Also the SS is the authentic book on

Vīraśaivism. These important and modified references found in the both texts.

It can be concluding that the end title of Siddhānta-śikhāmaṇi copies is very important aspects for critical study. It is accommodating with the author–Śrī Śivayogi Śivācārya, subject–the communication between Reṇukācārya and Agasti and its utility as the authentic book on Vīraśaivism.

3) The words in manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi:

The third part of critical study is about the words. Each and every word is significant for this editing process. After the making of Samhitāpātha, it is clear that there are many changes found in ss texts. There are various types of changes i.e. Sandhi, synonyms, writing mistake, antonyms, change in sequence etc. These changes are only mentioned as footnotes and Mother script Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) designates with bold word. In the section, Simple critical edition does not critique on the proper word. Such as–

Mudda[89] 1-15 **Prabhodhaparamānanda**[90] 2-27 **kaladhoutaśilāmaye**[91]. 3-1

Sāra[92] 4-3 **Vīrasiddhānta**[93] 4-11 **Kenacita kāraṇenāham**[94] **siddhāntasajñakam**[95]. 5-10

Sā dikṣā trividhā prokta[96] 6-12

Bhasmadhāraṇasanyuktaḥ[97] **tathā**[98]. 7-1 **sankhya**[99] 9-2 **yuktyā sadā**[100]. 10-14

Śadhyakaraṇam vinipātavighātanam[101]. 11-14 **nibodhitaḥ**[102]. 12-01

Tatsamāveśo[103] 13-2 **Śivenaikyam**[104] 14-06

Nava[105] 15-04 **tasya**[106] 16-05 **Sa**[107] 17-37 **tadātma**[108] 18-10 **yathākāśam**[109] 19-65 **Itaḥ**[110] 20-78. There is no change in 21st paricchedas.

These are changes in words from all manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi and it compared with Nanded script. There are some synonyms, some mistakes of Scriptwriter or somewhere

word or part of the word dropped by scribe or expert. But there is no change in philosophy of Śivādvaitasiddhānta.

4) Grammatical changes found in different manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi:

All these manuscripts had been writing by different scholar, experts of Śivādvaitasiddhānta. In these scripts had some grammatical changes; in case, tenses, moods, nouns, pronouns and prefixes, suffixes also. These changes are compared and examined with scientific method. The word of Mother Text who had been changed in other text of Siddhāntaśikhāmaṇi is mentioned with bold and the changes mentioned in other copies are given in footnotes.

Tām[111] 1-8 **viśvāsaparamāśritau**[112] 2-34 **Śṛṅgaśṛṅgāra**[113] 3-12

Ṭaṅkitaiḥ[115] 4-24 **siddhāntā vikhyātā**[116]**5-3**

Jijñāsuḥ[117] sarvasansāradoṣadhwansakaram śivam 6-1

Kapilā **kṛṣṇā ca dhavalā dhūmrā raktā tathaiva ca** 7-8[118]

Jñāte[119] śive jaganmūle kim phalam devatāntaraiḥ 8-3

Sadasivah[120] 9-01 **gaṇanāyakaḥ**[121] 10-01 **gaṇanāyaka**[122] 11-1

Sākṣācchiva[123] 12-37 **sindhūnā**[124] 13-28 **loukikī**[125] 14-24 **parijñānam**[126] 15-15

Jñānamātram[127] 16-16 **Prasādisthalasanśritam**[128] 17-1

Jñānacandrasamudbhūtām[129] 19-14

Parāhantāsamāveśaparipūrṇa**vimarśavān**[130] 20-32

It is clear that, these are the words which are used in all manuscripts of Siddhāntaśikhāmaṇi. This edition introduce with all the grammaticalchanges founding all copies. There is no opposite conceptual with all the grammatical changes founding all copies. There is no opposite conceptual reference in all texts. Due to the long period, oral traditional method and different

school of thought, traditions, regional factors, local languages affected the Siddhāntaśikhāmaṇi texts. It is open window to researcher to critipue, why the scribe used the particular word.

5) Some ślokās are added or dropped or changed their sequences in manuscripts:

In the edition of Siddhāntaśikhāmaṇi texts, there are some Ślokas or lines, which did not mentioned in the Siddhānta-śikhāmaṇi Nanded script but found in other texts of Siddhāntaśikhāmaṇi. These ślokas or lines are playing very important role in the study of Siddhāntaśikhāmaṇi text. Such ślokas or lines are mentioned with its details in this section.

Vanded tām paramānada prabodhalaharīm śivām. 1-12[131]

Sa śambhurbhagavān devaḥ sarvajñanaḥ sarvaśaktimān. 2-13.1[132]

Prāpyavidhyo mahādevāt brahma viśvaniyāmakāt. 2-16[133]

Senānirgatvaktrāśca reṇukodārukatathā. 3-45[134]

Bhavadavhānsambhrāntya mayā-jñānādvilaṅghitaḥ.[135]

Dāruko-yam tataḥ śambho pāhi mām bhaktavatsal. 3-80[136]

Vitastimānavistāramāyāmantrīṇyaratnikāma.

Koupīna kaṭi sūtrāṇkam tasyopari manoharam. 4-5[137]

Vātulānte vedasāre vedaikassahasamudbhave.[138]

Liṇgāngadñānasanyuktaiṣatasthaladñānabodhake. 5-15[139]

Seveta paramācāryam śiṣyo bhaktibhayānvitaḥ. 6-7[140]

Rakṣām sarveṣubhuteṣu yojaniyam supanditaiḥ. 7-11-01[141]

Vasiṣṭavāmadevādhyā munayo muktakilbiṣāḥ.[142]

Mantraṇānena samsiddhā mahātejaswino-bhavan. 8-48[143]

Evamācārasamyukto vīraśaivo mahāvratī.

Pūjayet parayā bhaktyā gurum liṅgam ca santatam. 9-50[144]

Bhaktedehikalingasthalamcaivakalaśodhbhava. 10-6[145]

Garbhastho jāyamāno vā jāto vā brāhmaṇo-thavā.

Antyajo vāpi mucyeta prasāde sati śāṅkare. 11-72[146]

Tadekabhāvamananāt samādhisthaḥ prakīrtitaḥ. 12-24[147]
Cittavṛttisamālīnajagataḥ śivayoginaḥ.
Śivānandoparisphūrtimuktirityabhidhīyate. 14-9[148]
Viṣayānandakaṇikānispṛho nirmalāśayaḥ.
Śivānandamahāsindhumajjanādaikyamucyate. 14-10[149]
Yadhyat paśyan dṛśā yogī manasā cintyayatyapi.
Tattat sarvam śivākāram samvidrūpam prakāśate. 17-16[150]
Akhanạsaccidānanda parabrahmaswarupinaḥ.
Jīvanmuktasya dhīrasya māyā kainkaryabhāvini. 20-48[151]

Sequence of ślokās in Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts

There are some ślokas in Siddhāntaśikhāmaṇi manuscripts which are having change in sequence of ślokās or lines. It is also find out that some ślokās or lines were dropped in some scripts. Such ślokās or lines are compared with Nanded script and mentioned in this section–

Vedamārgavirodhena viśiṣṭācārasidhaye.
Asanmārganirāsāya pramodāya vivekinām. 1-26[152]
Bhavadukto hyupāyosmena kincitjñāyatesdhunā.
Reṇuko dārukaśceti dwāvabhūtām śivapriyau. 2-25[153]
Gaṇḍamaṇḍalparyantakrīḍanmokarakuṇḍalam.
Kālimnā kālkūṭasya kaṇthanāle kalaṅkitam. 3-19[154]
Samujwaljaṭājālaistapaḥpādapallavaiḥ.
Sphuratsoudāminīkalpaijwālājālairivānalam. 4-31[155]
Vidyāyām śivarūpāyām viśeṣād ramaṇam yataḥ.
Tasmādete mahābhāgā vīraśaivā iti smṛtāḥ. 5-17[156]
Mandapena samopetākriyādīkṣā kriyottarā.
Kuṇḍamaṇḍalikopeta kriyā dikṣā kriyottarā. 6-18[157]
Vāruṇādhairalam snānairbāhyadoṣāpahāribhiḥ.
Āgneyam bhasmanā snānam yatibhistu vidhīyate. 7-25[158]

Ȯmkārapurvo mantro-yam pañcākṣarmayaḥ paraḥ.
Śaivāgameśu vedeṣu ṣaḍkṣar iti smṛtaḥ. 8-17[159]
Tapaḥ karma japo dhyānam jñānam cetyanupūrvakam.
Pañcadhā kathyate sadbhistadeva bhajanam punaḥ. 9-18[160]
Iśvaraḥ sarabhūtānām brahmādinām mahāniti.
Buddhiyogāt tadāsakto bhakto māheśvaraḥ smṛtaḥ. 10-10[161]
Patram puṣpam phalam toyam yacchivāya niveditam.
Tattatswīkārayogena sarvapāpakṣayo bhavet. 11-17[162]
Jñāninām yogayuktānāmantaḥ sphurati dīpavat.
Cidākāram parabrahmaliṅgamijñairna bhāvyate. 12-8[163]
Śivajñāne samutpanne parānandaḥ prakāśate.
Tadāsaktamanā yogī nānyatra ramate sudhīḥ. 13-11[164]
Viṣayānandakaṇikānispṛho nirmalāśayaḥ.
Śivānandamahāsindhumajjanādaikyamucyate. 14-4[165]
Kaṭākṣacandramā yasya jñānasāgaravardhanaḥ.
Sansāratimiracchedī sa gururjñānapāragaḥ. 15-26[166]
Bahistimiravicchettā bhānureṣa prakīritaḥ.
Bahirantastamaschedī vibhurdeśikabhāskaraḥ. 15-27[167]
Kaṭākṣaleśamātreṇa vinā dhyānādikalpanam.
Śivatvam bhāvayedatra sa vedaḥ śāmbhavo mataḥ. 15-28[168]
Śivavedakare jñāne datte yena sunirmale.
Jīvanmukto bhavecchiṣyaḥ sa gururjñānasāgaraḥ. 15-29[169]
Yajñādayaḥ kriyāḥ sarvā liṅgapūjānśasamitāḥ.
Iti yatpūjyate sidhaistatkriyāliṅgamucyate. 15-34[170]
Brahmaviṣṇavāḍayaḥ sarve vibudhā liṅgamāśritāḥ.
Sidhāḥ swaswapade bhānti jagattantrādhikāriṇaḥ. 15-36[171]
Mṛcchilāvihitālliṅgād bhāvaliṅgam viśiṣyate.
Nirastasarvadoṣatwād jñānamārgapraveśanāt. 15-40[172]

Vihāya bāhyaliṅgāni cilliṅgam manasi smaran.
Pūjayed bhāvapuṣpairyo bhāvaliṅgīti kathyate. 15-41[173]
Swānubhūtipramāṇena jyotirliṅgena sanyutaḥ.
Śilāmṛddārusambhutam na liṅgam pūjayatyasau. 15-43[174]
Kriyārūpā tu yā pūjā sā jñeyā swalpasamvidām.
Āntarā bhāvapūjā tu śivasya jñāninā matā. 15-44[175]
Kalpitāni hi rūpāṇi sthūlāni paramātmanaḥ.
Yateścatvāri karmāṇi na pañcamamiheṣyate. 15-48[176]
Vidhiḥ śivaniyogo-yam tasmād vihitakarmaṇi.
Śivārādhanabuddhaiva nirataḥ syād vicakṣaṇaḥ. 16-08[177]
Śivayh śarīrayoge-pi yathā saṅgavivarjitaḥ.
Tathā yogī śarīrastho niḥsaṅgo vartate sadā. 17-07[178]
Aśarīrospi sarvatra vyāpakospi nirañjanaḥ.
Ātmā māyāśarīrasthaḥ paribhramati sansṛtau. 18-09[179]
Ātmānandena tṛptasya kā spṛhā viṣaye sukhe.
Gaṅgājalena tṛptasya kūpatoye kuto ratiḥ. 19-16[180]
Yasya kāryadaśā nāsti kāraṇatvamathāpi vā.
Śeṣatvam naiva śeṣitvam sa muktaḥ para ucyate. 20-71[181]
Etyuktvā paśyatastasya purastādeva reṇukaḥ.
Antardadhe mahādevam cintayannantarātmanā. 21-1[182]

These some stanzas are dropped or changed the sequences in Siddhāntaśikhāmaṇi text.

Conclusion

In Maṅgalācaraṇa Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) had been respected to the Guruliṅga, it shows the nearly relation to Śaivāgama or Vīraśaivasiddhānta. Where as other scripts stated the gratitude to with the names of gurus and deities. The end title of Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) is clearly mentioned all the details of SS,

author-sivayogi, subject-Reṇukāgastyasamvāda and name of the text Siddhāntaśikhāmaṇi very clearly. It is found that, other texts are focused on the name of Pariccheda or name of the end chapter, name of commentator and name of the commentary work etc.

It is noted that the details of scribe and date mentioned in Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) text separately not mixed with original text in same handwriting. It shows the transparency of scribe for his work. In the section of words and grammar Nanded text is very much clear and near to Śaivāgama siddhānta when compared with other texts. There are very few mistakes found in Nanded script, it can be said that near about none relatively other scripts.

In the process of simple critical edition, it is observed the additional numbers of ślokās and sequence of ślokās in Siddhāntaśikhāmaṇi texts. Such additional ślokās are found in commentary works mostly. Due to impressions of traditions, school of thoughts, regional languages, the experts, Ācāryas, Gurus or commentators comprised these additional ślokās for explaining the concepts of Siddhāntaśikhāmaṇi. For example, the Siddhāntaśikhāmaṇi Lasin Matha, Basmatnagar manuscript (SSLM) text stated the lokadharmini dīkṣā in Gurukāruṇya-sthala, which is not coordinated with Vīraśaivasiddhānta.

According to this critical edition, the texts are divided into three sections–

1. Mother texts

2. Those included chapters and sub-titles and number of Ślokas.

3. Commentary text which is the advanced stage in the history of Siddhāntaśikhāmaṇi.

It is concluded that the Siddhāntaśikhāmaṇi Nanded Manuscript (SSN) is the transmitted copy of the primary text or original text of Siddhāntaśikhāmaṇi. In this text there is absence

of chapter scheme, number of ślokas and use of titles. The simple critical edition of mother text of Siddhāntaśikhāmaṇi, uncovered all the dimensions i.e. words, grammar and ślokās Siddhānta-śikhāmaṇi manuscripts very keenly.

Reference

1. Radhāvallabha Tripathi, Nigam tatha Saiva-Sakta-Vaisnav paramparayon ka antahsambandhah, New Bharatiya book corporation, Delhi. 2010 AD. pg.05
2. Tantrāloka–vivek (Tan.Ā.vi) editor-R.C. Dvivediand Navajivan Rastogi, Delhi. Part 3, pg.898
3. Nigama tatha śaiv-pg.102,104
4. Śakti and Śakta–Arthur Avalon. pg.5
5. Bhāskari, part 02, pg.85
6. Bhāratiya Darśan–Sri Baldev Upādhyāya
7. Monier William Sanskrit English Dictionary, pg.129
8. The students new Sanskrit English Dictionary, Karnataka Print Press, Mumbai. pg.154
9. Tattvavaiśāradi commentary on Yogbhāsya
10. Śakti and Śakta–Arthur Avalon. pg.34
11. (Kamikāgama) Śakti and Śakta–Arthur Avalon. pg.34
12. Monier Willian Sanskrit–English Dictionary. pg.545
13. Kirātarjunīyam. 1.25
14. Monier Willian Sanskrit–English Dictionary. pg.545
15. Monier Willian Sanskrit–English Dictionary. pg.545
16. Tantrāgamasārasarvasva. Pt. Vrajavallabha Dvivedi, Shaiva Bharati Shodha Pratisthan, Varanasi. 2005. pg.01
17. Kāsmirasaivdarsanbruhatkosa,Vol.02. pg.707
18. Kāśmirśśaivdarsanbṛhatkoṣa, Vol.02. pg.708
19. Ibid, Vol.2. pg.710
20. Śaktiviśtadvaitattwatrayavimarśaḥ, Saivabharati Sodha Pratisthana, Varanasi. pg.2
21. Śaktiviśtadvaitattwatrayavimarśaḥ, Saivabharati Sodha Pratisthana, Varanasi. pg.3
22. Ibid, pg.03

23. Siddhāntaśikhāmaṇi samīkṣā, Saivabharati Sodha Pratisthana, Varanasi, pg.8
24. Kriyāsāra, bhā.1 pg.9
25. Śakti and Śākta. pg.35
26. Dr. Sivakumar Swami, Sri Siddhantaśikhāmaṇi, Saivabharati Sodha Pratisthana, Varanasi 2007 AD. pg.Intro.44
27. SSN-5-08
28. Ssmtsse. Intro.pg.117
29. Edit copy of Siddhantaśikhāmaṇi–Siddhantaśikhāmaṇi samhitā (sss)-1-30
30. Ibid-1-31
31. Ibid-1-29
32. Ibid-1-25
33. SSS-1-25
34. SSN-5-09,10,11,12, Siddhantaśikhāmaṇisamikṣā. pg.35
35. Ibid-pg.35
44. Kāśmīraśaivadarśanbṛhatkośaḥ. Vol. 2. pg.768
45. Samāpti Mudrā (End title) of SSN manuscript
46. SSN manuscript. pg.01 to 108
47. Samāpti Mudrā (End title) of SSN manuscript
48. SSN-01-13
49. SSN-01-17
50. Ibid-01-13 to 17
51. Dr. C. Śivācārya, Śrī Siddhāntaśikhāmaṇi, Introduction chapter. pg.37, Saiva Bharati Publication, Varanasi
52. Dr. S.S. Swāmi, Śri Siddhāntaśikhāmaṇi, pg.109, Saiva Bharati Publication, Varanasi
53. Kāśīnāth Śāstri, Siddhāntaśikhāmaṇiḥ, Intro. Kāśīnāth-granthamāla, Mysore. 1972 AD
54. Dr. Sivalinga Sivacarya Sivayogasastra, Sanskrit Prakasana, Ahmadpur. Dist. Latur. 2000 AD. Introduction of Sivayogi Sivacarya. pg.30
55. Ibid
56. Yadavakālīna Mahārāṣṭra–Panase, Vidyakala Prakasana, pg.162 and Epiya Graphica India. Vol.4. pg.60

57. A Spectrum of Siddhāntaśikhāmaṇi–an article by Prof. V.P. Thonte, Siddhāntaśikhāmaṇi Mimānsā, Saivabharati Shodha Pratisthana, Jangamavadi Math, Varanasi–221
58. SSS-1-31
59. Hindu Viśvarāṣtrācā Itihāsa–P.N.Ok. pg.600
60. Wikipedia
61. Dr. Keshab Chandra Dash, Elements of Research Methodology in Sanskrit, Choukhamba Sanskrit Sansthan, K.37/116, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001. 1992 AD. pg.24
62. Ibid-pg.138
63. SSS-01
64. Catalogue–ORI, University of Madras, Chennai
65. Catalogue–ORI, University of Mysore, Mysore
66. Catalogue–Karnataka University, Dharwad
67. Catalogue–Jangamavadi Math, Varanasi
68. Elements of Research Methodology in Sanskrit. pg.56
69. Annexure-01, see–Introduction to Manuscriptology, p.138
70. Annexure-02
71. Dr. Keshab Chandra Dash, Elements of Research Methodology in Sanskrit, Choukhamba Sanskrit Sansthan, K. 37/166, Gopal Mandir Lane, Varanasi, pg.57, 1992 AD
72. SSN–pg.01
73. ssorim–Pariccheda 01
74. ssk 1507–Pariccheda 01
75. ssk 2341–Pariccheda 01, ssk 2341–Pariccheda 04
76. ssk 2377–Pariccheda 01
77. Pariccheda 01–ssssrv, ssk 294, ssk 1560, sss–Pariccheda 08–ssk 1560, sss–Pariccheda 05–ssk 1560, ss–Pariccheda 07–ssk 1560
78. Pariccheda 08–ssorimy
79. Pariccheda 09,13,16–ssk 2341, sss–Pariccheda 11,12–ssk 1560
80. Pariccheda 01–ssorim
81. Shunyasampadana by Shivagana prasadi, Ed. Dr. Jayadevi Lingade, pg.464

82. Pariccheda 01 sslm, sss–Pariccheda 05–ssk 2341, ssorimy, sss–chapter 06–ssorimy, sss–Pariccheda 07–ssorimy
83. sss–Pariccheda 01–ssorimy, sss–Pariccheda 08–ssk 2341
84. sss–Pariccheda 01–ssorim
85. Pariccheda 14–ssk 2341, (sss–Pariccheda 15–ssk 2341) (sss–Pariccheda 18–ssk 2341, ssk 1560) (sss–Pariccheda 19–ssk 1560) (sss–Pariccheda 20–ssk 2341)
86. (sss–Pariccheda 05–ssk 2341) (sss–Pariccheda 10–ssk 2341)
87. sss–Pariccheda 17–ssk 2341
88. sss–Pariccheda 01–ssk 2468
89. Pariccheda 03–ssk 2341
90. sss–Pariccheda 02–ssk 2
91. sss–Pariccheda 01–ssrm
91. SSN–pg.216
92. ssk 2341–pg.218
93. sslm–pg.133
94. SSUV, 20th Pariccheda
95. SSk 2377, SSSV
96. Muddi–sslm
97. Prabhodhamānanda–ssk 2341
98. Kaladhoutasilāmaye–ssk 2341
99. First line, Sphāra–sslm
100. First line, Śivasiddhānta–ssk 2341, Siddhānta–ssorim
101. Śivādeśānusāreṇa–ssppk, ssppt, sssydss, ssorim
102. Soujñkam-ssorimy
103. First line, dikṣāca–ssvl, ssuv, ssmtori, ssorimy, ssav, Śivadikṣā dvividhā–sslm, proktāḥ–ssav
104. Lingadhāraṇasanyuktaḥ–sslm
105. Matam–ssuvl, ssuv, ssorimy
106. Pujanam–ssuvl, ssuv, sakhya–sslm, ssorim, ssuv, ssav, ssk 2377
107. Bhaktyā–ssuvl, ssuv, smṛtāḥ–ssorim
108. First line, Sidhikaraṇam–sslm, nighātanam–sslm
109. First line, Ca bodhitaḥ–ssuvl, ssuv, ssorimy
110. Tatsmāveśe–ssorim, ssorim2, ssuv, ssuvl, sslm, ssrm, sssv, ssk 2377, ssk 2341, ssk 1560, ssorimy, ssmtori

111. First line, Yo śvekyam–ssuvl, ssuv
112. First line, Bhakti–ssorim
113. First line, Sā hi–ssvl, ssuv
114. First line, Tat–ssuvl, ssuv
115. ssuvl, ssuv–see-18-6, tadātmā–sslm
116. First line, Yathā vyoma–sslm
117. Ataḥ–ssk 2377, ssuvl, ssuv, ssorim
118. Sā–sslm
119. First line, viśvāsama paramāśrito–sssv, ssssrv, sslm
120. Śṛṅgāra–ssk 2341
121. Śṛṅgāra–ssk 2341
122. Nairmalyam–sssv, ssssrv, sssydss.
123. Ṭaṅtikaiḥ–sslm
124. First line, Siddhāntāḥ–ssk 1560, vikhyātāḥ–ssk 1560
125. Jijñāsussarva.....sssv, ssk 2377, ssav
126. First line, Kṛṣṇādhavalādhūmāraktāsathaiva ca–ssuvl, ssuv, sssydss
127. Jñāte-dropped–ssuvl, ssuv
128. First line gaṇanāyaka–ssorim, ssorim 2, ssuv, ssuvl, sslm, ssk 2377, ssk 2341, ssk 1560, ssorimy, ssmtori
129. Gaṇanāyakaḥ–ssuvl, ssuv
130. First line. Sākṣācchiva meva–sssv, ssk 2377, ssuvl, ssuv
131. First line. Sindhūnām–ssuvl, ssuv
132. Loukikāḥ–ssk 2341
133. First line. Patijñānam–sssyds, Paramjñānam–ssorim
134. Jñānamātra–ssorim, ssorim 2, ssuv, ssuvl, sslm, ssrm ssk 2377, ssk 2341, ssk 1560, ssorimy, ssmtori
135. Prasādisthalasanśritaḥ–ssk 2341
136. First line. Jñānacandrasamudbhūtāḥ–ssk 2341
137. First line. Vimarśitaḥ–ssorimy
138. sslm
139. sssv, ssorim, sslm, ssppk, ssppk2, ssppt, ssppn, ssydss, sst, ssmtvp
140. First line. sssv, ssk 2341, sslm, sst, sssydss, ssorim, Prāptavidhyo–sslm, sst

141. sssv, ssssrv, ssk 2341, ssmtori, sslm, ssrm, ssorim
142. ssk 2341, sslm, ssppt, ssorim
143. sssv, ssssrv, ssppt, ssorim
144. sslm
145. sslm
146. ssuvl, ssuv
147. sslm
148. ssuvl, ssuv
149. sslm, ssorim, ssuv, ssav, ssk 2377, ssmtori
150. ssuvl, ssuv
151. First line–sslm
152. ssorim, ssorim 2, ssuv, ssuvl, sslm, ssrm, sssv ssk 2377, ssk 2341, ssk 1560, ssorimy, ssmtori
153. ssorim, ssorim 2, ssuv, ssuvl, sslm, ssk 2377, ssk 2341, ssk 1560, ssorimy, ssmtori
154. ssuvl, ssuv
155. ssuvl, ssuv
156. ssuvl, ssuv
157. ssk 1560, ssorim
158. dropped ssk 2341
159. First line dropped–ssk 2341–see SSS-2-30-1
160. dropped–ssk 2342
161. sslm
162. dropped ssk 1560, ssuvl, ssuv, ssorimy, sssydss–dropped–ssav–see-5-21-1
163. dropped–sslm
164. dropped–ssuvl, ssuv
165. mentioned–ssuvl, ssuv, ssorimy, ssav–see-8-13-01
166. ssuvl, ssuv, ssorim
167. dropped–ssk 1560, ssuvl, ssuv, ssorimy–see sss-10-11-01, 10-13-01
168. dropped–ssk23411
169. mentioned–ssuvl, ssuv, ssorimy, ssav-see-sss-12-5-03
170. mentioned–ssuvl, ssuv-see-sss-13-6-02
171. dropped–ssuvl, ssuv, ssav

172. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-22-03
173. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-22-04
174. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-22-01
175. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-22-02
176. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-31-01
177. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-31-02
178. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-37-02
179. mentioned–ssuvl, ssuv-see-sss-15-37-01
180. dropped–ssuvl, ssuv, ssav
181. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-15-41-01
182. param bodham–ssssrv, dropped–sslm
183. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-16-5-02
184. dropped–sslm
185. see-sss-18-7-01
186. dropped–ssk 2341
187. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-20-60-01
188. mentioned–ssuvl, ssuv, ssav-see-sss-20-89-01

Abbreviations

Ā–Āgama

SS–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Audio–Śaivabhārati Publication, Varanasi

SSA–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Ajñāta vyākhyā

SSK 1507–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Palm leaf KRC K Uni. Dharvad

SSK 1560–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Palm leaf KRC K Uni. Dharvad

SSK 2341–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Palm leaf KRC K Uni. Dharvad

SSK 2377–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Palm leaf KRC K Uni. Dharvad

SSK 2468–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Palm leaf KRC K Uni. Dharvad

SSK 294–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Palm leaf KRC K Uni. Dharvad

SSLM–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–lasin math script

SSMTORI–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā–palm leaf script (Mysore, N.D.XII.–41146)

SSMTSSE–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā–Dr. Śivakumāra Swāmi (published)

SSMTV–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā Commentary–Śaivabhārati Publication

SSMTVP–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā–Varada Publication, Solapur

SSMTVPMV–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā Commentary–Varad Publication

SSN–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Dargu Modi Puratattva Sangrahalaya, Juna Ganj, Nanded script

SSN–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Nandigrāma manuscript

SSORIM 2–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–ORI Madrasa script 2–vyākhyā (Vol.IX.BookNo.5551)

SSORIM–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–ORI Madrasa script (Vol.IX.BookNo.5119)

SSORIMY–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–ORI Mysore palm leaf script (Mysore,N.D.XII.–41138)

SSPPK–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati–Kannada–Śaivabhārati Publication

SSPPK–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati–Kannada–Śaivabhārati Publication

SSPPN–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati–Nepāli–Śaivabhārati Publication

SSPPT–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Pārāyana prati–Telugu–Śaivabhārati Publication

SSR–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Russian

SSRM–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Rajur Math Ahamdpur script

SSS–Fully edited text of Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Śrī Siddhānta-śikhāmaṇiḥ Samhitā

SSSG–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipikā–Śrī Swāmi, Gadag Publication

SSSSRV–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Siddhāntaśikhāmaṇi Sisake Sru Revaṇārādgta Vyākhyā

SSSV–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Suprabodhini Vyākhyā

SSSYDSS–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvapradipika–Dr. Śivalinga Śivācārya (published)

SST–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Tattvāmṛta–Dr. S.D. Pasārakar, Śaivabhārati Publication

SSUV–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Jangamavādi Kāśī script/ Ujjainīśa vyākhyā

SSUVI–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Ujjainīśa vyākhyā (chapter-5-20)

SSRG–Śrī Siddhāntaśikhāmaṇiḥ–Reṇukagītā–Śivakumāra Swāmī (published)

*

सिद्धान्तशिखामण्युत्तरकालीनं वीरशैवसंस्कृतसाहित्यम्
(संक्षिप्तपरिचयः)

को.रं. बसवराजुः

यद्भासा भासते विश्वं यत्सुखेनानुमोदते ।
नमस्तस्मै गुणातीतविभवाय परात्मने ।।

सिद्धान्तशिखामणेर्कालः ख्रि. ७ तः २० तमशताब्द इति लब्धप्रमाणैः निश्चितः विद्वत्तल्लजैः । अतः तदुत्तरकालीनाः कृतय एवात्र संक्षेपतः अवलोकिताः ।

वीरशैवसाहित्यमिदं अध्ययनदृष्ट्या द्विधा कर्तुं शक्यते । भाष्य-वादग्रन्थाः, प्रकरण-संग्रहग्रन्थाः इति । भाष्य-वादग्रन्थस्य यथा–श्रीकरभाष्य-वीरशैवानन्दचन्द्रिकादयः । प्रकरण-संग्रहग्रन्थस्य यथा अनुभवसूत्रम्-अनादिवीरशैवसारसंग्रहादयश्च ।

१. भाष्य-वादग्रन्थाः

१. श्रीकरभाष्यम्

भाष्यस्यास्य कर्ता श्रीपतिपण्डिताराध्यः । अस्य कालः क्रि. २०६०। एषः ब्रह्मसूत्राणां शक्तिविशिष्टाद्वैतपरप्रतिपादकं भाष्यमचीकरत् । तद्भाष्यं श्रीकरभाष्यमिति प्रख्यातम् ।

यदुक्तम्–

श्रीवैय्यासिकब्रह्मसूत्रपदमुख्यार्थं शिवानुग्रहात् ।
भाष्यं श्रीकरनामकं भवहरं दुर्वादिगर्वापहम् ।।इति।

अस्य भाष्यस्य मातृका अगस्त्यमुनिकृतवैयासिकीवृत्तिरेवेति गम्यते । उक्तं च–

अगस्त्यमुनिचन्द्रेण कृतवैयासिकां शुभाम् ।
सूत्रवृत्तिं समालोक्य कृतं भाष्यं शिवङ्करम् ।।इति।

भाष्यस्यास्योद्देश्यं प्रथमाध्याये स्पष्टीकृतमेवम् ।

श्रुत्यैकदेशप्रामाण्यं द्वैताद्वैतमतादिषु
द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशेषाद्वैतसंज्ञिके ।
वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः ।।इत्यदिरीत्या।

भाष्यसारः—चराचरस्थावरजंगमात्मकसृष्टिस्थितिलयकर्ता परंब्रह्मपरशिव एव । वेदेषु मुख्यप्रतिपाद्यः स एव जगदुभयकर्ता मुक्तिदाता च । परशिवपदप्राप्तिसिध्यर्थं वेदागमप्रतिपादित-

लिङ्गधारणं दीक्षापूर्वकमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः वीरशैवैः । अष्टावरण-पञ्चाचार-सद्गुरुकरुणाकटाक्ष-लब्धशक्तिपाताद्यवच्छिन्न-परशिवेष्टलिङ्गधारणात्मकपाशुपतदीक्षितः एव अधिकारीति निर्णीतमत्र । द्वितीयाध्याये–वेदवेदान्तविरुद्धस्मृतितर्कादिनिराकरणपूर्वकं जगज्जन्मादिकारणत्वं शिवस्यैव दर्शितम् । तृतीये–जीवस्य लोकान्तरगमनविचारादयः, चतुर्थे च–सर्वासां विद्यानां फलत्वादिविचारः कृतः । तस्मिन्नेव समन्वयाधिकरणे उपक्रमोपसंहारादिवेदान्ततात्पर्यलिङ्गैः सर्वाः श्रुतयः परशिवे एव समन्वयं प्राप्नुवन्तीति साधितम् ।

२. श्रीकण्ठभाष्यम्

भाष्यकर्ता श्रीकण्ठशिवाचार्यः इति (कालः १२७०) भाष्यारम्भश्लोकेनैव विवेच्यते । यथा–

व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मसिद्धये ।
पूर्वाचार्यैः कलुषितं श्रीकण्ठेन प्रसाध्यते ।।

एष एव नीलकण्ठशिवाचार्येति नाम्ना प्रथितः इत्यपि वदन्ति । श्रीकण्ठभाष्यस्य शिवार्कमणिदीपिकेति बृहद्व्याख्याकृता अप्पय्यदीक्षितेन । भाष्यकारः अष्टविंशतिशिवागमप्रामाण्यं, पति-पशु-पाशेति तत्त्वत्रयञ्च अङ्गीचकार । एवमेव बृहणः परशिवस्य सगुणत्वं (शक्तिसमवेतत्वं), जगतः नित्यत्वं कार्यकारणयोः अपृथक्सिद्धत्वं च उररीकृतम् ।

३. क्रियासारः

कर्ता नीलकण्ठशिवाचार्यः । कालः क्रि. १४००. वीरशैवगुरुपरम्परायां द्वौ नीलकण्ठाचार्यौ वर्तेते । आद्यः पूर्वोक्तः भाष्यकारः । द्वितीयः क्रियासारकारः । आद्यनीलकण्ठकृतभाष्यसारं अयमाधुनिकनीलकण्ठशिवाचार्यः सरलतया कारिकारूपेण कृतवान् । उक्तं च–

नीलकण्ठशिवाचार्यनाम्ना भाष्यमचीकरत् ।
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादनमुत्तमम् ।।
मयापि तस्य तात्पर्यं श्रोतॄणां सुखबुद्धये ।
कारिकारूपतः सर्वं क्रमेणैव निबध्यते ।।इति।

सारविशेषाः–सर्ववेदान्तवाक्यानां प्रतिपाद्यः शिव एव । यथा–

शिव एव परं तत्त्वं शिव एव परं महः ।
शिव एव परंज्योतिः शिव एव परात्परः ।।
शिव एव परं लिङ्गं लिङ्गरूपी शिवः स्वयम् ।
सर्ववेदान्तवाक्यानां प्रतिपाद्यः शिवः स्वयम् ।।

षट्स्थलज्ञानानुष्ठानमेव मोक्षसाधनम् ।

यथा–

तस्माच्छक्तिविशिष्टस्य जिज्ञासा ब्रह्मणः स्फुटम् ।
षट्स्थलज्ञानमप्यत्र मोक्षसाधनमुच्यते ।।
परिवृत्य यथाकालं करपीठे तु पूजयेत् ।

विशेषतः शिवागमब्रह्मसूत्रयोः एकार्थत्वमत्र साधितम् । उक्तञ्च–

वीरशैवागाख्यातपदार्थानां परस्परं
आगमेषु पदार्था ये त एव व्याससूत्रके
शब्दभेदेन वक्ष्यन्ते संज्ञाभङ्ग्यन्तेरण च ।।इति।

अत्र अपरश्च विशेषो वर्तते । यत्–संस्कृतशूद्रादिसर्वेषामपि बद्धाधिकारत्वमस्ति । 'संस्कारैः संस्कृता ये च ते सर्वेऽपि अधिकारिणः' ।

४. लिङ्गधारणचन्द्रिका

कर्ता नन्दिकेश्वरशिवाचार्यः । क्रि. २५ शताब्दीयोऽयम् । ग्रन्थेऽस्मिन् प्रधानतया वैदिकमन्त्रप्रमाणेन लिङ्गधारणं वैदिकत्वमिति प्रसाधितम् । अपि च उपनिषदागमस्मृत्यलङ्कारेतिहासादिप्रमाणेन मुमुक्षूणां लिङ्गधारणागत्यं कर्ता स्थापयति । ग्रन्थेऽस्मिन् पूर्वार्धं उत्तरार्धं चेति भागद्वयमस्ति । पूर्वार्धे पूर्वोक्तरीत्या वेदादिप्रमाणेन अपूर्वविध्यादिमीमांसाशास्त्रन्याय्यैश्च लिङ्गधारणत्वं स्थाप्यते । उत्तरार्धे तु–लिङ्गधारिणां मृतदेहस्य खननमेव विहितं वेदोक्तत्वात्, न तु दहनम् । मृतलिङ्गधारिणां सापिण्ड्यादिकर्माणि न कुर्युः प्रेतत्वाभावात् । सः मृतः षट्त्रिंशत्तत्त्वयोजनया मुक्तो भवति । इत्यादि विषयाः प्रतिपादिताः । प्राचीनग्रन्थस्यास्य श्रीकाशीक्षेत्रस्थमहामहोपाध्यायपण्डितशिवकुमारमिश्रमहाभागैः 'शरन्नामिका' व्याख्या विनिर्मिता । श्रीमत्काशीपीठतः एतद्व्याख्यासहितः ग्रन्थः प्रकाशितो वर्तते । १९०६ तमाब्दे । ग्रन्थोऽयं पुनरपि क्रि. २१७७ तमेऽब्दे हिन्दीभाषानुवादेन साकं श्रीव्रजवल्लभद्विवेदमहोदयानां संपादकत्वे पुनर्मुद्रितोऽस्ति काशी जंगमवाडीमठस्थेन शैवभारतीभवनेन ।

५. वीरशैवानन्दचन्द्रिका

रचयिता मरितोण्टदार्यः । एषः (१७५०) खीस्ताब्दीयाष्टादशतमशतकमध्यभागे आसीत् । केलदिबसवप्पनायकाय इमामुपदिदेश ।

संकीर्तयामि बसवक्षितिपाल तुभ्यं
सिद्धान्तमन्यमतमण्यथ तन्निरासम् ।
चित्तेऽवधारय बुधैरपि दुर्विबोध-
मीशार्चनातिशयशुद्धतरान्तरङ्ग ।।

ग्रन्थेऽस्मिन् क्रिया-वाद-कथेति काण्डत्रयं वर्तते। प्रथमकाण्डे वीरशैवानां क्रियाचाराः सप्रमाणं निरूपिताः। वादकाण्डे क्रमशः लोकायतार्हतसौगतगौतमीयकाणादकापिल-पातञ्जलजैमिनीयशाङ्कररामानुजश्रीकण्ठीयमाध्वादिमतनिराकरणपूर्वकं निजलिङ्गाङ्ग-सामरस्यरूपशिवाद्वैतमतं युक्त्यागमप्रमाणेन च व्यवस्थापितम्। एवमेव अन्तिमे कथाकाण्डे लब्धलिङ्गाङ्गसमरस्यमुक्तानां शरणानां कथाः कथिताः। एतदतिरिक्तं मरितोण्टदार्येण सिद्धान्त-शिखामणेः तत्त्वप्रदीपिकाख्या व्याख्या च व्यरचि।

६. शिवाद्वैतमञ्जरी

कर्ता च श्रीस्वप्रभानन्दशिवाचार्यः। कालः क्रि. १७ तमशतकः। काश्मीरदेशीयः। ग्रन्थेऽस्मिन् प्रथमं पूर्वपक्षरूपेणाद्वैतमतस्य मण्डनम्, तदनन्तरं तस्य खण्डनं अन्ते च शक्तिविशिष्टाद्वैताभिधवीरशैवदर्शनस्य मण्डनं सुचारुरूपेण कृतं वर्तते। ग्रन्थोऽयं क्रि. १९७६ तमेऽब्दे काशीजङ्गमवाडीमठेन प्रकाशितो वर्तते।

एवमेव क्रि. १९ तमे श्रीपूवल्लीबृहन्मठाध्यक्षचरपट्टाधिकारिणा तर्कतीर्थवेदान्तविशारद-सांख्यालंकारन्यायवाचस्पतीत्यादिपदवीप्रतिष्ठितेन श्रीनीलकण्ठशिवाचार्येण विरचिता शैवाद्वैतपरिभाषा; १७४०-१७५५ तमे दोड्डनगरसीमाभूपालबसवप्पनायकस्य षडक्षरनाम्ना मन्त्रिणा कृतवीरशैवधर्मशिरोमणिः; एवमेव आधुनिककालीनैः उमचगिशंकरादिशास्त्रिभिः वीरशैवोपनिषद्भाष्यादयोऽपि भाष्यवादवर्गे युजः।

२. प्रकरण-सङ्ग्रहग्रन्थाः

१. अनुभवसूत्रम्

कर्ता मायिदेवः। कालः क्रि १४३०। मायिदेवः स्ववंशपारम्पर्यक्रमं एवमाह प्रथमाधिकरणे। मलपहारिणीतीर्थं–तत्तीरे क्षेत्रमैपुरम्–देवता सोमनाथः–तत्र उपमन्युः–उपमन्युमुनीश्वरः–भीमनाथः–कल्लेश्वरः–बोप्पनाथः–संगमेश्वरः–तस्य पुत्रः मायिदेवः।

अनुभवसूत्रे ४६७ सूत्राणि, अष्टाधिकरणानि च सन्ति। तत्र प्रथमे प्रथमतः कर्तुः वंशपारम्पर्यक्रमः उक्तः। तदनन्तरं शिवाद्वैतसिद्धान्तनामकं षट्स्थलनिर्णयं यैश्च कैश्च प्रमाणैः कृतमिति कथितम्। यथा–श्रुतिस्मृतीतिहासैः, शिवधर्मादिशास्त्रकैः, शिवाद्वैतरहस्यैः शिवागमैः, सर्वैः उपनिषद्वाक्यैः, पुराणै उतरार्थकैः, गीतासारैः समस्तैः पुरातनमतैः, गुरूक्त्या, स्वानुभूत्या, प्रमाणतः, तर्कतश्च शिवसिद्धान्ततन्त्रं षट्स्थलनिर्णयं विशेषतः कथ्यते। द्वितीये स्थलनिर्देशं बहुधा प्रपञ्चितम्। तृतीये लिङ्गस्थलनिरूपणं, चतुर्थे अङ्गस्थलनिरूपणं, पञ्चमे लिङ्गाङ्गसंयोगविधिः षष्ठाधिकरणे सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यं, सप्तमे लिङ्गार्पणसद्भावं अन्तिमेऽधिकरणे क्रियाविश्रान्तिश्च क्रमशः कथ्यते। अत्रान्ते फलश्रुतिरपि उक्ता। "एतद्यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति प्रभुः"। इति।

२. विशेषार्थप्रकाशिका

गुरुशिष्यसंवादात्मिकेयं अनुभवसूत्रस्य पूर्वभाग एव । अस्यामपि सूत्र इव कारिकाः पञ्चाधिकरणानि सन्ति । प्रथमाधिकरणे षट्स्थलब्रह्मोपदेशः, द्वितीये लिङ्गार्चनक्रमः, तृतीये प्रसादसद्भावः, चतुर्थे षट्स्थलपुरश्चरणम्, अन्तिमे च अवसानविधिः एते विषयाः प्रतिपादिताः । अस्यां विशेषार्थप्रकाशिकायां अनेकविशेषार्थाः प्रकाशिताः । उदा.–'सोम' शब्दस्यार्थविशेषः इत्थं प्रदर्शितोऽस्ति ।

नमश्शब्द उमासाक्षात्
शिवशब्दः शिवस्स्वयम् ।
अयशब्दस्तयोर्योगः
सोमं तं समुपास्महे ।।इति।

३. शिवसिद्धान्तचन्द्रिका

शक्तिविशिष्टाद्वैतापराभिधाने शिवाद्वैतसिद्धान्ताकाशे शिवसिद्धान्तचन्द्रिकेयं सर्वदा चन्द्रिकेव प्रकाशते । ग्रन्थस्यास्य कर्ता जगदाचार्यः पूवल्लीपञ्चवण्णिगि सिद्धनंजेशशिवाचार्यः । चन्द्रिकायामस्यां सर्वविषयः श्रीचिद्घन (वंशगुरुः) गुरोः सत्येन्द्रचोलचक्रवर्तिनश्च संवादरूपेण प्रश्नोत्तररूपेण वा व्यवस्थापितः । अत एव सदुपदेशपरोऽयं चोल-चिद्घनसंवादः' इत्यपि प्रसिद्धः ।

ग्रन्थेऽस्मिन् परिच्छेदचतुष्टयं वर्तते । प्रथमपरिच्छेदे ईश्वरसिद्धिः, शिवस्यैव जगदुभय-कारणत्वं, शक्तेः शिवाश्रितत्वकथनं द्वितीयपरिच्छेदे शक्तिस्वरूपनिरूपणं विश्वस्थितिनिरूपणं षट्त्रिंशत् तत्त्वानि च, तृतीये ध्यानयोगनिरूपणं, सांख्ययोगखण्डनं पातञ्जलादियोगखण्डनं अन्तिमे महावाक्यार्थनिरूपणादारभ्य सर्वाङ्गलिङ्गसाहित्यपर्यन्तं, विषयाः प्रतिपादिताः ।

४. शिवतत्त्वरत्नाकरः

कर्ता केलदिसंस्थानस्य राजा बसवभूपालः । अयं क्रि. १७ तमशताब्दे आसीत् । "विचित्रानेकरत्नानामाकरत्वात् समुद्रस्य रत्नाकर इति संज्ञा, तद्वत् शिवेन परमात्मना साक्षात् परम्परया वा निर्मितानां तत्त्वरत्नानां प्रतिपाद्यविषयरूपाणां आकरत्वादस्य ग्रन्थस्य शिवतत्त्वरत्नाकर इत्यन्वर्था संज्ञा" । ग्रन्थोऽयं शा. श. १६३१ तमे सर्वधारिसंवत्सरे भाद्रपदमासे शुक्रवासरे पौर्णमास्यां परिपूर्णोऽभूदिति उक्तम् ।

शिवतत्त्वरत्नाकरोऽयं विश्वकोश इव विलसति ।
विचित्रनानाविषयाभिरामे मनोज्ञबन्धेऽत्र महाप्रबन्धे ।
वेद्यावबोधार्थमहं प्रमेयसंक्षेपमुद्देशमुखेन कुर्वे ।।

अन्यौ सुभाषितसुरद्रुम-सूक्तिसुधाकराख्यौ ग्रन्थौ तेनैव विरचितौ ।

पूरकत्वेन श्रीभोजदेवनृपतिविरचिततत्त्वप्रकाश: श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचित ''परमार्थसार:'' इत्यादय: ग्रन्था: अवलोकनीयाश्च । वीरशैवसाहित्ये अन्यान्यसंस्कृतग्रन्था: बहव: सन्ति । तेष्वत्र मुख्यानां पट्टिका दत्ता ।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. गूलूरूसिद्धवीरणार्यकृत 'अनादिवीरशैवसारसंग्रह:'
२. मरितोण्डदार्यकृत 'कैवल्यसार:'
३. सोसलेरेवणाराध्यकृत 'चोल-रेणुकसंवाद:'
४. नन्दिकेश्वरशिवाचार्यकृत 'नन्दिकेश्वरकारिका'
५. 'भक्ताधिक्यरत्नावलि:' षडक्षरदेवकृता
६. सिद्धनाथशिवाचार्यकृत 'रेणुकविजयचम्पू:'
७. गुब्बिमल्लणार्यकृत 'वातुलोत्तरव्याख्यानम्'
८. नीलकण्ठनागनाथाचार्यकृत 'वीरमाहेश्वराचारसंग्रह:'
९. श्रीनागनाथाचार्यकृत 'वीरशैवसदाचारसंग्रह:'
१०. मरितोण्टदार्यकृत 'वीरशैवप्रदीपिका'
११. मौनप्पपण्डितकृत 'वीरशैवाचारकौस्तुभ:'
१२. गुरुदेवकविकृत 'वीरशैवाचारप्रदीपिका'
१३. चन्नसदाशिवयोगीकृत 'शिवयोगप्रदीपिका'
१४. श्रीमज्ज्योतिर्नाथकृत 'शैवरत्नाकर:'
१५. निहूरुनञ्जणार्यकृत 'वेदान्तसारवीरशैवचिन्तामणि:'
१६. पि.आर. करिबसवशास्त्रिकृत 'वीरशैवोत्कर्षसंग्रह:'
१७. टि.जि. सिद्धप्पाराध्यकृत 'शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शनम्'
१८. टि.जि. सिद्धप्पाराध्यकृत 'गीतावीरशैवभाष्यम्'
१९. अभिनवकालिदासबसवप्पशास्त्रीकृत 'स्तवनमञ्जरी'
२०. मल्लिकार्जनपंडिताराध्यकृत 'लिङ्गोद्भवकाव्यम्'
२१. कुमारस्वामिशास्त्रीकृत 'चन्नबसवपुराणम्' इत्यादय:

*

श्रीसिद्धान्तशिखामणि और उसका हिन्दी में अनुवाद

डॉ. गोविन्द सप्तर्षि (प्रधानाचार्य)
संन्यासी सं.महाविद्यालय, वाराणसी

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जून १८७७ में हिन्दी वर्द्धिनी सभा, इलाहाबाद में अपने भाषण में कहा था–

''निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।'' इस तरह भाषण देते हुए उन्होंने हिन्दी को 'रत्न' कहा है। इसी का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण राष्ट्र में वीरशैव सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए काशीज्ञानसिंहासनपीठाधीश्वर श्री श्री १००८ महास्वामी डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्यजी ने 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' नामक वीरशैवधर्मदर्शन ग्रन्थ का संस्कृत, कन्नड़, मराठी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में व्याख्याओं के उपरान्त डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदीजी को राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ग्रन्थ की व्याख्या करने की प्रेरणा दी, जिसे विद्वान् लेखक ने बड़े ही ज्ञानपूर्ण तर्कों से युक्त करके लिखा है। शायद इसीलिए इसका नाम 'ज्ञानवती' टीका रखा है। महास्वामीजी ने इस पर स्वयं हिन्दी में ही प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ा दिया है।

ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के विषय में विचार करने से पूर्व हम थोड़ा इस ग्रन्थ से सम्बद्ध विषय दर्शन के बारे में विचार करेंगे कि दर्शन क्या है? तो देखने में यह आता है कि प्रारंभ से ही दर्शन दो धाराओं में विभक्त है। जिनमें एक भारतीय दर्शन धारा है और दूसरी पाश्चात्त्य दर्शन धारा है। भारतीय दर्शन धारा भी दो धाराओं में विभक्त है, १. आस्तिक दर्शन धारा तथा २. नास्तिक दर्शन धारा। इनमें छः आस्तिक दर्शन हैं और छः नास्तिक दर्शन हैं। नास्तिक की परिभाषा में यह कहा जाता है कि–नास्तिको वेदनिन्दकः–अर्थात् वेदोक्त मार्ग का समर्थन करनेवाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं और जो दर्शन वेदों का खण्डन करते हैं, उन्हें नास्तिक दर्शन कहते हैं। कहा भी है कि–

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा ।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः ।।

न्याय-वैशेषिक-वेदान्त-मीमांसा-सांख्य और योग ये छः आस्तिक दर्शन हैं और जैन-चार्वाक-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक ये छः नास्तिक दर्शन हैं। इसके अतिरिक्त माध्व-रामानुज-निम्बार्क-बल्लभ-वीरशैव-शैव एवं पूर्ण प्रज्ञादि दर्शनों का अन्तर्भाव भी आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत हो जाता है।

दर्शन शब्दार्थ

''दृश्यते = ज्ञायते = विचार्यते अनेन इति दर्शनम्'' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय,

उसे दर्शन कहते हैं। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का प्रयोजन माना गया है। यह दृश्यमान चराचर विश्व सत्य है या मिथ्या जड़ है कि चेतन, प्रकाश है कि अंधकार, सुख-दुःख आदि के द्वन्द्व से रहित है अथवा सहित, आधि-व्याधि-जरा और मरण की भीषण कथाव्यथा से समन्वित है अथवा निरन्वित इत्यादि विषयों का विचार भी दर्शन शब्दार्थ के अन्तर्गत ही माना गया है। संसार क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह नित्य है अथवा अनित्य? संसार के अन्दर रहकर सुन्दर एवं सुखपूर्वक जीवन बिताने का क्या साधन है? इत्यादि समस्त विषय 'दर्शन-शास्त्र' गम्य है।

दर्शन भी एक शास्त्र है। जैसे–व्याकरण-साहित्य एवं ज्यौतिष आदि स्वतंत्र शास्त्र हैं, उसी तरह दर्शन को भी शास्त्र की संज्ञा प्रदान की गयी है।

"शासनात् शंसनात् शास्त्रमित्यभिधीयते।"

यहाँ पर 'शास' धातु का अर्थ आदेश प्रदान करना, आज्ञा देना आदि माना गया है। और 'शंस' धातु का अर्थ विचार करना, निरूपण करना, प्रतिपादन करना आदि माना गया है। यह 'शासन' शास्त्र भी विधिनिषेधात्मक दो प्रकार का होता है। "स्वर्गकामो यजेत" यह विधिशास्त्र है और "न कलञ्जं भक्षयेत्" यह निषेध शास्त्र है एवं "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" यह विधिशास्त्र है, "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" यह निषेधशास्त्र है। दर्शन भी शास्त्र है, इसी दृष्टिकोण के आधार पर कुछ विद्वानों ने व्याकरण एवं साहित्य आदि शास्त्रों को भी 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। जैसे–न्यायदर्शन-मीमांसादर्शन-सांख्यदर्शन आदि को दर्शन संज्ञा प्रदान की गयी है और वह स्वाभाविक है। दर्शन इस चराचर दृश्यमान मिथ्या जगत् के अन्दर सत्य की खोज करता है एवं इस मिथ्या जगत् के आधारभूत उस वास्तविक तत्त्व का पता लगाता है। अनेक में एक, असत् में सत् का अन्वेषण करता है। इस दृश्यादृश्य जगत् के अन्तर्यामी परम तत्त्व ईश्वर का अनुसंधान करता है।

दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है।

उपनिषद् में जिस तत्त्वज्ञान का सङ्केत 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में है, उसी की यथार्थ व्याख्या करने के लिए उक्त षड्दर्शनों की एवं उसमें अन्तर्भूत दर्शनों की उत्पत्ति हुई है। भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन करने पर भी इन सबका लक्ष्य एक ही है—अनेकता के भीतर रहनेवाली एकता को भलीभाँति पहचान कर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप निःश्रेयस की प्राप्ति यही भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है, जिसकी ओर शिवमहिम्न में श्रीपुष्पदन्ताचार्य ने तथा रघुवंश महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने संकेत किया है–

"नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"[1]

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः
पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा
जाह्नवीया इवार्णवे।।[2]

पुष्पदन्त के कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त वेद, सांख्य-योगशास्त्र, शैवागम, वैष्णवशास्त्र ऐसे अलग-अलग शास्त्रों में यही श्रेष्ठ है, यही हितकर है, ऐसी समझ से रुचि की भिन्नता के कारण अच्छे बुरे नाना प्रकार के मार्ग से उपासना करनेवाले सभी मानवों को अपनी उपासना के योग से साक्षात् अथवा परंपरा से सारी नदियों का जल जिस प्रकार समुद्र में ही मिलता है, उसी प्रकार सबका एकमात्र गन्तव्य ईश्वर ही होता है।

इसी तरह कालिदास कहते हैं कि भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का चरम लक्ष्य समुद्र ही है। वे सब वहाँ पहुँचकर एक हो जाते हैं। इसी तरह ईश्वरप्राप्ति के लिए शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हों, किन्तु उन सबका लक्ष्य एक ही ईश्वरप्राप्ति है–

"जेहि तेहि भाँतिन सेइवो एकई नन्दकिशोर।"

यहाँ नन्दकिशोर से तात्पर्य पूर्ण ब्रह्म से ही है।

अस्तु श्रीसिद्धान्तशिखामणि हिन्दी अनुवाद इस निबन्ध पर विचार करने के पूर्व हमारे समक्ष चार प्रश्न उपस्थित होते हैं, जो निम्न प्रकार से हैं–

१. इसको कौन पढ़ सकता है अर्थात् इसको पढ़ने का कौन अधिकारी हो सकता है?

२. इसमें कौन सा विषय लिखा है?

३. इसमें लिखे हुए विषय तथा पुस्तक का क्या संबंध है?

४. इस निबन्ध या पुस्तक के पढ़ने का क्या प्रयोजन है?

उपर्युक्त चारों प्रश्नों के उत्तर को अनुबन्ध कहते हैं और चारों को मिलाकर अनुबन्धचतुष्टय होता है।

जब तक किसी को यह ज्ञान नहीं होगा कि यह निबन्ध या पुस्तक किस विषय की है, मैं इसको समझ सकता हूँ या नहीं, इसके पढ़ने से मुझे क्या लाभ होगा? तब तक वह उसे पढ़ने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। इसलिए कहा भी गया है कि–

ज्ञातार्थज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।

इतना कहने के उपरान्त अब हम थोड़ा 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' के विषय में विचार करते हैं। वीरशैव सिद्धान्त के तत्त्व वेद, आगम, पुराण एवं इतिहासादि ग्रन्थों के मध्य से प्रतिपादित होने पर भी समस्त तत्त्वों का एकत्र अवलोकन करने की इच्छा हुई तो 'श्री सिद्धान्तशिखामणि' के अतिरिक्त दूसरा कोई भी प्राचीन ग्रन्थ नहीं है, जो वीरशैव सिद्धान्त को समग्र रूप से प्रतिपादित कर सके, इसलिए इसे वीरशैव धर्म के धर्मग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। ग्रन्थ के लेखक श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी ने उसके महत्त्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया है–

श्रीवेदागमवीरशैवसरणिं श्रीषट्स्थलोद्यन्मणिं
श्रीजीवेश्वरयोगपद्मतरणिं श्रीगोप्यचिन्तामणिम् ।
श्रीसिद्धान्तशिखामणिं लिखयिता यस्तं लिखित्वा परान्
श्रुत्वा श्रावयिता स याति विमलां भुक्तिं च मुक्तिं पराम् ।।[३]

वेदान्तशास्त्र के प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' जिस प्रकार समस्त उपनिषदों के सार को बताती है, उसी प्रकार श्रीसिद्धान्तशिखामणि भी 'कामिका-दिवातुलान्त' अट्ठाईस शैवागमों के सार को प्रतिपादित करता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिये हुए उपदेश को जिस प्रकार महर्षि वेदव्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता में संग्रहीत किया है, उसी तरह श्री रेणुकाचार्यजी द्वारा महर्षि अगस्त्य को दिये गये वीरशैवसिद्धान्त के सारभूत उपदेश को श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी ने 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' में संगृहीत किया है। इसके संस्कृत टीकाकार मरितोटंदार्य ने अपनी टीका के प्रास्ताविक में कहा कि–

रेणुकागस्त्यसंवादं निगमागमविश्रुतम् ।
प्रदीपयति गुप्तार्थमुद्धृत्य शिवयोगिराट् ।।[४]

इस ग्रन्थ को 'श्रीरेणुकगीता' भी कहते हैं, फिर भी 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' के नाम से ही यह प्रसिद्ध है।

रेणुक-अगस्त्यसंवादात्मक इस ग्रन्थ का श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी ने 'श्री सिद्धान्तशिखामणि' यह नाम क्यों रखा, इसके पीछे एक रहस्य यह है कि कामिकादि वातुलान्त समस्त शैवागमों को 'सिद्धान्त' भी कहते हैं। इन आगमों के उत्तर भाग में अर्थात् अंत में आये हुए सिद्धान्त को ही इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है, इसलिए इसे 'सिद्धान्तशिखामणि' यह नाम दिया है। इसी अभिप्राय को श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी ने इस प्रकार कहा है–

सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरत्वान्निरुत्तरम् ।
नाम्ना प्रतीयते लोके यत्सिद्धान्तशिखामणिः ।।[५]

इतना ही नहीं तो सांख्य, योग, पंचरात्र, पाशुपत इत्यादि सभी मत वेदों का आधार लेकर ही प्रतिपादित होने के कारण युक्तिप्रत्युक्ति से किसी भी दर्शन का खण्डन नहीं करना चाहिए, इस उदात्त भावना से द्वैत-अद्वैतादि मतों का समन्वयात्मक यह सिद्धान्त इस ग्रन्थ में प्रतिपादित होने के कारण सर्वग्राह्य एवं समस्त सिद्धान्तों का शिखामणि है, ऐसा सूचित करने के लिए श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी ने इस ग्रन्थ का नाम यथार्थ रूप से 'श्री सिद्धान्तशिखामणि' यह रखा है।

इस ग्रन्थ में लगभग इक्कीस परिच्छेद हैं। इनकी श्लोकसंख्या लगभग १४०२ है, परंतु श्लोकों के चरणों की संख्या दो की जगह तीन, ऐसी बहुत जगह दिखलाई देती है, जो पुराणेतिहास की परम्परा के अनुकूल है।

ग्रन्थ का महत्त्व

वीरशैवसिद्धान्त का मूल तत्त्व शैवागम में या जिसे एकत्र करके ग्रन्थ रूप से सिद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी ने किया है। 'रेणुक अगस्त्य संवाद' इस प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर रेणुक-अगस्त्य संवाद रूप से ही यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसके पूर्व वीरशैवसिद्धान्त का विवेचन किसी ने भी नहीं किया था। 'रेणुक अगस्त्य संवाद' में कदाचित् यह होगा, परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। इसलिए सूत्रबद्धरीति से वीरशैव तत्त्वज्ञान का विवेचन करनेवाला एकमेव प्राचीन ग्रन्थ है, इसलिए सिद्धान्तशिखामणि का विशेष महत्त्व है। दूसरी बात ऐसी कि वीरशैवसिद्धान्त के षट्स्थलों का एक सौ एक अवांतर स्थलों में से किया हुआ विवेचन शैवागम में है, वह कैसे है, यह आज कहा नहीं जा सकता। फिर भी यह वैशिष्ट्य श्रीसिद्धान्तशिखामणि में है एवं उसमें साधक की मनोवस्था का सूक्ष्म चित्रण चढ़ते क्रम से भक्तस्थल में पिंडस्थल से ऐक्यस्थल के ज्ञान-शून्य स्थल तक वर्णित है, यह भारतीय दर्शन-शास्त्र में एकमेवाद्वितीय है।

एकोत्तरशतस्थल

वीरशैवसिद्धान्त में परशिव 'ब्रह्म' को 'स्थल' यह नाम दिया हुआ है।

स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्मस्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः ।।

चराचर विश्व जहाँ स्थिर एवं लय को प्राप्त होता है, उस 'ब्रह्म' को स्थलतत्त्व विशेषज्ञों ने 'स्थल' यह संज्ञा प्रदान की है। यह 'स्थल' रूप पर शिव 'ब्रह्म' स्वलीला से अंगस्थल एवं लिंगस्थल ऐसे दो भागों में विभक्त हुए हैं। चिच्छक्ति विशिष्ट जीव ही अंग वाच्य होता है एवं चिच्छक्तिविशिष्ट पर शिव लिंगवाच्य होता है। वह लिंग भक्तानुग्रह के लिए स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण नामक शरीर भेद से इष्टलिंग, प्राणलिंग एवं भावलिंग इस

तरह से तीन भागों में विभक्त हुए हैं। इष्ट लिंग के आचार लिंग एवं गुरुलिंग, प्राणलिंग के शिवलिंग एवं जंगमलिंग और भावलिंग के प्रसादलिंग एवं महालिंग ऐसे कुछ छः भेद हुए, वैसे ही अंगस्थल के त्यागांग के भक्त व महेश, भोगांग के प्रसादी एवं प्राणलिंगी और योगांग के शरण एवं ऐक्य ऐसे छः भेद हुए। अंगस्थल अवांतर भेद से सत्तावन प्रकार के हुए इस तरह कुल मिलाकर स्थल के एक सौ एक प्रकार हैं। एकोत्तरशत स्थलात्मक लिंगांग सामरस्य का ज्ञान ही वीरशैव सिद्धान्त में मोक्ष (अर्थात् जीव का शिवैक्य होने में) मूल कारण है। इन एक सौ एक स्थलों का विवरण इस श्रीसिद्धान्तशिखामणि नामक ग्रन्थ में हुआ है। इसमें वीरशैवसिद्धान्त में प्रसिद्ध तत्त्वत्रयी, अष्टावरण, पंचाचार और षट्स्थल इन तीनों अंगों का गहराई से विचार होने के कारण यह ग्रन्थ वीरशैवों का 'सर्वस्व' हो गया है। ऐसा श्रीशिवयोगीशिवाचार्य ने कहा है–

'सर्वस्वं वीरशैवानां सकलार्थप्रकाशकम्' ।[६]

तत्त्वत्रयी में तत्त्वज्ञान और धर्माचरण इन दोनों अंगों का विचार हुआ है। (उदाहरण के लिए सिद्धान्तशिखामणि नवें परिच्छेद के भक्तमार्ग क्रियास्थल में वर्णित आचार धर्म का अवलोकन करना चाहिए।)

वीरशैवसिद्धान्त में अन्य किसी भी वेदसंमत मत का खंडन न होने के कारण और द्वैत-अद्वैत का समन्वय होने से इसका अधिक महत्त्व है।

बारहवीं सदी में भारत में सभी जगह देशी भाषा का महत्त्व बढ़ने के कारण संस्कृत ग्रन्थों का तत्त्वज्ञान लोकभाषा में संरक्षित करने का कार्य तत्कालीन संतों ने किया। बसवादीशिवशरण में गये संतों ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि के तत्त्व को अपने कन्नड़ वचनों से सहज, सुलभ और प्रत्ययकारी अर्थात् भरोसेमंद शैली में सामान्य लोगों के पास तक पहुँचाया। कितने बार वचनकारों ने कन्नड़ वचनों में से अपने प्रतिपादन को पुष्ट करने के लिए श्रीसिद्धान्तशिखामणि के संस्कृत श्लोकों का भी निर्देश किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कुल मिलाकर श्रीसिद्धान्तशिखामणि यह ग्रन्थ वीरशैवसिद्धान्त का सम्यग् दर्शन करानेवाला ग्रन्थ तो है ही, साथ ही वह सम्पूर्ण वाङ्मयीन गुणों से भी श्रेष्ठ श्रेणी का ग्रन्थ है। ऐसे इस अलौकिक ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय श्री शिवयोगी शिवाचार्यजी को ही है।

श्रीशिवयोगी शिवाचार्य के व्यक्तित्व के बारे में विचार करते हैं—यह दिखता है कि प्राचीन शिवयोगी शिवाचार्य से लेकर ग्रन्थकर्ता शिवयोगी शिवाचार्य तक की परंपरा में सभी शिवाचार्य अत्यंत तपस्वी, विद्वान् और आचारसंपन्न थे।

श्रीसिद्धान्तशिखामणि के छठे परिच्छेद के गुरुकारुण्यस्थल में आदर्श गुरु के अंग में अपेक्षित होनेवाले गुणों का वर्णन प्राप्त होता है, जो पूर्ण रूप से श्रीशिवयोगी शिवाचार्य

में अक्षरशः प्राप्त होता है। मुंडक श्रुति में सद्गुरु शास्त्रप्रवीण एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। श्रीसिद्धान्तशिखामणि में वेदोपनिषद्, आगम और पुराण का विपुल सन्दर्भ प्राप्त होता है, उससे श्रीशिवयोगी शिवाचार्यजी का शास्त्रप्रावीण्य दिखलाई देता है।

कामिकादि वातुलान्त सभी शैवागम एवं शिव, स्कन्द, लिंग इत्यादि सभी पुराणों का अध्ययन करके वेद मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा न करते हुए, शिवाचार की सिद्धि के लिए एवं नास्तिक मतों का निराकरण करने के लिए एवं विद्वानों के संतोष के लिए वीरशैवों के सर्वस्व, सभी अर्थों का प्रकाशक, सभी दोषों से मुक्त और शुद्धांतःकरणवाले शिवयोगीजी ने सभी शिवागमों एवं सभी पुराणों में वर्णित, पूर्व में शिवजी ने पार्वती को एवं षडानन को जो शास्त्र बताया था एवं जो शिवगण श्रेष्ठ रेणुकाचार्यजी ने फिर से पृथ्वी पर अगस्त्य मुनि को उपदेश दिया, वही वीरशैव महातंत्र इस ग्रन्थ में शिवयोगी शिवाचार्यजी ने वीरशैवों पर अनुग्रह करने के लिए पुनः प्रकट किया। आगे हम हिन्दी अनुवाद पर विचार करेंगे।

हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि अगर 'सिद्धान्तशिखामणि' की राष्ट्रभाषा में व्याख्या नहीं हुई होती, तो जो संस्कृत नहीं जानते हैं, उनको इसे पढ़ने एवं शिवतत्त्व बोध सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने में प्रवृत्ति ही नहीं होती। इस व्याख्या के द्वारा हर शिवभक्त को यह ज्ञात हो जायेगा कि–

वह इसे पढ़ सकता है, इसमें कौन सा विषय है, इसमें लिखे हुए विषय का क्या सम्बन्ध है, इसे पढ़ने का क्या प्रयोजन है?

तो इस व्याख्या से हमें यह स्पष्ट होता है कि इसे पढ़कर साधारणतया सभी को वीरशैव धर्म प्रतिपादित विषय का बोध सुगमता से हो जायेगा। इस व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण अंश यह भी है कि ज्ञानसिंहासनपीठाधीश्वर श्री श्री १००८ महास्वामी डॉ. चन्द्रशेखरशिवाचार्यजी ने अपनी शुभाशंसा के साथ ही राष्ट्रभाषा में ही प्रस्तावना भी लिखी है। जिससे ग्रन्थ का प्रतिपाद्य सरलता से ज्ञात हो सकता है।

आगे हम यह कहेंगे कि किसी भी ग्रन्थ की भूमिका उसका प्राणतत्त्व होती है। इसी कार्य को व्याख्याकार ने समीक्षात्मक रूप से राष्ट्रभाषा में लिखकर ग्रन्थ पढ़नेवालों की रुचि को जागृत किया है। जिसके कुछ अंश को हम अपने निबन्ध में प्रस्तुत कर रहे हैं।

व्याख्याकार ने वीरशैव धर्म दर्शन को अपनी भूमिका में निर्दिष्ट किया है कि यह धर्म हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक प्रचलित था।

आगे उन्होंने कहा है कि सिद्धान्तशिखामणि एक दर्शन ग्रन्थ है, क्योंकि जीव-जगत् और मोक्ष के विषय में किया जानेवाला विचार अथवा चिन्तन 'दर्शन' कहलाता है। जीव

का स्वरूप क्या है? जगत् की उत्पत्ति का कारण क्या है? जीव का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है? मोक्ष और उसका स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? इत्यादि बिन्दु दर्शन में विचारणीय होते हैं। इन सारी बातों का विचार रेणुक और अगस्त्य के संवाद के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है।

जगत् की उत्पत्ति के विषय में यहाँ कहा गया है कि यह चराचरात्मक जगत् भगवान् शिव से ही उत्पन्न है। जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा रचित जाल का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बनती है, उसी प्रकार भगवान् शिव इस जगत् के उपादान एवं निमित्त दोनों कारण हैं। जैसे समुद्र में उत्पन्न होनेवाले फेन-लहर-बुद्बुद आवर्त आदि समुद्र से भिन्न नहीं होते अथवा तन्तुओं से उत्पन्न पट तन्तुओं से पृथक् नहीं होता, उसी प्रकार यह जगत् शिव से उत्पन्न होकर शिव से भिन्न नहीं है।

मोक्ष के विषय में ग्रन्थकार का मत है कि शिवत्व लाभ ही मोक्ष है। मुक्ति के चार प्रकार शास्त्रों में वर्णित है–१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य। सिद्धान्तशिखामणि में सायुज्य मुक्ति की चर्चा है। क्या सिद्धान्तशिखामणि आगमशास्त्र का ग्रन्थ है?

इस तथ्य पर विचार करते हैं तो ध्यान में यह आता है कि आगमशास्त्र के साधारणतया चार पाद कहे गये हैं–विद्या (ज्ञान), क्रिया, योग और चर्या। इनमें न्यूनाधिक मात्रा में चारों पादों का समावेश सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ में मिलता है। इसलिए यह एक आगम ग्रन्थ भी है।

सिद्धान्तशिखामणि में भक्ति का समावेश–

राष्ट्रभाषा में अनुवाद होने के कारण हमें बड़ी ही सहजता से यह बोध हो जाता है कि सिद्धान्तशिखामणि में भक्ति के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही भेद समाहित हैं। साथ ही दीक्षा, लिंगधारण, भस्मधारण, रुद्राक्षधारण, मन्त्रजप आदि विषय भी प्राप्त होते हैं।

सिद्धान्तशिखामणि एक महाकाव्य ग्रन्थ है–

राष्ट्रभाषा के व्याख्याकार ने दर्शन आगम इत्यादि कसौटियों पर कसने के उपरान्त क्रमप्राप्त महाकाव्य के रूप में सिद्धान्तशिखामणि को वर्णित किया है, जिससे व्याख्याता कि पैनी दृष्टि का बोध होता है। वास्तव में सिद्धान्तशिखामणि एक महाकाव्य ग्रन्थ है, जिसमें व्याख्याकार तर्क देते हैं कि इक्कीस परिच्छेदों में उपनिबद्ध यह ग्रन्थ 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' के निकष पर उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। इसके नायक रेणुकाचार्यजी हैं, जो धीरोदात्त नायक के गुणों से भी उच्च स्तर के गुणों से युक्त हैं। वे अविकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघारहित हैं। उन्होंने अगस्त्य और विभीषण की प्रशंसा की है, अपनी नहीं। क्षमा उनके अन्दर इतनी है कि शिव के द्वारा अभिशप्त होने पर उनको क्रोध नहीं हुआ, प्रत्युत

उन्होंने विनम्रता के साथ शिव से शापोद्धार की याचना की है। शिव के प्रिय गणेश्वर होने के कारण गाम्भीर्य और महत्ता से युक्त होना उनका स्वभाव ही था। दृढ़व्रत ऐसे कि शिव के आदेश के पालन का सङ्कल्प लेकर महामुनि अगस्त्य को आदेश देकर उन्होंने वीरशैव सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया तथा विभीषण की चिन्ता को दूर किया। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि विभीषण को किस बात की चिन्ता हुई तो इसका एक बड़ा ही रोचक प्रसंग हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसका ज्ञान भी राष्ट्रभाषा में अनुवाद होने के कारण पाठकों को शीघ्र होगा। ऐसा हमारा विचार है।

ऊपर हमने विभीषण की चिन्ता की बात कही है तो वह ऐसी है कि महर्षि अगस्त्य को शिवशास्त्र का प्रवचन करने के उपरान्त गणेश्वर रेणुक शिव का मन में ध्यान करते हुए अन्तर्हित हो गये। तत्पश्चात् स्वेच्छा से शरीर धारण करनेवाले गणेश्वर रेणुक लङ्का में पहुँच गये। सर्वागमवेत्ता उनको आया देखकर विभीषण उनको अपने महल में ले गये एवं भद्र आसन पर बैठाकर पाद्य अर्घ्य आदि समस्त उच्च उपचारों से उनकी पूजा की। फिर विभीषण स्वयं उनके आसन के पास बैठ गये। विभीषण ने हाथ जोड़कर कहा–हे गणनायक! आप शिव की आज्ञा से इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए, ऐसा मैंने सुना था। मेरे सौभाग्य से साक्षात् महेश्वर रूप आप मेरे घर स्वयं पधारे। इस कारण मेरी नगरी लङ्का और मैं स्वयं कृतार्थ हो गया। ऐसा सुनकर गणेश्वर ने विभीषण से कहा–हे राक्षसेन्द्र! लोग आपको समस्त शास्त्र के तत्त्वज्ञ तथा परम धर्मपरायण कहते हैं। इसीलिये कैलास जाते समय मैं आपके पास आ गया। आप मुझसे मनोवाञ्छित वर माँगिये। विभीषण ने कहा–हे भगवन्! पुण्य जब परिपक्व हो जाता है, तब वह स्वयं फल देता है, फिर भी मुझे एक वर दीजिये। मेरे भाई रावण ने युद्ध में रामशर से आविद्ध होने पर मुझे बुलाया और कहा–हे विभीषण! मैंने इस लङ्का में नव करोड़ शिवलिङ्गों की स्थापना का सङ्कल्प लिया था, उनमें से छः करोड़ की तो मैंने स्थापना कर दी। शेष तीन करोड़ शिवलिङ्ग की स्थापना तुम करना। हे गणेश्वर! एक साथ इतने शिवलिङ्गों की स्थापना का विधान असम्भव जानकर मैं यहाँ चिन्ताग्रस्त था। आप मेरी इच्छा पूरी कीजिये। भगवान् रेणुक ने विभीषण की प्रार्थना के अनुसार तीन करोड़ शरीर धारण कर उसी क्षण तीन कोटि शिवलिङ्गों की स्थापना लङ्का में कर दी। विभीषण उन गणेश्वर का ऐसा माहात्म्य देखकर विस्मित हो उनके चरणों में नतमस्तक हो गये और रेणुकाचार्य उनको कृतार्थ कर अन्तर्हित हो गये। इसके उपरान्त गणेश्वर रेणुक ज्योतिःस्वरूप होकर सोमेश्वर लिङ्ग में समाविष्ट हो जाते हैं।

इस महाकाव्य में शान्त रस अङ्गी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन के समय आद्योपान्त निर्वेद भाव उदित होता रहता है। गुरु, शिष्य, शिवभक्ति, लिङ्ग, संसार, कष्ट, लिङ्गार्चन, समर्पण आदि अनेक विषय पाठक के मन में सांसारिकता के प्रति वैरस्य एवं शिव के प्रति अर्चन एवं समर्पण के भावों का सृजन करते हैं। नायक के व्यक्तित्व का वर्णन, नायिका वर्णन, प्रकृति वर्णन इत्यादि महाकाव्य के अनिवार्य विषयों को दिखलाया है।

व्याख्याकार ने इसमें विभिन्न अलङ्कारों का भी दिग्दर्शन कराया है। जिनमें मुख्य निम्न प्रकार के हैं–

उपमा–

नाभिस्थानावलम्बिन्या नवमौक्तिकमालया ।
गङ्गयेव कृताश्लेषमौलिभागवतीर्णया ।।[७]

मालोपमा–

अर्थहीना यथा वाणी पतिहीना यथा सती ।
श्रुतिहीना यथा बुद्धिर्भावहीना तथा क्रिया ।।[८]
शिवानन्दं समासाद्य को वाऽन्यमुपतिष्ठते ।
गङ्गामृतं परित्यज्य कः काङ्क्षेन्मृगतृष्णिकाम् ।।[९]

रूपक–

तैलोक्यसम्पदालेख्यसमुल्लेखनभित्तये ।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः ।।[१०]
ज्ञानचन्द्रसमुद्भुतां परमानन्दचन्द्रिकाम् ।
पश्यन्ति परमाकोशमुक्तिरात्रौ महाधियः ।।[११]

व्याख्याकार ने नीर-क्षीर विवेक से यह सिद्ध कर दिया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में सुन्दर अलङ्कारों का समावेश भी यत्र तत्र दिखलाई देता है। जो महाकाव्य के अनुकूल है।

छन्द के प्रसङ्ग में मुख्य वक्तव्य यह है कि इस महाकाव्य में पुराणपरम्परा के अनुसार साधारणतया अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग किया गया है। एवं महाकाव्य की रीति के अनुसार प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तित हो गया है।

इस ग्रन्थ का प्रशमन पूर्णतयां वैदर्भी रीति में हुआ है। प्रायः समासरहित पद, कोमलवर्णों का समावेश आदि वैदर्भीरीति की विशेषतायें हैं। इस रचना में मूर्धन्य एवं वर्ग के द्वितीय चतुर्थ वर्णों का प्रयोग अत्यन्त अल्पमात्रा में किया गया है। अतः यह रचना प्रसादगुणयुक्त है। इसमें श्रुतिकटुत्व, दुरान्वय, क्लिष्टता, सन्देह, इत्यादि दोष नहीं हैं। ग्रन्थ के अध्ययन के समय अध्येता के मन में शान्त रस मिश्रित भक्ति की धारा प्रवाहित होती रहती है। यह ग्रन्थ यर्थाथतः वीरशैवसिद्धान्त का शिखामणि है।

उपसंहार

अन्त में हम अपने निबन्ध का उपसंहार करते हुए संक्षेप में यह कहते हैं कि राष्ट्रभाषा में लिखी गयी यह व्याख्या सम्पूर्ण दृष्टि से परिपूर्ण है। व्याख्याता ने सम्पूर्ण ग्रन्थ

के परिच्छेदों का सारसंक्षेप में पहले ही दे दिया है, जिससे ग्रन्थ की रोचकता और भी बढ़ गयी है। ऐसा करने से पाठकों को ग्रन्थ का अध्ययन करने में सहज ही रुचि जागृत होगी; क्योंकि लोग किसी भी ग्रन्थ के पठन के पूर्व उसकी भूमिका, विषयसूची इत्यादि का ही अवलोकन करते हैं। स्थान-स्थान पर ग्रन्थ में विशिष्ट टिप्पणियों का समावेश करने के कारण इसकी रोचकता में और चार चाँद लग गये हैं। हमारी दृष्टि से व्याख्याकार ने केवल एक विषय को स्पष्ट नहीं किया है, वह यह कि प्रथम परिच्छेद के तृतीय श्लोक में जिन ३६ तत्त्वों का समावेश है, वे कौन-कौन से हैं, उसे देने से लोगों को बोध हो जाता, जिसे मराठी टीकाकार ने स्पष्ट किया है। वे ३६ तत्त्व निम्न प्रकार से हैं–

१. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्ध विद्या (ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं।) ६. माया, ७. कला, ८. विद्या, ९. राग, १०. काल, ११. नियति, १२. पुरुष (ये सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं।) १३. प्रकृति, १४. महत्, १५. अहंकार, १६. मन, १७. श्रोत्र, १८. त्वक्, १९. चक्षु, २०. जिह्वा, २१. घ्राण, २२. वाक्, २३. पाणि, २४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ, २७. शब्द, २८. स्पर्श, २९. रूप, ३०. रस, ३१. गंध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. अग्नि, ३५. जल, ३६. पृथ्वी (ये २४ अशुद्ध तत्त्व हैं।) इनका स्पष्ट वर्णन होने से साधारण पाठकों को इनका बोध सुगमता से हो जायेगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा में लिखित यह व्याख्या हर दृष्टि से परिपूर्ण है एवं सम्पूर्ण राष्ट्र में वीरशैवसिद्धान्त का प्रचार करने में अवश्य सफल होगी। इतना कहकर हम अपना उपसंहार शिवार्पित करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. शिवमहिम्नस्तोत्र–श्लो.सं.७
२. रघुवंशमहाकाव्य–१०-२६
३. सि. शि.–२१-५४
४. सि. शि. प्रा.
५. सिद्धान्तशिखामणि
६. सि. शि. १.२७
७. सि. शि. ३-२२
८. सि. शि. १६.१९
९. सि. शि. १३.७
१०. सि. शि. १-१
११. सि. शि. १९-१४

★

सिद्धान्तशिखामणि का मराठी आविष्कार

शिवप्पा खके

सिद्धान्तशिखामणि वीरशैव सिद्धान्त का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन करनेवाला प्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ है। जिस प्रकार सभी उपनिषदों का सार श्रीमद्भगवद्गीता में लाया है, उसी प्रकार कामिकादि वातुलान्त शैवागमों का सार सिद्धान्तशिखामणि में आया है। जिस प्रकार संग्रसित होकर युद्ध न करने का विचार कर रहे अर्जुन को श्रीकृष्ण गीतोपदेश करके स्थिर बनाते हैं; उसी प्रकार संग्रसित हुए अगस्त्य महर्षि को भगवत्पादाचार्य ज. रेणुकाचार्य उपदेश करके उसका समाधान करते हैं। जिस प्रकार अर्जुन–

कार्पण्यदोषोऽपहतः स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेतः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

भ. गीता

अपने संग्रसितावस्था का निवेदन करके श्रेयस्कर उपदेश करने के लिए शिष्य की भूमिका में श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार अगस्त्य भी

उक्त्वा भवान् सकललोकमहोपकारं सिद्धान्तसंग्रहमनाहतबाह्यतन्त्रम्।
सद्यः कृतार्थयितुमर्हति दिव्ययोगिन् नानागमश्रवणवर्तितसंशये माम्।।

सि.शि. ४-५५

इस प्रकार नाना आगमों का श्रवण करने से अन्तःकरण में जो संशय आये हैं, उन्हें दूर करने के लिए आप ही समर्थ हैं। मुझे ऐसा उपदेश कीजिए, जिससे मैं निःसन्देह हो जाऊँ। वह उपदेश नास्तिक मत का खण्डन करनेवाला आगम और वेदसंमत उपदेश हो। प्रत्येक मानव को ऐसी संभ्रमावस्था से गुजरना पड़ता है। यह उपदेश वस्तुतः सभी मानवों के लिए हितकारक है।

यह उपदेश ग्रहण करनेवाला साधक क्रमशः अपनी उन्नति करता है। उन्नति के कुछ टप्पे किये हैं, जिन्हें स्थलसंज्ञा दी गयी है। ऐसे स्थलों के मुख्य दो प्रकार अंगस्थल और लिंगस्थल किये हैं। अंगस्थल के भक्तादि ऐक्यान्त छः तथा लिंगस्थल के भक्तादि ऐक्यान्त छः स्थल हैं और सूक्ष्मता से पहले भाग के ४४ तथा दूसरे भाग के ५७ इस तरह १०१ स्थल होने से इसे एकोत्तरशतस्थल शास्त्र भी कहते हैं।

वीरशैव सिद्धान्त में जीव तथा शिव दोनों इच्छा, ज्ञान क्रियादि शक्तियों से युक्त हैं। जीव की स्थूल अर्थात् मलयुक्त संकुचित तथा शिवनिर्मल शक्तियुक्त पूर्व विकसित रूप रहता है। जीव गुरुकृपा से एक-एक स्थान को पार कर शक्तियों का विकास करते करते

विकास की चरम स्थिति को प्राप्त करता है, जिसे ऐक्यस्थल कहते हैं। वही शिवत्वप्राप्ति है। इस स्थिति का सिद्धान्तशिखामणि में सदृष्टान्त वर्णन इस प्रकार किया गया है–

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितम् ।
परब्रह्मणि जीवात्मा विभागेन न दृश्यते ।।

सि.शि. २०-६१

षट्स्थलों के सिवा इस ग्रन्थ में गुरु, लिंग, जंगम, पादोदक, प्रसाद, भस्म, रुद्राक्ष तथा मन्त्र ये अष्टावरण, लिंगाचार, सदाचार, शिवाचार, गणाचार, भृत्याचार तथा पंचाचार २० तत्त्वों का विवेचन मिलता है।

स्वमत का विवेचन करते समय ग्रन्थ में आस्तिक मतों का खंडन नहीं किया है, अपितु उनका गौरव किया है।

सांख्ययोगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि न हन्तव्यानि युक्तिभिः ।।

सिं.शि. ५-४

इस श्लोक में सांख्यादि दर्शनों को 'मानभूतानि' कहकर गौरव किया है। उनका युक्ति से खंडन न करने का सुझाव दिया है।

ज्ञान तथा क्रिया का इस मत में समुच्चय स्वीकार किया है। तथा भेदवाचक अभेदवाचक श्रुतिवाक्यों का 'सर्वश्रुतिसमन्वय' करके समन्वय किया है। इस ग्रन्थ के एक से चार तथा इक्कीसवाँ परिच्छेद चरित्रविषयक है तथा पाँच से बीसवें परिच्छेदों में सिद्धान्त प्रतिपादन किया गया है।

साहित्य की दृष्टि से भी शिवयोगी शिवाचार्य ने इसे अनेक अलंकारों की सहायता से बहुत सुन्दर बना दिया है।

सिद्धान्तशिखामणि पर कन्नड़, तेलुगु, तामिल, हिन्दी, अंग्रेजी में भी कई अनुवाद का निर्माण किया गया है। महाराष्ट्रीय विद्वानों ने भी यहाँ के सिद्धान्तप्रिय समाज की आवश्यकता समझकर मराठी में अनुवाद, टीका, विवेचन लिखे हैं। उस कार्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए प्रयास कर रहा हूँ।

१. वारद ग्रन्थमाला प्रकाशित सिद्धान्तशिखामणि–इ.स. १९०५ में रावसाहेब मल्लप्पा बासप्पा वारद ने अपने वारद ग्रन्थमाला में सिद्धान्तशिखामणि का दो भागों में प्रकाशन किया। इस ग्रन्थ में मूल श्लोक, मरितोंडदार्य लिखित तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या तथा भावानुवाद दिया गया है। व्याख्या के महत्त्वपूर्ण अंश का भी अनुवाद दिया गया है। इस ग्रन्थ का संपादन एवं मराठी भावार्थ लेखन का काम वे.मू. मल्लिकार्जुनशास्त्री मनूरकर ने किया है। सिद्धान्तशिखामणि पर मराठी अनुवाद प्रस्तुत करनेवाला यह पहला ग्रन्थ है।

२. सुराज्य विज्ञान—वे.मू. सुरेश स्वामी गोइटा ने सिद्धान्तशिखामणि के अहिंसादि धर्मों का स्वरूप समझानेवाले निम्नलिखित श्लोक पर दस प्रकरण लिखे हैं।

अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यं दया क्षमा ।
दानं पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य संग्रहः ।।

सि. शि. इसमें राजकीय स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर इस समाज को सुराज्य प्राप्त करने हेतु समाज की नीति का अधिष्ठान रहना आवश्यक था। इस समाज में अहिंसादि धर्म रूढ़ करने के दृष्टि से यह पुस्तक लाभकारक सिद्ध हुआ था।

३. शिवपंचमहायज्ञ—सिद्धान्तशिखामणि के भक्तमार्ग क्रियास्थल के अन्तर्गत वीरशैवों के लिए तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान ये पंचयज्ञ कहे गये हैं। सिद्धान्तशिखामणि में वीरशैवों के लिए इन संज्ञाओं के जो विशिष्ट अर्थ हैं, उनका स्पष्टीकरण देनेवाला पाँच प्रकरणों का ग्रन्थ लातूर के विद्वान् तथा समाज कार्य में सहयोग देने वाले श्री विरूपाक्ष देशिकेंद्र स्वामी ने लिखा था।

वीरशैव नन्दादीप

लिं. श्री. बसप्पा वारद ने वीरशैव नन्दादीप नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें सिद्धान्तशिखामणि का अनुवाद मात्र दिया है। यह अनुवाद वारद ग्रन्थमाला के सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ के संहिता के क्रम से किया है। लिं. जगद्‌गुरु विश्वेश्वर शिवाचार्य महास्वामीजी के आशीर्वाद से १९७४ में इसका प्रकाशन सोलापुर में हुआ था।

सिद्धान्तशिखामणि (षट्स्थलदर्शन)

इस ग्रन्थ में वेदान्तकेसरी मल्लिकार्जुन महाशिवयोगीजी ने सिद्धान्तशिखामणि के प्रत्येक श्लोक पर मराठी भावार्थ तथा विस्तृत विवेचन लिखा है। श्रीमल्लिकार्जुन महाशिवयोगीजी का वेद, उपनिषद्, आगम, पुराण ग्रन्थों का तथा विविध दर्शनशास्त्रों का अभ्यास था, अत: इस विवेचन में सभी ग्रन्थों के प्रमाण उद्‌धृत किये गये हैं। सिद्धान्तशिखामणि का आशय स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शरणों के वचन भी दिये हैं। इस ग्रन्थ का संपादन श्रीकान्त गुरुलिंगअप्पा अक्के ने किया है। इसका प्रकाशन श्री मल्लिकार्जुन महाशिवयोगी शिवानन्द मठ गदग से १९७६ में हुआ है।

सिद्धान्तशिखामणि (मराठी भाषानुवादसह)

इस ग्रन्थ का प्रकाशन वीरशैव साहित्य संशोधन मंडल सोलापुर से इ.स.१९९० में हुआ था। वारद ग्रन्थमाला के ग्रन्थ की तरह इसमें भी मूल श्लोक, भावार्थ मरितोंटदार्य की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या तथा व्याख्या के कुछ अंश का मराठी अनुवाद दिया गया है।

इसकी विशेषता यह है कि इसमें शिवाद्वैत शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् विद्यावारिधि, विद्यावाचस्पति श्रीमत्काशीज्ञानसिंहासनाधीश्वर ज. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी की अभ्यासपूर्ण प्रस्तावना है। इस प्रस्तावना में शिवागमों का स्वरूप, उनकी प्राचीनता, मत की प्राचीनता, शिवयोगी शिवाचार्य का परिचय, काल, देश, वीरशैव सिद्धान्त पर उठाये गये आक्षेप उनका खंडन सिद्धान्तशिखामणि का स्वरूप तत्त्वविचार, ग्रन्थ का वाङ्मयीन सौन्दर्य का समावेश है। पू. महास्वामीजी ही इसके प्रधान सम्पादक हैं। प्रा. डॉ. चन्द्रशेखर कपाले, प्रा.दौ.शे.दे. पसारकर तथा पं. शरणय्या आचलेरी जैसे विद्वानों का सम्पादन सहाय तथा अनुवादलेखन में बड़ा योगदान रहा है।

सिद्धान्तशिखामणि (मराठी अन्वयार्थ व भावानुवाद)

यह ग्रन्थ शैवभारती भवन, वाराणसी से १९९१ में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक भी पू.ज.डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी ही हैं। इसमें मूल श्लोक अन्वय और मराठी भावार्थ लिखा है। इसका मराठी भावानुवाद लेखन लिं. प्राचार्य डॉ. चन्द्रशेखर कपाले ने किया था। दि. २२-११-२००७ को इसका पुन: प्रकाशन हुआ है। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयुक्त है।

शिवयोग शास्त्र

शिवाद्वैत सिद्धान्त के प्रसिद्ध विद्वान् अहमदपुर जिलातूर के वीरमठ के मठाधीश डॉ. शिवलिंग शिवाचार्य महाराज ने सिद्धान्तशिखामणि पर संस्कृत भाष्य, मराठी भावार्थ तथा श्लोकों पर प्रदीर्घ विवेचन किया है। इस ग्रन्थ के पू. स्वामीजी ने जो प्रस्तावना लिखी है वह प्रदीर्घ, अभ्यासपूर्ण है, जिससे शिवागम तथा आगमिक संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध तपोवृद्ध डॉ. शिवलिंग शिवाचार्य जी सिद्धान्तशिखामणि पर संस्कृत भाष्य लिखनेवाले एकमेव शिवाचार्य हैं। इसका प्रकाशन १९९६ में संस्कृति प्रकाशन वीरमठ अहमदपुर से हुआ था।

सिद्धान्तशिखामणि (ओवीबद्ध)

श्रीगुरु रेवणसिद्ध शिवाचार्य महाराज परंडकर जी ने सिद्धान्तशिखामणि पर ओवीबद्ध टीका लिखी है। ओवी की भाषा सुलभ है। श्लोक के आशय के अनुसार ओवीसंख्या कम-अधिक हो गयी है। ग्रन्थ अप्रकाशित है।

जन्महा अखेरचा

सिद्धान्तशिखामणि पर प.पू.ज. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी ने विविध श्रावण मास के अनुष्ठानों में जो आशीर्वचन दिये थे, उनका संकलन-सम्पादन प्रा. डॉ.

शे.दे. पसारकर ने किया है। प्रथम उनका प्रकाशन भागश: हुआ था, इन ग्रन्थों की लोकप्रियता देखकर भाविकों के अनुरोध पर समग्र भागों का एक ग्रन्थ में प्रकाशन किया गया। पू. महास्वामीजी के उत्कृष्ट प्रवचन शैली के कारण यह ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय हो गया है।

प्रवचन प्रभा

प.पू.ज. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी के सिद्धान्तशिखामणि पर किये गये प्रवचनों को 'प्रवचनप्रथे' नाम से कन्नड में प्रकाशित किया गया था। उन्ही प्रवचनों का मराठी अनुवाद श्री वासुदेव रामचन्द्र थोपेश्वर ने किया है। इसे हरेक स्थल का एक पुस्तक बनाकर प्रथम तीन स्थलों का प्रकाशन किया गया। प्रत्येक स्थल को एक किरण कहा गया है। द्वितीय संस्करण २४-७-१९८९ को प्रकाशित हुआ था।

सिद्धान्तशिखामणि दर्शन

सिद्धान्तशिखामणि के एक अभ्यासक तथा अवकाशप्राप्त शिक्षणाधिकारी श्री विश्वनाथअप्पा चांडोके ने सिद्धान्तशिखामणि पर मराठी में सुबोध विवेचन लिखा था। साखरखेर्डा मठ के मुखपत्र श्रीपलसिद्धदर्शन मासिक पत्रिका में क्रमश: इसका प्रकाशन किया गया था। वाचकों के आग्रह पर इसे पुस्तक रूप में प.पू. काशीजगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी के आशीर्वचन के साथ उन्हीं के अमृत हस्ते लातूर के पहले वीरशैव मराठी अधिवेशन में २००४ को इसका प्रकाशन किया गया। श्री चांडोलकरजी के आग्रह पर मैंने उस पर प्रस्तावना लिखी थी। मूलत: श्री चांडोके जी शिक्षक होने से विषय सुलभता से समझाने का सफल प्रयास किया है।

सिद्धान्तशिखामणि ओवीबद्ध मराठी अनुवाद

सौ. महानन्दा खके ने सिद्धान्तशिखामणि पर ओवीबद्ध टीका लिखी है। उनमें से छ: परिच्छेद श्री बलसिद्धदर्शन मासिक पत्रिका में नवम्बर २००३ से अगस्त २००६ तक प्रकाशित हुए है।

शिवस्तुति और शक्तिस्तुति

सिद्धान्तशिखामणि के प्रारंभ में सात श्लोकों में शिवस्तुति तथा पाँच श्लोकों में शक्तिस्तुति करके ग्रन्थकार शिवयोगी शिवाचार्य मंगलाचरण करते हैं। वीरशैव सिद्धान्त शिव-शक्ति का स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध समझना अत्यन्त आवश्यक है। शक्ति का नित्यत्व और शिवसमवेतत्व इस दर्शन की विशेषता है। अत: मैंने इन बारह श्लोकों पर विवेचन लिखा था। वह क्रमश: हमारे श्रीबलसिद्धदर्शन मासिक पत्रिका में नवम्बर २००१ से अक्टूबर २००२ तक प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार मराठी भाषा में सिद्धान्तशिखामणिविषयक लेखन हुआ है। उनमें से जन्महा अखेरचा, शिवभोगशास्त्र तथा मल्लिकार्जुन स्वामी के प्रवचन विशेष रूप से प्रभावशाली रहे हैं।

अभी भी इस विषय में लिखना आवश्यक है। जैसे मरितोंटदार्य की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या का पूरा अनुवाद करना, पं. काशीनाथशास्त्री लिखित कन्नड भावप्रकाश टीका का अनुवाद करना, ज. डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी के सिद्धान्तशिखामणि दर्शनान्तरीय समीक्षा का मराठी अनुवाद करना सिद्धान्तशिखामणि का समश्लोकी अनुवाद करना शेष है। इस ओर ध्यान देने के लिए मैं विद्वज्जनों से अनुरोध करता हूँ। आज के इस विषय में मुझे जो अवसर पूज्य महास्वामीजी ने दिया, उसके लिए आभार प्रकट कर वाणी को विराम देता हूँ।

*

The Unique Features of Śaivāgamas

Dr. Mahadev N. Joshi
Department of Sanskrit
Karnatak University, Dharwad

Vedas, Upanisads, Āranyakas, Vedāntas etc. had a remarkable importance and position in respect of higher intellectual thinking in the ancient Indian history. An essential aspect of Āgamic knowledge is the proper understanding of the basic difference between appearance and reality.

The chief principles of these Śaivāgamas are the practical life vision of the human society. It would not be an exaggeration, if it said that these were the main source and the firm basis for the enlightened thoughts and philosophy. Since these require deep thinking and intelligence to follow them, they proved to beyond the capacity of the common man's understanding. So, Āgamas, which were very close to the perceiving capacity of even a common man, came into existence on the basis of Bhakti (Devotion) and Karma (Work). Āgamas therefore included Brahma Tattva as embodied in the Vedas but in a simplified manner and as such enabled even common people to understand them. Thus, Vedas and Āgamas originated from the common source. "The Brahma", just like the stream of hot and cold waters emerges from the same source at Gangotri.

These Āgamas, which were referred to by the common people could not protect their originality. However, because of the efforts of Abhinavagupta, who was a rare scholar among the ones countable on fingers, we are able to get at least a portion of Āgamas in original form. An attempt is made here to understand in brief the Śaivāgamas on the basis of available Āgamas.

The sum and substance of the Śaivāgamas in that human religion is only one; all are equal; everyone should lead a happy

and peaceful life; everyone should chant Śivamantra wholeheartedly (with the help of necessary mantras); undertake good deeds (karmas indicated in Śaivāgama) and attain Sivasanidhya with wholehearted devotion. Here, it is to be noted that the doctrines contained in the Āgamas are valid from the time they came into existence in as much as they never discriminate against the rich and the poor, man and woman, caste and creed, etc. Welfare of mankind is their motto. It is interesting to note that these very principles are the corner stones of the constitutions of the countries of the world. The study of Śaivāgamas proves to be a guideline for solving many problems of the present day society. So, it is clear that the study of the Śaivāgams is very important to one and all.

On the basis of the Supreme Śiva tattva, the Siddhānta a Śaivāgamas ultimately leads to the welfare of the society and mankind thus accepted by anybody at any time.

Veda and Āgama

नमस्तुङ्ग शिरश्चुंबि चन्द्रचामरचारवे ।
त्रैलोक्यशिखरारंभ मूलस्तंभाय शंभवे ।।

Indian tradition is such that many scholars from all over the world have accepted it to be great. In the tradition of our country since ancient times, Veda and Āgama have equal importance and authority. This is true particularly because, both of them have the great supernatural force as their common source. This force is given various names by different races as per their philosophy and type of thinking. It is to be noted that there are various types of traditions, cultures, religions, customs, philosophical thoughts and innumerable names of gods existing today. According many scriptures (धर्मग्रंथा:) came into existence for the welfare of mankind in general.

Our ancestors have given the guidelines for studying such literature. Accordingly we have to study this literature with an unbiased mind to realize that सृष्टिकर्ता of the world is Brahmā,

पालनकर्ता is Viṣṇu and प्रलयकर्ता is Maheśvara. In the hymn of creation in Ṛigveda (नारदीय सूक्त X.129), it is stated that this supernatural force is still a mystery.

To study such a vast literature having no bounds, we have to refer to Veda, Āgamas, Śāstras, etc. In this context, let us refer to the Āgamas. Each syllable of the word Āgama has specific meaning as indicated below.

आ–Stands for आगतम् means that which comes from

ग्–Stands for द्रतम् means that which has entered into

म–Stands for मतम् means that which is approved of

The one that comes ultimately from the mouth of Śiva corresponds to आगतम्. The one received by Girijā/Pārvatī corresponds to गतम् and what has been approved by Vāsudeva is मतम्. Āgama is that sacred knowledge which originated from Śiva Pārvatī and which has come down through various Ācāryas and their traditions.

आगमं निगमं चैव तन्त्रशास्त्रं द्विधा मतम् ।
महेश्वरेण यत्प्रोक्तं आगमं तन्निगद्यते ।।
देवीप्रोक्तं महातन्त्रंदेनिगमं तद्विदुर्बुधाः ।।

(रुद्रयामळे)

Śaiva Śāstra Pramāṇa (Authority)

ब्रह्मा कृतयुगे पूज्यः त्रेतायां भगवन् रविः ।
द्वापरे दैवतं विष्णुः कलौ रुद्रो महेश्वरः ।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा सूर्यः सर्व एक कलिष्वपि ।
पूज्यते भगवान् रुद्रः चतुर्ष्वपि पिनाकधृक् ।।

(रुद्रयामळे)

Śāstra has declared that Bramhā in Kṛta Yuga, Surya in Treta Yuga, Viṣṇu in Dwāpara Yuga and Rudra in Kali Yuga have been the venerated deities. Though Brahmā. Viṣṇu and Sūrya have been accepted as Paratatva in Kali Yuga, Bhagavān

(or God/Deva) Rudra is being venerated more than these three deities. It is Bhagavān Rudra only who has ordained. He (Rudra) has to be accepted as Paratattva and the different procedures (routines) of why he alone has to be accepted as Paratattva. This Śāstra is known as Śaiva Śāstra. Details about the Śaiva Darśana can be found in Chapter 44 of Bhaviṣya Purāṇa, Chapter 71 of Varāha Purāṇa, Chapter 33 of Āditya Purāṇa as also in Liṅga Purāṇa and Skanda Purāṇa, Prajapatyasmrti, Vijñāneśvara-saṁhitā and Parasarasamhitā, in the Nāradiya, Brahmāṇḍa, Vāmana and Garuḍa Purāṇas.

Origin and Time of Śaivāgama

It is not easy to conclude about the age of the earth. Hence, it is clear that it is much more difficult to ascertain the antiquity of the Indian Scriptures. It is believed that Śaivāgamas originated from the creator of the world.

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजानने ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ।। (रुद्रयामळे)

As ordained by Lord Kṛṣṇa who appeared in incarnation at the end of Dwāpara Yuga to punish the wicked and protect the righteous, the Ṛṣis wrote in accordance with the power of knowledge, strength coupled with brilliance many books on Dharmaśāstras. In accordance with the provisions of Paraśarasmṛti as contained in the dictum Kalau-Pañcavivarjayet (कलौपञ्च विवर्जयेत्). Sacrifices and other attendant observances had been stopped and in order to revive these observances supreme Lord Śiva taught (instructed) the people on Śaivāgamaśāstra. As a result of this, Lord Vāsudev Kṛṣṇa wrote Pañcarātraśāstra and sages like Bhṛgu wrote Vaikhānasāgama, respectively. Whosoever wrote whatever and according to one's desire, as such writings did not get proper publicity, even Śaivāgama was approved by Lord Kṛṣṇa and publicized accordingly. This fact has been explained in detail in Pañcarātra and Vaikhānasa Āgamas.

Excellence of Śaivāgama

As explained in Pañcarātrāgama, this Āgama also is derived from the Vedas and accepted by disciples. This (Āgama) is the epitome of the Vedas and as such is to be taken as the supreme principle or doctrine. It has originated from God Siva and holds 28 Tantras or it is called Doctrines.

वेदसारमिदं तन्त्रं तस्माद्वैदिकमाचरेत् ।
वेदान्तार्थमिदं ज्ञानं सिद्धान्तं शुभम् ।।
ऊर्ध्वस्त्रोतोद्भवं श्रेष्ठमष्टाविंशतितन्त्रकम् ।
वेदसारमिदं ज्ञेयं अन्यत्त्वन्यार्थसाधनम् ।। (मुकटागम)

It is ordained that this Āgama should be taught to those well-versed in Vedas and they in turn should take it as befitting and desirable and worthy of reciting it again and again (parayana).

This doctrine or principle is the epitome of the Vedas. Other doctrines are not related to these Vedas or they are outside the Vedas and hence deserve to be rejected. The rules of conduct or behavior as embodied in this Āgama are identified as Vedic rules of conduct. In the way in which Brahmins Ṛṣis and the sacred Gaṅgā are held in high esteem, in the same way this Āgama (Śāstra) is also equally pre-eminent.

त्रयीनिष्टाय दातव्यं अध्येतव्यञ्च वेदवत् ।
(कपर्दिसंहिता १-३४, पूर्वकारण १-७३, उत्तरकारण १-८४, सुप्रभेद १-८)

सिद्धांतो वेदसारत्वादन्यद्वेदबहिष्कृतम् ।
सिद्धांतविहिताचारो वैदिकाचार उच्यते ।। (कामिक)

एतानि पञ्चशास्त्रणि मूलभूतानि वै मुने ।
युगे युगे विभच्यन्ते विष्णुसङ्कल्प चोदितैः ।।
तत्तत्कर्मसमाख्याताः शास्त्रास्त्रव्यादि संहिताः ।
प्रादेशीक्यो निवर्तन्ते ह्रासकालानुसारतः ।। (अहिर्बुध्न्य सं)

To understand Āgamaśāstra fully or comprehensively, one should have necessarily studied, as a prerequisite, the Vedas,

Sankhya, Yoga, Pāśupata and Satwat Śāstra, which form the foundation of the Āgamaśāstra.

These five Śāstras suffer ups and downs or undergo waxing and waning as ordained by Lord Viṣṇu and in accordance with local seasons and customs. Depending on circumstances and tenets of other Śāstras, these are explained occasionally by sages for the benefit of their followers.

Śaiva Principle

As time passed, there was a difference in the style of thinking, tradition etc. Each Ācarya or Dharmaguru moved his own way. Thus, the one that existed in the beginning branched off into much division. Each division tried to magnify its own circle pleading that for studying all the divisions, on lifetime was insufficient and it was better to study their own style of thinking and follow it for the welfare of their society. Thus, many traditions and tenets came into existence.

शैवं, पाशुपतं, सोमं नकुलं (वातुलं) च चतुर्विधम् ।
शैवभेदमितिज्ञेयं सङ्करं न समाचरेत् ।।

There are four divisions following the tenets of Śaivaśāstra. These are–Śaiva, Pāśupata, Soma and Nakula (Vātula). While studying any one of these, it is forbidden to mix ideas or principles of one division into another and continue studying.

एतच्चतुर्विधं शास्त्रं भेदाभेदमितिस्मृतम् ।
चतुर्विधेषु शास्त्रेषु योइ भक्त्या दीक्षितः क्रमात् ।।
त्रयाणां शास्त्रनाम्नातु प्रोच्यते सकळावधि ।
चतुर्थे तु स्थितानां तु निष्कळे कळवर्जितम् ।
शैवे तु वर्तते पुंसां शैवाश्चेति प्रकीर्तिताः ।।
पाशुपतादिशास्त्रेषु तथा नामान्युदीरिताः ।
त्रिषु शास्त्रेषु भेदानि भिद्यन्ते स्वस्वमार्गकैः ।
इदानीं शैवभेदानि लक्ष्यन्ते तु समासतः ।।

(सप्रभेद चर्यापाद)

The above-mentioned divisions do have similarities and

differences among them this means there are marginal differences in them. Those who have been initiated into the study of these are ordained to follow the customs and rituals pertinent to or embodied in their respective Śāstra, in which they are initiated. Though Śaiva Pāśupata and Soma Śāstras propound or propagate idolatry, in reality they indicate idol worship. But, the fourth Śāstra, Nakula, proposes non-idolatry worship only. Though the followers of this Śāstra worship without any idol, they do maintain worshipping or offering worship in front of the Universal Spirit. God Śiva is the principal deity to be worshipped in all these four Śāstras. In spite of this, the flowers of each one of the Śāstra are identified by the particular name of the Śāstra prefixed to their name as Śuddha Śaiva, Pāśupata Śaiva, Soma Śaiva and Nakula Śaiva.

Pāśupata Doctrine

उमापतिः पशुपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्माणः सुताः ।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ।।

In Pañcadhyāyi Śāstra, written by Pāśupatiśvara, the following five subjects have been discussed: 1. Kārya, 2. Karaṇa, 3. Yoga, 4. Vidhi and 5. Dukhanta.

तन्त्रं पाशुपतं नाम पशुपाशप्रमोचनम् ।
मद्वक्त्रात्रिसृतं विष्णोः सङ्कल्प प्रविजृंभितम् ।।
(अहिर्बुध्न्य संहिता)

All living being are identified by the name Paśu. God Śiva is their deity, Lord or Master.

Pañcadhyāyiśāstra was written for helping the living beings. Since this was narrated by Paśupati himself, this Śāstra gained respect and came to be known by the name Pāśupatamata.

अष्टकान्डमिदं प्रोक्तं मया तन्त्रमनुत्तमम् ।
पतिकान्डमथाद्यन्तु पशुकान्डमतः परम् ।।
पाशकान्डं तृतीन्तु प्रोक्तं पञ्च प्रभेदतः ।।
शुद्धचर्या च मिश्राच कान्डे द्वे परिकीर्तिते ।।

देवकान्डमथो षष्टं दीक्षाकान्डमतः परम् ।
स्यायुज्यमष्टमं प्रोक्तं कान्डं पाशुपतं महत् ।।
अष्टकान्डमिदं शास्त्रं मयैवोक्तं महामुने ।।
(अहिर्बुद्न्य संहिता)

This Doctrine has been divided into 8 divisions as under:

1. Patikānda 2. Paśukānda
3. Śuddha-caryākānda 4. Misacaryakānda
5. Devatākāṇḍa 6. Deekṣākānda and
7. Sayujyakānda

This mata or doctrine was propagated by Kuksi, Garga, Mitra and Karusya, the four disciples of Lakuna, Pāśupata doctrine is one of the branches in the traditionally known Śaiva doctrine.

In this, God Rudra is the supreme deity. He only is the for this world. Atoms are the material cause for this world. He (Rudra) only grants Mokṣa. Non-Vedic Rituals like decorating oneself with ash and garland of bones, holding the skull as an alms bowl and depositing alms received in it and making a meal of it, holding a jar of liquor, tadarcana (पूजां), staying in the cremation ground, Mudrikāṣatkadhārana (मुद्रिकाषटकधारणम्), wearing Rudrākṣa are the means to attain Mokṣa. By being initiated into the Śaiva doctrine, even a Candala, (an outcast or wicked man) may become a Brahmin or a monk. These are known or identified as good conduct rules or rituals (Śiṣtācāra शिष्टाचार).

Different Doctrines

1. Saura Doctrine

ब्रह्मेन्द्रसावनाः सूर्य इतिसौरश्चतुर्विधः । (पारमेश्वर संहिता)

Saura doctrine is composed of the following four divisions.

1. Brahma, 2. Indra, 3. Savana, 4. Sūrya

The followers of these worship Sūrya, the Sun god. But their rituals differ from each other.

2. Śākta Doctrine

नित्यादित्याशाबराख्याः शक्तिश्चेतिचतुर्विधाः ।
शाक्तभेदमितिज्ञेयं सङ्करं न समाचरेत् । (पारमेश्वर संहिता)

Śākta Doctrine is divided into the following four branches:

1. Nitya, 2. Anitya, 3. Śabara, 4. Śakti

Mixing or combing of Rituals of one with the other is prohibited.

3. Vaiṣṇava Doctrine

गोपालं पाञ्चरात्रंच नारसिंह च वैष्णवम् ।
नारायणं पञ्चविधं सङ्करं न समाचरेत् ।।

Vaiṣṇava doctrine is divided into the following five branches:

1. Gopala, 2. Pāñcarātra, 3. Nārasimha, 4. Vaiṣṇava and 5. Nārāyana.

Each of the branches exhibits subtle differences noticed in Vaiṣṇava doctrine. Mixing or combining of the rituals of one branch in the other is forbidden.

4. Paiśāca Doctrine

गाणापत्यं वीरभद्रं भैरवं शरभाभिदम् ।
नन्दिकेशं च कौमारं पैशाचमिति सप्तधा ।। (पारमेश्वर संहिता)

Paiśāca doctrine comprises of the following seven divisions.

1. Gāṇapatya, 2. Veerabhadra, 3. Bhairava, 4. Sarabha, 5. Nandikeśa, 6. Kaumara, 7. Paiśāca.

In the above mentioned seven divisions of Paiśāca doctrine, Gāṇapatya doctrine consists of 8 divisions, Veerabhadra doctrine consists of seven divisions, Bhairava eight divisions, Sarabha five divisions, Nandikeśa three divisions, Kaumara two divisions and Paiśāca only one division.

5. Kapala Doctrine

There are four divisions in Kāpāla doctrine as shown below:

निरिश्वरं सेश्वरं च कापालं भैरवं तथा ।
चतुर्विधं तु कापालं सङ्करं न समाचरेत् ।। (पारमेश्वर संहिता)

1. Nireeśvara, 2. Sevara, 3. Kapāla and 4. Bhairava

Mixing or combining of the rituals of one branch in the other is forbidden.

Yāmala Tradition

चतुषष्टि तन्त्राणि यामळादीनि पार्वति । (महाविश्वसारतन्त्र)

Sixty-four Yāmala tradition have been expounded by Lord Śiva himself. The Yāmala Śāstra contains about one lakh twenty five thousand verses. This was conveyed as a piece of advice by Lord Iśvara to Śrikantha, Śrikantha to Bhairava and later on to Devadatta. This Devadatta had 14 disciples by such names as Rakta Bhairava, Jwala, Heli, Vana, Vijaya, Seesamsa, Gajakarṇa, Canda, etc. Some of these belonged to Madhya Deśa, Saurastra and Sindhu. All of them were generally Brahmins following the Atharvana Veda.

There are eight divisions in Yāmala Tradition as follows.

1. Skanda Yāmala 2. Brahma Yāmala
3. Viṣṇu Yāmala 4. Yama Yāmala
5. Vāyu Purāṇa 6. Kubera Yāmala
7. Indra Yāmala 8. Rudra Yāmala

But according to some, the eight divisions are as follows:

1. Rudra Yāmala 2. Śiva Yāmala
3. Viṣṇu Yāmala 4. Brahma Yāmala
5. Devi Yāmala 6. Ādi Yāmala
7. Gaṇesa Yāmala 8. Āditya Yāmala

These divisions can be confirmed by referring to standard books on the subject.

The book Brahma Yāmala, written in 1052 A.D. (Āgama Prakāśa By Asuri Srinivasa Iyangar and Tirupati Srinivas Ayangar. (Page 8) is supposed to be available in Nepal. These eight books are supposed to be dealing with such sentiments as wanton or uncontrolled behavior (स्वच्छन्द), anger (क्रोध), intoxicant mind (उन्मत्त:), ferocity (उग्र:), Kāpāli (कापालि:), Jhaṅkāra (झंकार:), Śekhara (शेखर:) and Vijaya (विजय:). In the way in which Rudra and Bhairava are described in Śaiva doctrine in the same way Yamala doctrine described the attributes of Bhairava.

In addition to the eight Yāmala books, there are two more books with titles Piṅgalā Mata (Doctrine of Piṅgalā) and Jayadratha Yāmala (Doctrine of Jayadratha).

The book Jayadratha Yāmala explains the subjects treated or discussed in the book Brahma Yāmala. It contains about 24,000 explanations or comments. The book Piṅgalā Mata (Doctrine) explains the subjects dealt within Jayadratha Yāmala. Both these books are available in Nepal. The subject dealt with is magic or sorcery (शिरच्छेदन), which explains about beheading (guillotining). This practice was prevalent in Kambhoji. It papers there is a reference in the Rāmāyana indicating that Rāvaṇa followed or knew this Vidyā (Sādhanā).

These eight books dealing with Yāmala doctrine explain about the deities mentioned in the books and treat them as the principle. These very principles are taken as the doctrines.

In the book Sukaprasna Saṁhitā 36-(256-257)

वैष्णवं द्विविधं प्रोक्तं षड्भेदं शैवमुच्यते ।
कापालं शुद्दशैवं च प्रापं चैव महिव्रतम् ।।
वामं पाशुपतं चैव षड्भेदं शैवमुच्यते ।। (शुकप्रश्न सं)

It has been mentioned that Vaiṣṇava doctrine comprises of two divisions as Pañcarātra and Vaikhānasa and Śaiva doctrine comprises of six divisions as Kapāla, Śuddha, Śaiva, Prapa, Mahāvrata, Vāma and Pāśupata.

Mild and Fierce Divisions

सौम्यं रौद्रं द्विधा वत्स शैवं सौम्यमिति स्मृतम् ।
तदन्यतत्रिविधं तन्त्रं तद्रौद्रमिति कीर्तितम् ।। (सुप्रभेद)

Śaiva doctrines are divided into two divisions as Saumya (Mild) and Rudra (Fierce). Of these, the first division (Saumyabhāga) is taken to be Sātvika (Virtuous) Pāśupata, Soma and Laguda are included in Rajas, (Rudra of Fierce). It has been laid down that worship offered in accordance with rituals prescribed in Rudra doctrine would beget results with Raudra (Fierce) qualities. Similarly, worship offered in accordance with Saumya (Gentle/Mild) doctrine, which forms part of Śaivāgama, will beget Saumya (Gentle/Mild) results. Therefore it is preferable to offer worship as prescribed and consecrated according to the procedure laid down in Saumya doctrine.

Worship can be offered to the deities consecrated according to Saumya doctrine. But deities which are consecrated according to Saumya doctrine should not be worshipped according to the procedure laid down in Raudra doctrines, for the reason that while Saumya doctrines follows Vedic traditions. Rudra doctrines are outside the ambit of Vedic traditions.

सिद्धान्तो वेदसारत्वात् अन्यद्वेदबहिस्कृतम् ।
सिद्धान्तविदिताचारो वैदिकाचार उच्यते ।। (क्रामिकागम)

Universally recognized as established doctrines, Saumya principles are in accordance with Vedic principles. The customs and practices followed by the remaining three are contrary or against Vedic principles.

वेदसारमिदं तन्त्रं तस्माद्वैदिकमाचरेत् ।
वेदान्तार्थमिदं ज्ञानं सिद्धातं परमं शुभम् ।।
ऊर्ध्वस्त्रोतोद्भवं श्रेष्ठं अष्टाविंशाति तन्त्रकम् ।
वेदसारमिदं ज्ञेयं अन्यत्त्वन्यार्थसाधनम् ।। (मकुटागम)

The 28 Āgamas, which have originated form Urdhvasrotas (ऊर्ध्वस्त्रोतस्), which is one of the five faces of Lord Sadāśiva, are

identified as epitomes of Vedas. A study of other religious books explaining the tenets or canons of other Śāstras enables us to attain worldly pleasures and lead a happy life. As the subject embodied in the 28 Āgama books relates to or expounds Vedic principles, it is being treated as of high status or superior to others.

Vāma, Dakṣina and Misra Division

The three Divisions of Pure Śaiva

शैवं पुनश्चतुर्भिदं वामं दक्षिणमेव च ।
मिश्रं चैवतु सिद्धान्तं तेषुसिद्धान्तमुत्तमम् ।
अष्टाविशाति भेदेन सिद्धातं श्रुणु तत्वतः ।। (कारणगम)
शास्त्रं चतुर्विधं ज्ञेयं वाम दक्षिणमिश्रकम् ।
सिद्धान्तेन समायुक्तं चतुर्धेवं प्रकीर्तितम् ।।
वामादिशास्त्रभेदेषु या दीक्षा वर्तते क्रमात् ।
वामी च दक्षिणी मिश्री सिद्धान्ती च प्रकीर्तिताः ।। (सुप्रभेद चर्यापाद)

The principles of Śaiva Śāstra have been explained in four divisions as Śaiva, Pāśupata, Somu and Nakula. The first one of these i.e. Pure Śaiva is subdivided into four divisions as mentioned before, i) Vāma ii) Dakṣina iii) Miśra and iv) Siddhānta. Persons getting initiated into the ritual of these divisions are recognized by the respective nomenclature of the division as division as Vamea, Dakṣinee, Miśra and Siddhāntee.

1. Vāma Śaivas:

They follow the principles of Tantraśāstra.

मूलावतारतन्त्रादि शास्त्रं तद्वामशैवकम् । (पूर्वकारण)

2. Dakṣina Śaivas:

Dakṣina Śaivas follow the principles of Swachhanda Śāstra, which allows them unbridled freedom.

स्वच्छन्दादीनि शास्त्राणि दक्षिणं शैवमुच्यते ।। (पूर्वकारण)

3. Misra Śaivas:

They are also known as Yāmalas. They worship seven

important female deities. As this is a mixture of Vāma and Dakṣinacar, it is known by the name Miśra. Followers of Śaiva principles (Siddhānta) do not accept or recognize them.

मिश्रयामळमित्युक्तं सप्तमातृप्रधानकं ।
वामञ्च दक्षिणंचैवतद्द्वैयोर्मिश्रकन्तु हि ।।
शैवब्राह्म समाख्यातास्ते तु शैवेप्यपूजिताः ।
सिद्दान्त मिश्रमित्युक्तं नवयामळसंज्ञकम् ।।

(सुप्रभेद चर्या)

This Miśra Śaiva got mixed up with another Śaiva principle and this mixture came to be known as Nava Yāmala. We get more details about the followers of this system in the Chapter Samayācār Vidhi. There appears to be no connection or relation between the followers of Siddhānta Division and Miśra Division.

वामाचारस्तु वैपञ्च, दक्षिणेऽपि तथैवच ।
द्वयोर्मिश्रं च गुरवः पञ्च पञ्चैव चोदिताः ।।
सिद्धान्तमिश्र शैवानां पञ्चानां लक्षणं शृणु ।
आचार्यस्साधकश्चैव समयी पुत्रस्तथा ।।
चित्रकेटक इत्युक्ताः मातृयज्ञेषु पूजिताः ।
शूद्रशैवाख्यदीक्षया दीक्षितः क्रमात् ।।
साधकादि चतुष्काणामाचार्यस्त्वधिपः स्मृत ।
मातृणां स्थापनं पूजा, तासां मन्त्रैस्तु तर्पणम् ।।
स्नपनोत्सव शान्त्यादि त्वाचार्येणैवकारयेत् ।
मिश्रकोक्तानि कर्मणि त्वितरैस्साधकादिभिः ।।
शिवाग्रजान्वयोभूत्वा आचार्यादि च तुष्ककाः ।
उक्तः पारशवश्चैव चित्रकेटक नामतः ।।
शिवाग्रजान्वयोभूत्वा आचार्यादि च तुष्ककाः ।
उक्तः पारशवश्चैव चित्रकेटक नामतः ।।
आप्तोस्तितरत्र सिद्धान्तः शिवेवाप्तिमान्यतः ।

(रत्नत्रय)

There will be five preceptors well versed and dedicated and worthy of being worshiped in each of Vāma, Dakṣina, Miśra and Navayāmala Divisions. They are known (by the names) as Ācharya, Sādhaka, Samayee, Putraka and Chitraketaka respectively. All of them worship the seven female deities (Brahmyadee). Ācharya the first of these being consecrated or initiated according to the precepts of Śuddhaśaiva doctrine will be the head or chief for the remaining four. All rituals and rites such as installation of the female deities, offering worship, libations, ablution, etc. will have to be performed under the guidance of the Ācharya only. The remaining may perform such observances in accordance with the procedures and practices laid down in Miśraśāstra. The first four starting with Ācharya are known as Śaiva Brahmins and the fifth, Chitraketa, is known by the name Paraśaivas.

Sadāśiva

Śaiva (Saumya)	Pāśupata (Raudra)	Soma (Raudra)	Nakula (Raudra)
Vāma (Vamee)	Dakṣina (Daksinee)	Miśra (Misree)	Siddhānta (Siddhāntee)

Vāma + Dakṣina = Miśra. Twenty-eight Samhitas

Vāma + Dakṣina + Siddhānta = Nava Yāmala Five Brahma Riṣis (Sages)

4. Siddhānta i.e. statements made by credible persons after careful thinking are known as Siddhānta or principles. Lord Śiva, for the welfare and well-being of all narrated 28 Āgamas. As such these are known as Siddhānta or principles (Theory).

आप्रक्तिरत्र सिद्धान्तः शिवविवाप्तिमान्यतः । (रत्नत्रय)
कामिकादि शिवज्ञानं मूर्धा भगवतस्सदा ।
इतराणि महेशस्य हृत्कंठाद्यङ्ककानि वै ।।

पूर्वपक्षतया तानि कथितानीह शंभुना ।
हेयोपादेयवस्तूनां निर्णये परमार्थतः ।।
तत्सर्वमधरी कृत्य शैव सिद्धान्त इरितः ।। (पूर्वकारण)

The above-mentioned verse testifies to what is stated above. The 28 Āgamas together with their divisions and subdivisions belong to Siddhānta theory.

Whereas scriptures such as classical compendium like Kāmika are supposed to be originating from the head of the Supreme Lord Śiva, Scriptures like Pāśupata, Soma, Lakula, Vāma, Dakṣina, Miśra etc., are supposed to have been placed in the heart, neck, etc. though all these have been narrated by Lord Śiva.

Pañcha Śaivas

People from all castes, classes and communities may get themselves initiated in Śaiva doctrine. Persons so initiated are identified by five different names as under:

1. Anādi Śaiva 2. Ādi Śaiva 3 Mahā Śaiva

4. Anu Śaiva and 5. Antar Śaiva

1. Anādi Śaivas

अनदिशैवः शंभुः स्यादथ तस्य गणा अपि ।।

(चन्द्रज्ञान उत्तरार्धः)

शक्ति मुक्ति विशक्ति च नादो बिन्दुरिति स्मृतम् ।
सदाशिवेश्वरश्चैव षट्स्थाने ये च सन्स्थिताः ।।
अनादिशैवास्ते प्रोक्ताः ।। (सुप्रभेद चर्या)

The most venerable Lord Śiva being the author of Śaiva Doctrine as also Śaiva Āgama, the great Śambhu as he is also addressed by this name and his group of demi-god attendants are called by the name Anādi Śaivas. In addition, Śakti, Mukti, Vimukti, Nagabindu and Sadāśiva who occupy six different positions on the person of Lord Śiva are also identified by the name Anādi Śaivas.

2. Ādi Śaivas

They are known by the name Śaiva Brāhamanas.

आदिशैव इति प्रोक्तः सशिवो ब्राह्मणो गुरुः ।
शिवोद्भवं तु शैवं स्यात् शैवोद्भवस्सदाशिवः ।।
सदाशिवात्तु संभूता शिवसृष्टिरुदाहता ।
शिवेनस्थापितं शैवं शैवेन स्थापितं शिवः ।।
शिवशैवविशुद्धात्मा शिवब्राह्मण इष्यते ।।
चतुर्वेदाधिकारित्वात् शैवसिद्धान्तपाऽसगः ।
चातुर्वर्णाधिकारित्वात् आदि शैव इति स्मृतः ।
आदिशैवः शिवो रुद्रो शुद्धात्मा शुद्धशैवकः ।
तस्माच्चैव प्रकर्तव्यं प्रतिष्टाद्युत्सवान्तकम् ।।

(पूर्वकारण)

Ādiśaivas are not only known by the name Śiva Brāhmans but they are also known by the unique name Śiva Brāhmana Guru, that is Śaiva Brāhmana preceptor. Śaiva originated from Śiva and from Śaiva originated Sadāśiva. This Sadāśiva created his own world (सृष्टि:). In this way Śaiva doctrine, in other words Śaiva Āgamas, originated from Śiva and from Śaiva Śiva got established. Śaiva Brāhaman as are those who possess a pure soul and who fully understand and follow the tenets and principles as also the traditions of Śaiva doctrine. They are well-vrsed in the four Vedas, learned scholars or experts in Śaiva doctrine and occupy the first place in the fourfold hierarchical system of society. They are also known by the name Śiva, Rudra Samana, Śuddhātmas (pure souled) and Śuddha Śaiva (Pure Śaivas). It is ordained that all ceremonies and festivities (festivals) have to be performed through them only.

Earlier though they were initiated into Śaiva doctrine by being advised the "Śiva Pañcākṣarimantra" and became its followers. As such they became famous by being identified as Ādiśaivas. Like Lord Śiva they decorate their bodies with Rudrākṣa and holy ash (भस्म) and offer worship to the sun as

per Sadadhara. Only after this they have to worship Lord Śiva in their abode.

3. Mahā Śaivas

They are also known by the name Śaiva Vipra, i.e., Śaiva Brahmins. Being initiated by the "Śiva Pañcākṣarī Mantra"– they become followers of Śiva Doctrines. They may perform sacrifices for their own sake, or for themselves only. But they should desire to or are required to perform such sacrifice for others, they must first be initiated into Śivamaṇḍala by Ādiśaivas and only with their consent, they can undertake or perform sacrifice for others.

अनंतादि शिखन्ड्यंतास्तथा मन्त्रमहेश्वरा ।
मायाद्यवनिपर्यन्ता रुद्रायेच महाबलाः ।।
अनन्तेश्वर शिष्यास्ते द्वेत्याश्च ऋषयस्तथा ।
ब्रह्माविष्णवादि देवास्तु यक्षोरक्षगणैः सह ।।
महाशैवास्तु विख्याताः..................... (सुप्रभेद चरापाद)

Anantas, Sukshma, Siva, Yekanetra, Yekarudra, Trimūtri, Śrikantha, Sikhandi these eight Vidyeśvaras and Mantreśvaras, Rudra. Disciples of Ananteśvara, Demons (दैत्याः) Sages, Yakṣas and members of Rakṣas group (गणः) on Gods Brahma and this has been so mentioned in the first chapter of Suprabhedāgama.

4. Anu Śaivas

अनुशैवा इति प्रोक्ता नृपा वैश्याश्च दीक्षिताः ।। (पूर्वकारण)

The fourth group consists of Aṇu Śaivas who are, in fact, initiated as Kṣatriyas (warriors) and Vaisyas (merchant/traders). They have to assist Ādiśaivas and Śaivavipras (Śaiva Brahmins) in building houses, installation of idols and performing worship and other festivals (festivities).

They may also receive advice in accordance with Śiva Pañcākṣari Mantra, wear the symbols of Śaiva doctrines and perform sacrifices for themselves. If in case they have been initiated in accordance with Śivamaṇḍala, they may offer formal

assistance in sacrifices in houses of other persons, in accordance with the procedure laid down.

5. Antara Śaivas

पञ्चमोऽन्तरशैवस्तु शूद्रश्चेति तथामतः । (पूर्वकारण)
स्थापनप्रोक्षणा दीक्षा विधिनाऽकृत्यकारणात् ।।
ऋषिणां....................षिवेन प्रमात्मना ।
अनुगृहीताश्च ये सर्वे शैवास्तेवांतराः स्मृताः ।। (सुप्रभेद)

Antara SŚaivas are defined as those who belong to the fourth division/section in the traditional social hierarchy and who have been initiated in accordance with Pañcākṣarī Mantra and who are followers of Śaiva doctrines. Though initiated they are not authorized to perform sacrifices and other rituals like sprinkling of sanctified or consecrated water on behalf of others. Like sages they need not offer worship nor undertake fasts. They may, however, get initiated in accordance with Śaivamaṇdal and undertake observances etc. as per rules laid down.

शिवज्ञान युतास्सर्वे शिवधर्मपरायणाः ।
आचार्याः शिवशास्त्रज्ञाः मोक्षज्ञाः शिववद्धुवि ।।
शिववत् चिन्तयेत्सर्वे इति शास्त्रस्य निश्चयः ।। (सुप्रभेद)

The above mentioned four followers of Śaiva doctrines should strictly adhere to the tenets of Śaiva Doctrines and remain faithful to the tenets of Śaivism, should have implicit faith in Śaivism and should believe that Lord Śiva is the only God and besmear their bodies with holy ash (भस्म) and engage themselves in offering various services. (to Lord Siva)

Ādi Śaivas and Their Characteristics

तस्माच्चैव प्रकर्तव्यं प्रतिष्टाद्युत्सवान्तकं ।
उत्सवादि प्रायश्चित्तमादिशैवेन कारयेत् ।।
आगमोक्तप्रकारेण प्रतिष्टा लिङ्गपूजनम् ।
आदिशैवस्य पूजा च सर्वसिद्धिकरी स्मृता ।।
अन्यविप्रस्पृशेनैव सर्वदेवलको भवेत् ।
यदि मोहेन् कुर्वीत राज्ञो राष्ट्रस्य दुस्थिती ।। (पूर्वकारण)

Installing according to procedure laid down in the Āgamas, a pure and blemishless idol of Lord Śiva in the form of linga and offering worship, conducting festivities and atonement rituals (प्रायश्चित्) these are some of the characteristic features of Ādi Śaivas. They only are enjoined to undertake all such activities. Others do not have any right in these matters. As a result of the religious rituals being performed by Ādi Śaivas, the king will get peace of mind and the country will get peace, prosperity and happiness. The country will face difficulties if worship and other rituals are conducted by persons not initiated to do so as per the rules.

Ādi Śaivas and Descendents of Lord Śiva

आदिशैवकुलोद्भूताः ममपुत्राः शिवद्विजाः ।।
तस्माच्च ममनाम्नैव अर्चकानुभवस्य च ।।
एते मया हि संसृष्टाः मम पुत्रा न संशयः ।
अर्चारूपस्य मे पूजा शिवज्ञानस्य कारणम् ।।
ममतत्त्वप्रचोदार्हा एते वै गुरवः स्मृताः ।। (कपर्दिसं)

In order to propagate Śiva doctrine, Lord Śiva created Ādi Śaivas. As they are carrying on rites and rituals like offering worship, installing idols, etc. in accordance with the precepts contained in Śaiva Āgama, they are known as Archaka and Guru. Their descendants are known by the name Ādi Śaivas.

Ācarya and His features

A person possessing the following features is eligible to be called an Ācarya

1. Being born in Ādi Śaiva family and having no bodily deformities and being handsome, and endowed with the power to control the mind.
2. Should be above sixteen years of age.
3. Should be grateful, pure, modest and well versed in Āgamas.

4. An expert in conducting experiments.
5. Studious and having complete understanding and knowledge of the six fold daily rituals.
6. Should have thoroughly understood the dogmas and doctrines of Śaiva Siddhānta (Theory and Practice).
7. Should have implicit devotion towards and should be well-behaved.
8. Should have knowledge of Vāstuvidyā (knowledge of architecture) and should possess kindness towards all human beings and animals.

Such a person deserves to be an Ācarya.

A person who is a dwarf (possesses short height), who hates Śāstras, who possesses a deformed body, who is an atheist, envious, afflicted with disease, deaf, a slanderer, very proud, a mendicant, possessing a bulky body of abnormal height, having irregular teeth, a hypocrite, cruel, fickle minded, ungrateful and who defames for speaks ill of God and the teachers and who is lazy and short tempered, such a person does not deserve to be an Ācarya.

(सुप्रभेद–21.1-25.1, पूर्वकारण 26.15-38, कपर्दि–4.1-6)

A Sanyāsi or a mendicant and a Brāhmin though having fully studied the Vedas do not become eligible to perform sacrifices. So also Kṣatriyas and the other in the fourford hierarchy of society do not get the right to conduct or perform a sacrifice. This means that the king who seeks prosperity of his country should examine these point before appointing the Ācarya or the priest. आचार्य–आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा says the meaning of a word teacher or Ācharya or priest by Yāskacharya in his Nirukta.

Doctrine of Śaivagama

There are three principles: they are Śiva, Sadāśiva and Maheśa.

1. Śiva Principle

2. Sadāśiva Principle

3. Maheśa Principles

These are divided into 31 divisions as under:

1. Śiva Principle 1

2. Sadāśiva Principles 5

3. Maheśa Principle 25; (1+5+25=31)

Śiva Principle is supposed to be Niṣkala Sadāśiva principle is supposed to be Sakalaniṣkala.

Maheśa Principle is supposed to be Sakala.

शिवः सदाशिवश्चैव महेश्वस्त्रिधासृतः (वातुल 1 [15-22]

Śiva Principle

Śiva Principle is supposed to be pure and since it is superior to being pure it is known as परात्पर. As it has body beyond the sky it is known as Subtle (सूक्ष्मः) also means Śiva. Since it is the reason of the reason, it is everlasting. Since it is all-pervading, it is known as (सूक्ष्मः) (Sarvagata). Since it cannot decay at all, it is known as अव्ययं imperishable and eternal. Since it is pure, it is blemishless अनिन्दितः. Since it is comparison-less it is incomparable, matchless, most excellent. Since it cannot be measured, it is immeasurable अप्रमेयः. Since it is qualityless, it is quite healthy अनामयं–गुणरहितः.

This Lord Śiva in order to bring into existence or to create all principles, to create a different world in order to help Yogis, after careful thinking, created on his own five Saktis (energies) as follows:

1. Parāśakti, 2. Ādiśakti, 3. Īcchāśakti, 4. Jñānaśakti and 5. Kriyāśakti.

Like Śiva Tattva these Śaktis also are pure and blemishless. These together are known as Śivaśakti. From the above

mentioned Niṣkala five Śakti (energies) were created. Five Sakala principles named as Śiva, Īsa, Brahmā, Īśvara and Īśana, came in contact with Niṣkala Śiva Tattva. As a result, five Bhāvas were created. These Bhāvas came to be known as Ṣada. They are: 1. Śivasada, 2. Amūrtaṣada, 3. Mūrtaṣada, 4. Kartrṣada and 5. Karmaṣada. All the five Bhạvas are Sakala Niṣkala. That which does not have any physical shape and possesses no attributes or epithets is known as Niṣkala. That which possesses physical shape and attributes is known as Sakala. The combination of these two is known as Bhava.

In this way, the mingling or combination of Sadāśiva, Īśa Brahmā, Īśvara and Īśana in idol form मूर्तिरूप: takes place. Sakala with Siva, produces or results in five Bhavas known as Pañca Sada as mentioned above. These five Sadāśiva Pañca (Sakala) idols are called as Deha, Śiva Tattva as Delhi and a combination or mingling of these is known as Bhava. Bhāvasuddhi is prayer to the Lord Śiva to clear the heart of the six enemies i.e. Kāma, Krodha, Lobha, Moha, Mada and Mātsarya. Since it is expected to be the seat of Lord Śiva. May the choicest Blessings of the ever benevolent Lord be showered on all.

लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु ॥

Reference

1. Ṛgveda Saṁhitā with the commentary of Sāyancārya, ed. Sonatakkae and Kashikar. Vol. 1 to 4. Vaidika Samsodhana Maṇdala, Poona. 1983
2. Śaivāgamas A Bird's eye View. Dr. M.N. Joshi, Department of Sanskrit Karnatak University, Dharwad. 2001
3. Apte's Practical. Sanskrit, Dictionary Vol. II. 1958
4. Kaidas by V. Mirasi Suvicharya Prakasana Mandalatd, Nagapur. 1934
5. Ghate's lectures on Ṛgveda by V.S. Sukhuthan. Dr. N.G. Sardesai Oriental book agency, Pune. 1926

*

Vīraśaiva Religion and Philosophy in Śaivāgama

Sri Chidambar Takkalaki
Research Scholar
Sanskrit Department
Karnatak University, Dharwad

तन्त्रं सिद्धान्तनाम्नापि प्रथितें पृथिवीर्तले ।
मोक्षकामा वदन्त्येवं शिवागमविशारदः ।।
वेदागमयोर्लोके समं प्रामाण्यविष्यते ।
एकेश्वरप्रणीतत्वादेकार्थप्रतिपादनात् ।।

Vīraśaiva Religion and philosophy have a distinct place in the Religious History of India. It is true that the six systems of Indian Philosophy are well known in the Philosophical world. But apart from these systems, there are other Philosophical systems in India which deserve special mention. Śaiva Schools of Philosophy, Schools of Tāntric Philosophy, Jaina and Budhistic Schools of Philosophy may be cited here. Liṅgāyat Religion and Philosophy come under Śaiva Schools of Philosophy, and are known as VīraśaiDea Religion and Philosophy popularly called Vīraśaivism.

The concept of शिव, according to scholars is post-Vedic. It is found in the शैवसिद्धान्त of South India and also in शैवागम of Kashmir. शैवागम is mainly based on आगमशास्त्र. It is practised predominantly in South India. The followers of this cult consider themselves as different from the followers of Śiva according to Vedas and Upaniṣads. The आगमशास्त्र believed to be is originated by Mahādeva महादेव and is more sacred than the Vedas originated by the Creator, शिव, according to आगम is five-faced. These five faces are of सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष and ईशान, आगमशास्त्रा's are reported to have come out of these five faces of शिव. The period of the आगमशास्त्र is surmrised as the 9th century A.D. आगम consists of मन्त्रs mostly taken from the Vedas.

According to शैवसिद्धान्त, विद्या, क्रिया, योग and चर्या are the four steps and पति, पशु, पाश are the three aspects. विद्यापाद consists of पति i.e., शिव, शिव is the source of divine light and pleasure and also the means to achieve them, शिव is supposed to be endowed with five powers: creation, protection, destruction, illusion and grace–सृजन, पालन, संहार, माया, अनुग्रह/पशु is the individual soul–जीवात्मा। जीव inclusive in शवत्व but is not independent or free. It is always subject to the ever-free शिव। There are three categories of: पशु-विज्ञानकल, प्रलयाकल सकल। Those who fulfil their actions through knowledge and योग and are totally detached belong to विज्ञानकल group. Those who are made free through the deluge of the Universe belong to प्रलयाकल group. Those that are bound by the three पाश-मल, कर्म and माया belong to सकल group.

The पाशs that bind the individual soul are four and they are मल, कर्म, माया and रोधशक्ति respectively. The power of knowledge and action covered by the veil is मल. Action that which is complete to fulfil all desires is कर्म। Both धर्म religion and अधर्म irreligion, are in this category. Illusion माया, is that energy which is the cause of both deluge and creation. रोधशक्ति is शिव's energy which exists in the other three पाश and covers the real form of पशु or जीवात्मा. This is the power of speech always active in naming all objects or matter.

क्रियापद consists of मन्त्रसिद्धि, संध्योपासना, पूजा, जप, हवन and disciplined rituals for securing bliss - आनन्द। योगपाद consists of प्राप्ति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि and awakening of कुंडलिनी। चर्यापाद consists of penance, purificatory ceremony, installation of शिवलिंग and दृश्यलिंग of Uma and Maheśwar and all complementary - supplementary conducts detailed क्रियापद Acceptance of प्रसाद of other deities and condemning all observances in शैवमत are prohibited.

Just in the same period, it is said that in the north, Kashmiri Śaivāgama known as शक्ति-शिव-अद्वैत was in vogue. This cult is based on monism inspired by the philosophy of प्रत्यभिज्ञान -

Recognition. This recognises the existence of पति, पशु and पाश as the sole Reality. The Lord is both the material and efficient cause. All is known by knowing the One Supreme. Recognition of the soul's natural state as essential intelligence is salvation. This is not identical with the Lord but is dependent on and informed by His intelligence. Release is realization of alienness of the present state. Perfect freedom is service of the Lord. There is a marvellous epic named कामायनी Modern Hindi based on this काश्मिरी शैवागम. Its renowned poet Jayashankar Prasad treats the origin of the universe after the partial deluge.

विवस्वान् मनु, the sole survivor, recollects the lost pomp and glory on the top of the Himālaya. He is horror-struck by the vast destruction and plunges into sorrow and desperation. Gradually the sea water recedes and there appear symptoms of life on this earth. Manu's pessimism gives room for optimism, where he comes into contact with a wandering lady in that secluded place. She is कामायनी, symbolising faith, and also known as श्रद्धा।

कामायनी helps Manu to regain his self-confidence. Both start family life afresh. For sometime, they live together peacefully, मानवकुमार symbolising a new generation of humanity is born. As a mother, कामायनी is all set to attend to the needs of the new born baby. Manu's lower self cannot tolerate this diversion of her attention towards मानवकुमार. He wants to possess कामायनी all for himself for purpose of baser enjoyment. When he finds कामायनी not responding to his overtures or persuasion, he leaves both his wife and child to their fate and goes in search of new pastures.

Manu reaches सास्वतप्रदेश ruled by a woman named इडा or बुद्धि She is in need of a strong male member who can assist her in the management of the state.

Ambitious as he is, Manu is also unscrupulous. He agrees to be there and develops the kingdom with all his might. Industries grow and scientific and technological innovations come handy for making सारस्वत प्रदेश a prosperous State. But

Manu wants to be the sole dictator of the new state and even trespasses his limits in his behaviour towards इडा। The high handedness of Manu is very much resented by the subjects of सारस्वत प्रदेश। They revolt against him. War ensues. Manu is severely wounded and falls unconscious in the battle field.

कामायनी senses this catastrophy in her dream and arrives on the scene in the battle field, मानवकुमार is also with her. कामायनी forgives मनु and never complains against his rude behaviour. As a faithful companion in life, she nurses him. Manu regains his consciousness. He is struck with remorse. He wants to live in that place alone. Somehow he relents and is moved by the sincerity and faithfulness of कामायनी. He agrees to stay with her.

इडा or बुद्धि is very much attracted towards the unassuming कामायनी. She forgets the atrocities of मनु। कामायनी hands over मानवकुमार to her and appeals to her help him grow under her loving care. She persuades मनु to accompany her to Himalayas to mediate on the eternal bliss–आनन्द which is the ultimate goal and reach to have Lord Shiva's darshan. The पाश-ज्ञान of मनु gives place to पतिज्ञान through the magnanimity of कामायनी who is श्रद्धा incarnate. He is released from bondage and attains liberation through recognition. This was possible through the Lord's grace in the company of श्रद्धा. Final release of the soul comes through enlightenment–ज्ञान–in this very life by pursuing good conduct, purification and concentrated contemplation which makes one realise that matter and spirit are one and the same in a state of harmony–

समरस ये जड औ चेतन । सुन्दर साकार बना था ।
तेना बिखर बिलसी । आनन्द अखंड घना था ।

The message conveyed by Jayashankar Prasad in this epic is known as आनन्दवाद based on शैवागम of Kashmir school.

According to Kashmir school शिव and शक्ति are inseparable. The harmony of कामेश्वर and कामेश्वरी is said to be शिव harmony of शिव। शिव-शक्ति। शिवतत्व is encompassing the whole universe, both

static जड, and dynamic, चेतन। This is also known as परासंवित्, परमेश्वर or शिव। परमेश्वर supposed to be both विश्वात्मक and विश्वेत्तीर्ण. The विश्वात्मकरूप is present in all living and nonliving beings विश्वोत्तीर्ण रूप is above all these things unattached. Ignorance has covered up this आत्मस्वरूप. Ignorance or अज्ञान is also the will of शिव। With the awakening of knowledge, the will of With duality of जीव and शिव does no longer exist.

परमात्मा means शिक्ति-शिव समरसता. It is the ultimate truth. शक्ति has no relevance without शिव. The universe is on the move only on account of the contraction and expansion of शक्ति शिव। शिव without इ i.e., शक्ति becomes शव. The entire creation is the result of शिवशक्ति समागम. Just as moonlight creation is the result of is not separate from the moon, similarly, शक्ति energy of शिव is inseparable from शिव. The revelation of शक्ति indicates the creative, protective and destructive power of शिव. When शक्ति is dormant, the self-illumination power of शिव. When is present. That is why शक्ति is known as चित्तस्वरूप. Even in its dormant state, शक्ति is the prime cause of this creation. It is the sport of this शक्ति which makes the One assume the forms of many. शिव is illumination, शक्ति is discrimination, शिव चिदुरूप, शक्ति अहं निर्मित्तक। शिव-शक्ति union is चिदानन्दमय.

According to शैवागम, शिव-शक्ति stands for प्रकृति-पुरुष. But here प्रकृति is not illusion or माया. As this static and dynamic form of the universe is nothing but an extension of शिव or पुरुष। शक्ति माया can never be illusory. This leads them to introduce भक्ति devotion to have relationship of जीव-शिव through प्रेमभक्ति. Though meditation, penance and awakening of शक्ति are other paths of शिव worship, भक्ति or devotion is most popular among the laymen.

The वीरशैवमत is very much akin to this शिव शक्ति अभेद doctrine. In the form of लिंग is the symbol of वीरशैवमत. The followers of this cult wear लिंग on their body. They are also known as Lingayats लिंगायत, पंचाचार्य are supposed to have propounded this

cult. Basaveśwara spread the message of this संप्रदाय in the mediaeval period in Karnataka. बसवपुराण चेन्नबसवपुराण are considered as the sacred texts of this movement along with शून्यसंपादने अल्लमप्रभु. The preceptors of this cult are known as जंगम। जंगम means the worshipper of चरलिंग। Karnataka became the main region for the spread of this faith.

The ultimate reality or परब्रह्म with सत्, आनन्द स्वरूप known as शिवतत्व in this cult. स्थल is another technical term occurring in its philosophy. This is the prime cause of the universe. The चराचर, dynamic-static forms created out of प्रकृति-पुरुष dissolve during the deluge. The prime cause is symbolic of स्थ and the dissolution is symbolic of ल. So this is known as स्थल। लिंगस्थल and अंगस्थल form the two main forms. शिव the worshipped, is लिंगस्थल. Devotee, the worshipper, is अंगस्थल। लिंगस्थल ईश्वर and अंगस्थल is भक्त। The harmony between the two is लिंगांग सामरस्य।

भावलिंग, प्राणलिंग and इष्टलिंग form the three divisions of लिंगस्थल। निष्कल सकल निष्कल and सकल are respectively the other three names for these. भावलिंग is सत् शिवस्वरूप, प्राणलिंग is चित्स्वरूप, इष्टलिंग is आनन्द स्वरूप। भावलिंग is the most sacred part. प्राणलिंग is the minutest form. इष्टलिंग is the visible static form. The above trio get transformed and perfected through योग as कला, नाद and बिन्दु. These three are further divided into two parts respectively–महालिंग, (महात्म्यलिंग), प्रसादलिंग, (प्रसाधनलिंग), चरलिंग, शिवलिंग गुरुलिंग and आचारलिंग these six are known as षट्स्थल. These six लिंग are supposed to be endowed with energy as चित्शक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति and क्रियाशक्ति respectively.

शक्ति or energy is inherent in शिव or the Creater. This शक्ति according to its will, assumes two divisions as कला having शिव as its support and the other as भक्ति having भक्त for its sustenance. The activated energy is भक्ति which helps जीव approach शिव. According to the Vīraśaivas, therefore, भक्ति is another name for liberation or मुक्ति Establishment of शिव-जीव harmony सामरस्य is its supreme goal.

भक्ति is the main prop of अंगस्थल or जीव, योगांग, भोगांग and त्यागांग are the three facets of भक्ति, योगांग contacts जीव with शिव, भोगांग is the consummation of जीव and शिव, त्यागांग is the renunciation by जीव of जगत् as unreal and so discards the जगत्. The attainment of eternal oneness of जीव-शिव is the ultimate goal of Vīraśaiva followers. The philosophy of Liṅgāyats is known as शक्तिविशिष्टाद्वैत which resembles the विशिष्टाद्वैत of Vaiṣṇavas. शक्तिविशिष्टाद्वैत of Vīraśaivas is a votary of nonviolence and surrender which is another similarity between it and Vaiṣṇava विशिष्टाद्वैत।

शिव is the most important God of the post-Vedic period. This has been stated in the beginning. The Vedas do not mention शिव. Shiva's Prototype is रुद्र in the Vedas. शिव according to scholars is essentially a non-Āryan god and assimilated in the Brahmanical pantheon after the Āryans came in contact with the non-Āryans. रुद्र in the Vedas is a destroyer and terror. Another epithet of रुद्र is वृषभ, वृषभ is derived from the root वृष्. It has two meanings. The first is one who causes rain and the second is one whose capacity for procreation is unlimited. रुद्र Causes rain and so the greeneries sprout. Now the epithet वृषभ means the bull. The bull is famous for its capacity to procreate.

The epithet रुद्र has many connotations–

1) 'रुद्र' means weeping 'द्र' means running. रुद्र means one who weeps or who makes others weep. One who runs crying. 2) रुत् means worldly suffering. He who dispels this suffering or removes it is रुद्र. 3) रुत् is truth. He who knows the truth or propounds it is रुद्र. 4) रुत् is speech or spiritual knowledge. He also bestows it to worshippers is रुद्र।

These connotations are very interesting. रुद्र compassion knows no bounds. He is very much moved by others crying. He is responsible for removing the miseries of the living beings. He is the knower of truth and has propounded the same for the well-being of the universe. He bestows spiritual knowledge on the living species. Hymns in Ṛg-Veda describe रुद्र as wise,

beautiful and peaceful, as the strongest and most glorious among beings, as lord of the world etc. These are the same qualities ascribed to शिव also.

In Yajurveda रुद्र origin is given as below: The Lord of beings प्रजापति was a householder. Usha was his wife. A boy was born to them in a year. प्रजापति said to him, 'Boy, why do you weep since you have been born after toil and austerity?' The boy said, 'My evil was not taken away and a name has not been given to me. Give me a name'. Prajāpati said, 'Thou art Rudra'–He was रुद्र because he wept, यजुर्वेद IV (18-21). In the शतपथ ब्राह्मण (1.1.38), it is said that the Lord of beings प्रजापति, laid seed in Uṣā and a boy was born in a year.

In another passage of the same ब्राह्मण (3.6.1), Uṣā is said to have born to रुद्र and not to प्रजापति, his four sons, अग्नि, वायु आदित्य and चन्द्रमा. In the तैत्तिरीय संहिता (1.5.1), the origin of रुद्र is stated as follows–The Gods and Asuras contended and the former, having defeated their enemies, desired to recover their property, kept deposited with रुद्र. When they sought to take it from him by force, he wept. From the fact that रुद्र wept, he was called by the name रुद्र.

रुद्र or शिव, according to Dr. S.K. Chatterjee, is the God of शबर, किरात and निषाद the aboriginal tribes of India. शिवन्, चिवन् says Dr. Chatterjee, is a Tamil word meaning 'red' and the divinity known to the early Āryans was–नीललोहित the Red one with blue throat. A Red God of the mountains in Dravidian language might have been translated as रुद्र in the Āryan language, रुद्र is associated with अग्नि in Ṛg-Veda. According to एत्तेरेय ब्राह्मण, प्रजापति, takes the form of a मृग, रुद्र takes the form of a मृगव्याध hunter, and प्रजापति daughter appears as an antelope. रुद्र pierces प्रजापति with an arrow– इषु, त्रिकांड which belongs to the sky. रुद्र is also associated with the dead and scholars refer to the belief that the souls of the dead rush along in the storm and that besides being terrible, they bless their descendants. In the later period, the belief of

शिव's association with the cremation grounds may have gained ground. He might have been called the God of death महारुद्र. But in the Vedic period रुद्र is regarded as terrible only. As the God of death is also terrible, both of them may have been cluded together. The God of death has his place in the south, whereas रुद्र शिव as ईशान has his place in the north.

Scholars have inferred that रुद्र has his place in the north and the mountain known to the Vedic Āryans is in the north. शिव like रुद्र is closely connected with mountains and his wife is the daughter of mountain हिमान् रुद्रा appearance also closely resembles that of शिव–matted hair जटाजूट, कपर्दी head surrounded by radiating flame अग्नि, नीलकन्ठ, गिरिश, कृत्तिवास। He is Lord of the Gods. He is the receiver of हविस् offering in the sacrifice. हर, मृड, शिव, शंकर are also names ascribed to रुद्र. Thus, रुद्र is both malevolent and benevolent. He is capable of doing harm to the world. He is also capable of doing good to all who please him. He is very easily pleased. He is also आशुतोष।

This narration given an idea of how Vedic रुद्र was transformed into शिव in the later period. In the puranas and epics, it is only शिव that is most popular among the gods as महादेव. He is always united with शक्ति as the epithets show भवानीशंकर, उमाशंकर, गौरीशंकर, पार्वती-परमेश्वर.

I may be permitted to say that an attempt has been made in this paper to show the origin of Āgamas from the five-faced शिव. The subtle difference between the Vedic and the Āgamic approach to the problem of creation is brought out. Based on Āgamas, Śaiva Siddhānta of South India and Kashmir प्रत्यभिज्ञा दर्शन flourished. The concept of पति, पशु and पाश as indicating शिव, जीव and the binding forces separating जीव from शिव is mentioned. Importance of Recognition–प्रत्यभिज्ञा शक्ति-शिव-अद्वैत Principle is emphasized.

कामायनी a modern Hindi epic by Late Jayashankar Prasad, is cited as an attempt by literary men to highlight this principle.

The Vīraśaiva cult of Karnataka and its salient features are discussed. Significance of लिंगांगसामरस्य and षट्स्थल Principle is recollected. The derivation of the word रुद्र is brought to light. How scholars consider रुद्र as the Vedic Prototype of later शिव is discussed. शिव's appearance almost resembles that of रुद्र. Both are malevolent and benevolent as found in the Vedas and later Puranas and epics.

*

वीरशैवागम सिद्धान्त का पौराणिक आधार तथा उसकी दार्शनिकता : शिवपुराण के सन्दर्भ में

डॉ. अर्चना गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
बरेली कॉलेज़, बरेली

भारतीय दर्शन की अपूर्व परम्परा तथा विशेषता उसकी स्वतंत्र आस्था में है। अपनी विशिष्ट चिन्तनप्रणाली के कारण भारत में अनेक धर्म, सिद्धान्त, विचार तथा परम्पराओं ने जन्म लिया। किसी भी धर्म ने अन्धे नियम या जड़ सिद्धान्त की स्थापना नहीं की है। इसलिए आत्मज्ञान की प्राप्ति में श्रेय और प्रेय मार्ग बताये गये हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अध्यात्म विद्या को ही अपना स्वरूप कहा है–"अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्"[१] अर्थात् मैं जिस प्रभु सत्ता को प्रेम कहता हूँ, वह भीतरी आनन्द का बाह्य परिणाम है, क्योंकि संसार की सारी वस्तुयें उसी का रचना-विस्तार हैं। प्रत्येक धर्म की दार्शनिक व्याख्या मानव जीवन के केन्द्रबिन्दु पर आकर टिक जाती है।

भारतीय संस्कृति और धर्म की जानकारी हमें पुराणों से ही प्राप्त होती है। पुराणशब्द का अर्थ पुरा भवम् अर्थात् प्राचीन काल में होने वाला है। यास्क ने अर्थ किया है पुरा नवं भवति अर्थात् प्राचीन होकर भी नया है। वायुपुराण[२] में यह व्युत्पत्ति दी गई है–पुरा अनति अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित था। पद्मपुराण[३] में कहा गया है–पुरा परम्परां वष्टि कामयते। अर्थात् जो प्राचीनता की कामना करता है, वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण्ड[४] पुराण कहता है–पुरा एतद् अभूत् अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ। इस प्रकार पुराण का वास्तविक अर्थ अत्यन्त प्राचीन काल से यही चला आ रहा है कि–सत्य ही है, जो पुराणों में वर्णित है। शिवपुराण को चतुर्थ महापुराण माना गया है। १८ पुराणों में लिंगपुराण[५] में भगवान् शंकर की लिंगरूप में उपासना बताई गयी है। सृष्टि का वर्णन प्राप्त होता है। शिवपरक होने के कारण शैवव्रत और तीर्थ का वर्णन अधिक है। उत्तर भाग में पशु, पाश और पशुपति की व्याख्या की गई है। यह शैव तंत्रों के अनुकूल है। यह पुराण भी शिवतत्त्व की मीमांसा के लिए उपादेय और प्रमाणिक है।

शिवमहापुराण में वर्णित वीरशैव सिद्धान्त या शक्तिविशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय वेदान्त का ही प्रधान सम्प्रदाय है। आगम दर्शनों में वर्णित शैवागम तंत्र ही मुख्य सम्प्रदाय है। शिवपुराण के अनुसार शिव का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है।

शिव का कल्याणकारी जगत् स्वरूप वर्णन

१. शिवपुराण को शिव ने स्वयं उपनिषद्रूपी समुद्र से मथकर निकाला है।

२. शिव ज्ञान, विज्ञान से भी परे है, वही साध्य है। साधन उनका ज्ञान है, जो ज्ञान श्रवण, कीर्तन और मनन में ही निहित है।

३. शिव की प्राप्ति के लिए लिंग बेर की पूजा सर्वोत्तम है।

४. शिव ब्रह्मरूप में निष्कल कलारहित तथा कलासहित हैं। निष्कल शिव निराकार लिंग प्रधान हैं। सभी कलाओं से युक्त होने पर साकार बेरस्वरूप होकर बेर लिंग में पूजे जाते हैं। यही साकार और निराकार स्वरूप ब्रह्मसंज्ञक है। अन्य किसी भी देव में यह तत्त्व नहीं है। वेद भी बेर शिवलिंग की पूजा की आज्ञा देता है। निष्कल स्तम्भ रूप में शिव ने जगत् की रक्षा की है। स्वयं शिव ने कहा कि मैं निष्कल लिंग तथा सकल बेर लिंग में अप्रतिष्ठित होते हुए भी प्रतिष्ठित रहता हूँ। जिसमें मैं अग्निस्वरूप हूँ, इन्द्रियातीत हूँ, अनन्त हूँ, सत्य हूँ। मेरे पंचकृत्य ही पंचमुख हैं। इसी से संसार का संचालन होता है।

५. शिव ने ओंकार को वाचक तथा स्वयं को वाच्य कहा है। मनुष्य को निष्काम भाव से अपने भोगों को देवार्पण करके अर्थात् दान करके पवित्र मन से कार्य करना चाहिए, तभी शिव की प्राप्ति संभव है तथा ऐहिक व पारलौकिक सुख प्राप्त होता है।

६. लिंग रूप में शिव बिन्दुनादात्मक स्वरूप में हैं। जिसमें बिन्दु शक्ति है तथा नाद शिव हैं। अत: दोनों जगत् के आधार हुए। बिन्दु देवी तथा नाद शिव हैं, इसलिए यही दोनों शिवलिंग नाम से अभिव्यक्त हैं। संसार में इन्हीं का रूप पुरुष प्रकृति का मेल होकर जन्म का कारण बनता है। पुरुष के साथ माया नामक शक्ति रहती है। प्रणव अक्षर का ज्ञान बार-बार के जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त करने की शक्ति रखता है।

७. शैव सिद्धान्त कहता है कि जीव को प्रकृति आठ बन्धनों से बाँधती है। आठ बन्धन प्रकृति के ही हैं। प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रायें ये आठ प्रकृति कहलाती हैं। इन्हीं से देह प्राप्त होता है। देह से ही तीन प्रकार के कर्म होते हैं। जैसे–स्थूल शरीर से व्यापार, सूक्ष्म शरीर से इन्द्रियों का भोग तथा कारण शरीर आत्मा के निमित्त होता है। कर्म ही जीव को चक्रवत् घूमाता रहता है। शिवतत्त्व इस सबसे ऊपर है, क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, निस्पृह और परिपूर्ण है, इसलिए शिव के अधीन सम्पूर्ण कार्य समर्पित करके शिव के मानस ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहिए।

८. शैव सिद्धान्त प्रणव लिंग, स्वयंभू लिंग तथा प्रतिष्ठित लिंग तीनों को महत्त्व देता है, क्योंकि तीनों ही लोककल्याणार्थ स्थापित हुए हैं। शिव की मूर्ति पूजा में शिव का कपूर के समान गौरवर्णी होना तथा भस्मप्रिय होना, सर्प को धारण करना, चन्द्रमा को धारण करना, डमरू व त्रिशूल को धारण करना किसी न किसी उद्देश्य को ही प्रकट करता है। निरर्थक कुछ भी नहीं है। शिव का यह स्वरूप साधारण जन को भी सरलता से प्राप्त हो जाता है।

शिवपुराण के अनुसार शिवतत्त्व की विशिष्टता

१. शैव सिद्धान्तविशिष्ट जीव और विशिष्ट शिव की कल्पना करता है। उसका वर्णन रुद्रसंहिता तथा वायव्यसंहिता में मुनियों की उत्सुकता में पूछे गये प्रश्नों से ज्ञात होता है।

२. शिवतत्त्व ही जगत् की उत्पत्ति, लय तथा पालन का कारण है। मायाश्रित होते हुए भी मायारहित है। अनेक लीलायें शिव के शिवमोहक माया का परिणाम है। शिव की विशिष्टता ही है कि अहंकार के नाश के बाद ही शिवज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि शिव तीनों गुणों से परे हैं। प्रलय काल में भी सत् रूप में स्थित हैं।

३. शैव सिद्धान्त में शिवतत्त्व को वाणी से परे, इन्द्रिय विषय से रहित, नाम रूप वर्णरहित, न स्थूल न सूक्ष्म परमात्मा पुरुष के रूप में स्वीकार्य किया गया है।

४. शैव सिद्धान्त में परमात्मा पुरुष से अपने शरीर से भी ज्यादा स्वच्छ शरीरवाली और कभी नाश न होने वाली शक्ति को ही प्रकृति कहा गया है, वही गुणवती माया तथा विकार से रहित बुद्धि है।

५. शैव सिद्धान्त शिव तत्त्व को जगत् के क्रियात्मक व्यवहार के रूप में देखता है। जहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या यह क्रियात्मक व्यवहार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अहंकार से उत्पन्न होता है? अथवा महान् आत्मा का ही रूप है। इसका उत्तर पुराण में स्पष्ट रूप से वर्णित है।

६. स्कन्द जी ने स्वयं उत्तर दिया है कि कर्म सत्ता से लेकर शास्त्रवाद तक जो कुछ है, वह ज्ञानदायक है। निम्न बुद्धि वाले अनुमान से भी ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते हैं। उनको प्रत्यक्ष प्रपंच के दर्शन भी ज्ञान नहीं दे सकते हैं।

७. शैव सिद्धान्त में शिव शक्तिभाव को प्राप्त होते हैं। इन्हीं के संयोग से आनन्द की प्राप्ति होती है। यही अद्वैत शैववाद है। इसमें द्वैत किसी भी प्रकार समावेशित नहीं होता है।

८. शैव सिद्धान्त यह मानता है कि देवों को उत्पन्न करने वाला वह परम पुरुष अपनी इच्छा से संकुचित होकर पुरुष हो गया, जिसमें पाँचों कलायें हैं। वही पुरुष प्रकृति के गुणों का भोक्ता है। वही चित् प्रकृति तत्त्व है।

९. वेदान्तयुक्त ज्ञान ही शिव तत्त्व है। जैसे प्रकृति के आठ बन्धनों से तेज, तेज से द्विविध संकल्पात्मक और विकल्पात्मक मन, मन से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिसे तत्त्वदर्शी सूक्ष्म कहते हैं। उसी से पंच महाभूत उत्पन्न हुए हैं।

१०. शैव सिद्धान्त ज्ञान के द्वारा अज्ञान जनित प्रभूत दुःख की समाप्ति को स्पष्ट रूप से कहता है, जिसमें वह चेतन जीव व जड़ प्रकृति का नियन्ता बन जाता है। उसे पशु, पाश व पति कहते हैं। यही ज्ञान की चरम अवस्था है। तत्त्ववेत्ता उसे अक्षर व क्षर से परे कहते हैं। अक्षर पशु है तथा ब्रह्मज्ञान से पाश, जो प्रकृति है, उसका क्षरण होता है। इन दोनों का प्रेरक परमेश्वर है, वही पति है।

११. शैव सिद्धान्त माया को ही प्रकृति कहता है। उसी के मोह से संसार कार्य बन्धन में बार-बार आता है। दुर्गासप्तशती में भी यही विचार है।

ऊँ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।[१०]

शैव सिद्धान्त के कर्मवाद की दार्शनिकता

१. न्याय दर्शन[११] **१६ पदार्थों** द्वारा मनुष्य को सत्य असत्य का निर्णय कराकर सभी गुणों का नाश करके अपवर्ग को बताकर **सम्यक् कर्म** की ओर अग्रसर करता है। जिससे यथेष्ट फल प्राप्त हो सके। **आत्मा का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग** ही है। यह सब कुछ **शिवतत्त्व** में वर्णित है।

२. वैशेषिक दर्शन[१२] मीमांसा के धर्म से अलग है, क्योंकि चतुर्थ सूत्र में कहा गया है कि धर्मविशेष से उत्पन्न हुए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से तत्त्वज्ञान होता है। उसी से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। **वैशेषिक दर्शन इन पदार्थों का वर्णन कर रहा है**। जिनके मध्य रहकर कर्म करना है। **ये बाह्य साधन भी शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुए हैं**। वैशेषिक के द्रव्यों में आत्मा ही मुख्य द्रव्य है। शेष नष्ट होने से **आत्मा से सम्बद्ध हैं**। जीव को कर्म करने के लिए **आगम ज्ञान से अतिरिक्त बुद्धि का भी प्रयास करना पड़ता है**। यह बुद्धि ही प्रकृति है। **शिवा के लिए कहा है—**

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

३. शैव मत से वर्णित **शिवतत्त्व जो त्रिगुण रूप है, सांख्य दर्शन में उसकी साम्यावस्था को प्रकृति कहा है।** प्रकृति से महत्तत्त्व तथा अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति बताई गई है। योग २५ तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान कराकर जीवात्मा को समाधि की दशा तक ले जाता है, जिसमें यह ज्ञान होता है कि जीव के कर्म और फल का आरम्भ काम्य कर्मों से होता है, परन्तु अन्त ब्रह्मप्राप्ति पर ही होता है, अन्यथा जन्म-मरण का यह चक्र अनवरत चलता रहता है। विशिष्ट शिवतत्त्व पुराण में इसकी विस्तृत व्याख्या करता है।

४. शैव सिद्धान्त में वर्णित चित्त की वृत्तियों का वर्णन योग भी करता है। योगदर्शन कहता है कि जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब साक्षीभूत परमेश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। समाधि का प्रमुख विषय विवेकख्याति ही है। अर्थात् प्रकृति क्या है? संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय कैसे होते हैं? दृश्यमान जगत् किन तत्त्वों से बना है? इसका भोक्ता कौन है? इसको बनाने वाला कौन है? इस प्रकार का ज्ञान ही विवेकख्याति है। प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान की वास्तविकता का बोध ही शैवागम सिद्धान्त का उद्देश्य है।

५. मीमांसा दर्शन मनुष्य जीवन का सम्बन्ध कर्म से जोड़ता है। निष्काम कार्य को प्रोत्साहित करता है। कर्मफल ईश्वरीय व्यवस्था की अनुरूपता प्रदान करता है। यही शिवतत्त्व का भी मूल है।

६. वेदान्त तो शैव सिद्धान्त का छायारूप है। उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का वर्णन विस्तार से है। आत्मविद्या के बिना ब्रह्मविद्या अधूरी है। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि ब्रह्माण्ड में गतिशील जगत् परमेश्वर द्वारा आच्छादित है। जीव को ओमपदवाची परमात्मा का स्मरण करने को कहा गया है। केनोपनिषद् में परमात्मा को जगत् का नियन्ता बताया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद तो शैव तंत्र के ओंकार पदवाच्य की विस्तृत व्याख्या करता है। उसे आनन्दरस कहा गया है, जिससे परे कोई न हो, वह ब्रह्म है, ऐसा कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् भी शिवतत्त्व रूप में स्थित ब्रह्म का ही वर्णन करता है–

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ।

अर्थात् सबसे पहले ब्रह्म था, उसी से दृष्ट की रचना हुई है।

इस प्रकार शैवागम सिद्धान्त का शिवतत्त्व ही सम्पूर्ण दर्शनों को तत्त्वज्ञान प्रदान करता है तथा उसकी व्याख्या करता है, क्योंकि शैवमत में कर्म की विवेचना का अन्तिम लक्ष्य जीव को मोक्ष प्रदान कराना है। इसलिए मनुष्य धर्म और व्यवहार धर्म को ही कर्म के रूप में प्रारम्भ किया गया है। इसी से जीव मोक्ष का अधिकारी बनता है। ऐसे ब्रह्म की ब्रह्मज्ञान के लिए धारणा करनी चाहिए। यही शैवागम सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य है।

श्री शंकराचार्य ने वेदसार शिवस्तुति में अपने आराध्य का रूप ही वर्णित कर दिया है और कहा है कि सम्पूर्ण सृष्टि में आप ही हैं–

शम्भो महेश करुणामय शूलपाणे
गौरीपते पशुपति पशुशुपाशनाशिन्।
काशीपते करुणया जगदेतदेक–
स्त्वं हंसि पासि विदधासि महेश्वरोऽसि।
त्वत्तो जगद्भवति देव भव स्मरारे
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश
लिङ्गात्मक हर चराचरविश्वरूपिन्॥

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १०.३२
२. वायुपुराण, १/२०३
३. पद्मपुराण, ५/२/५३
४. ब्रह्माण्डपुराण, १/१/१७३
५. लिंगपुराण, अध्याय-९
६. शिवमहापुराण, (सम्पादक पं. रामलग्न पाण्डेय विशारद)
विद्येश्वर संहिता, अध्याय ९ से २३ तक
रुद्र संहिता, अध्याय ६, ७, ८, ९
कैलास संहिता, अध्याय १३, १४, १५, १६, १७
वायव्य संहिता, अध्याय ५, ६, ७, ८
वायवीय संहिता, अध्याय ६, ७
७. दुर्गासप्तशती, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम अध्याय ५५वाँ श्लोक।
८. न्याय दर्शन, १.१.१ से लेकर १.१.१२ तक
९. दुर्गासप्तशती, तन्त्रोक्त सूक्त श्लोक संख्या ८
१०. वैशेषिक सूत्र, १.१.१, १-१२, २, १.१.५
११. सांख्य दर्शन, १.५५, १.५६, १.५९, ६०, ६१, ६२
योगदर्शन-सूत्र, १.१, १.२, १.३, १.१५
मीमांसादर्शन, १.१.१
ईशोपनिषद्, मंत्र-१, १५

केनोपनिषद्, १.१
छान्दोग्य उपनिषद्, १.१.१, १.१.५, १.१.७
बृहदारण्यक उपनिषद्, ३.८.१०

*

शिवशक्त्योरद्वैतदर्शनम्
अथवा
शिवशक्त्योरद्वैतत्वविमर्शः

डॉ. नरेन्द्रनाथठाकुरः

शिवशक्त्योरद्वैतत्वविमर्शः

दर्शनार्थकाद् दृशधातोरेव दर्शनशब्दो 'करणाधिकरणयोश्च' इति सूत्रेण करणे ल्युटि प्रत्यये कृते व्युत्पद्यते। अत एव दृश्यते अनेन इत्यस्मिन्नर्थे एव दर्शनशब्दो व्युत्पद्यते। अत एव येन साधनेन विश्वे विद्यमानानां वस्तूनां सूक्ष्मतमं ज्ञानं सम्पद्यते तज्ज्ञानमेव दर्शनमभिधीयते। अत एव केनोपनिषदि श्रुत्याभिहितम्–

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदवेदीन् महती विनष्टिः।' इति

अस्याः श्रुतेरभिप्रायो वर्त्तते यत् मानवश्चेदत्र सूक्ष्मज्ञाननेत्रेण मानवजीवनस्य प्रयोजनभूतानां प्राप्यस्य, प्राप्तुः,प्राप्यप्राप्त्युपायस्य प्राप्यप्राप्तिफलस्य, प्राप्यप्राप्तिप्रतिबन्धकस्य च स्वरूपं यथायथं ज्ञात्वा आत्मोज्जीवनं करोति तदा तु तस्य मानवं जीवनं सफलं जातम्, अन्यथा मानवे जीवने जायमानासु महती विनष्टिः तत्त्वज्ञानाभावस्वरूपैव भवति।

इमानि दर्शनानि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्यादिकानां श्रुतीनां माध्यमेन आत्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य तत्साधनभूतानां श्रवणमनननिदिध्यासनानां च ज्ञानस्य 'कारणं तु ध्येयम्' इत्यादिकानां श्रुतीनां माध्यमेन जगतः कारणं किम्? तत्रोपादानता निमित्तता च तत्त्वस्य? कुतश्चोद्भूय कुत्र लीयते जगत्, जीवात्मनः स्वरूपम् किम्; तानि तानि शरीराणि किं कारणानि? शास्त्रेषूपवर्णितेषु कर्मयोगभक्तियोगज्ञानयोगेषु किं भवति मुक्तेः साधनम्, मुक्तेश्च स्वरूपम् किम्? जगति जनिमतां जीवानाम् अनुदिनं जायमानस्य दुःखत्रयाभिघातस्यैकान्तिकात्यन्तिकी अप्रकृतिः कथं सम्पद्येत प्रभृतीनां विषयाणां ज्ञानस्य महत्त्वं सम्पादयन्ति।

शिवशक्त्योरद्वैतत्वविषये बहुषु शास्त्रेषु लक्षणप्रमाणाभ्यां भेदनिरूपणं कृतम्। तत्रादौ वस्तुतो ह्युपनिषत्प्रतिपादित एव दर्शनसिद्धान्तोऽद्वैतवेदान्तसिद्धान्तः। परमुपनिषदां व्याख्यातारो हि भिन्नभिन्नदृष्टिभाजः। तत्र माध्वाः द्वैतदृष्टिप्रधानाः सन्तः पाशुपतशैवगुरुवदद्वैतपदेन मुक्तस्य जीवस्य ब्रह्मणा साकमांशिकं सादृश्यमेव प्रतिपादयन्ति, नाभेदं तयोः। शिवभोगवादिनः शैवसिद्धान्तगुरवोऽपि तत्तुल्यप्रायाः। उत्तरे भास्करेण दक्षिणे च निम्बार्केण स्वर्णकुण्डलन्यायेन जीवजगद्-ब्रह्मणां परस्परं भेदे सत्यप्यभेद एव प्रतिपादितः। ततस्तयोर्विचारे द्वैताद्वैतसिद्धान्त एवोपनिषदां तात्पर्यभूतः सारः रामानुजीया वैष्णवाः श्रीकण्ठमतानुयायिनश्च शैवा दाडिमीफलतत्कणन्यायेन स्वात्मन्यभिन्नेऽपि ब्रह्मणि स्वगतं भेदमङ्गीकुर्वन्तो विशिष्टा-

द्वैतदृष्ट्यैवोपनिषदां व्याख्या: कृतवन्त: । विष्णुस्वामिवल्लभाद्या वैष्णवा: श्रीपतिप्रभृतयो वीरशैवाश्च सर्वमपि जीवजगत्प्रपञ्चं परब्रह्मण: पारमैश्वर्यलीलाविलासस्यैव फलं प्रतिपादयन्त: क्रमेण विशुद्धाद्वैतं सामरस्यवादं चोपनिषदां तात्पर्यतया व्याख्यातवन्त: । अद्वैतवेदान्तसम्मताया मायाया ब्रह्मणोऽतिरिक्तत्वेन स्वीकरणं तेषां मतेनाद्वैतम् ।

सर्वस्मिन्नपि भारते महतां विद्याकेन्द्राणां मध्ये सुप्रभूतेषु तेषु शाङ्करस्यैवाद्वैतस्य बहुमानोऽद्यापि वर्तते । असावद्वैतवेदान्तवादो गौडपादाचार्येण सम्यग् विकासमुपनीत: । तस्य प्रशिष्येण चाचार्यशङ्करेण सुव्याख्यात:, सुप्रचारित:, सुप्रतिष्ठापितश्च भारतवर्षे सुप्रभूतेषु विद्याकेन्द्रेषु । तदनुसारं ब्रह्मैवैकमात्रं सत्यं तत्त्वम् । तच्च सच्चिदानन्दात्मकम् । अनाद्यविद्यावशादेव जीवा एकमेव सच्चिदानन्दमात्रं ब्रह्म जीवरूपतया, जगद्रूपतयेश्वररूपतया च पश्यन्ति । परं विद्योदये सत्यविद्याया अपगमो यदा भवति तदा ब्रह्मैवैकमात्रं सत्यतत्त्वं प्रकाशते, जीवेश्वरजगदात्मकं त्रयमपि स्वप्नसंसारवद्विलीयते यथोक्तं माण्डूक्यकारिकायाम्–

अनादिमायया सुप्तो यदा जीव: प्रबुध्यति ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्ध्यते तदा ।।

(मा.का. १/१६)

अन्तर्लीनविमर्श: प्रकाशमात्रतनु: कामेश्वर: शिव: शिवस्वरूपविमर्शनिर्मलादर्शस्वरूपां पराभट्टारिकां ललितामहात्रिपुरसुन्दरीं शक्तिमाश्रित्य जगतो हेतु:

सकलभुवनोदयस्थितिलयलीलाविनोदनोद्युक्त: ।
अन्तर्लीनविमर्श: पातु महेश: प्रकाशमात्रतनु: ।।

(का.क.वि. १)

यथा हि शिवस्य जगन्निमार्तृत्वं शक्त्या विना न सङ्गच्छते, एवं पराशक्तेरपि परमशिवेन विना कारणत्वं न भवेत् ।

यथा कश्चिद्राजा अतिसुन्दर: स्वात्माभिमुखस्थितस्वच्छादर्शतले स्वान्यप्रतिबिम्बं सम्यक् प्रसमीक्ष्य तत्प्रतिबिम्बमहमिति जानाति, एवं परमेश्वरोऽपि स्वाधीनभूतां स्वात्मशक्ति सम्यगवलोक्य स्वस्वरूपमवगच्छति । सा शक्तिरादर्शस्थानापन्ना इयं शक्ति: अहमात्मिकान्तर्गमितसमस्तवर्णकदम्बका परा शक्ति: अकारादिहकारान्तपञ्चाशदक्षररूपिणी वर्णपदमन्त्रबलात्तत्त्वभुवनात्मकसमस्तप्रपञ्चजनयित्री पराभट्टारिका समस्तभूतान्तरात्मा सर्वत्र वेदान्ते अहमहमित्येवं रूपेण प्रतीयमाना दृश्यते ।

प्रत्यभिज्ञायामियमेव विस्फुरणशक्ति: दर्पणत्वेन निरूपिता, तस्मिन् दर्पणे स्वस्वरूपावलोकनमेव प्रतिफलम् । तादृशप्रतिफलनरूपावलोकने सति चित्तमये ज्ञानैकस्वरूपे प्रतिप्रकाशमनोहरे कुड्ये महाविन्द्वाविर्भावकारणात् महाबिन्दुर्निविशते । लोकेऽपि सूर्याभिमुखस्थित-

दर्पणतले सूर्यकिरणप्रतिफलनानन्तरं निकटगतकुड्ये सूर्यकिरणप्रतिहततेजो बिन्दुः प्रत्यक्षं प्रपद्यते। तद्वत् प्रकाशरूपपरमेश्वरस्य दर्पणवत् स्वरूपविमर्शसम्बन्धे जाते तदानीं तत्र महाबिन्दुः पूर्णोऽहमित्येवं रूपः परमेश्वरोऽवभासते। यथा–

स्फुरत्तामात्मनः पश्येत् तदा चक्रस्य सम्भवः। इति।

अत्रायमभिप्रायः प्रत्याहारन्यायेन अन्तर्गर्भितसमस्तवर्णकदम्बकाहङ्काररूपप्रकाशविमर्श-सम्पुटादेव शब्दार्थात्मकसर्वप्रपञ्चविकासो भवति। तथा च श्रुतिः–

एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् विहितार्थो दधाति। इति।

अत्र तन्त्रे चित्तमयपदेन योऽयमहमहमित्यहङ्कारः स एव गृह्यते। पूर्वोक्तो यो महाबिन्दुः स सितशोणबिन्दुयुगलात्मा।

अनेन शिवशक्त्योः तदानीमन्योन्यविहरणपरत्वं प्रतीयते। तत्र च सितशोणबिन्दु-युगलं तदेव च कामकामेश्वरीरूपं दिव्यमिथुनम्। इदं मिथुनमेव वागार्थसृष्टिहेतुः–

सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसङ्कुचत्प्रसरम्।
वागर्थसृष्टिहेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम्॥

(का.क.वि. ६)

अत्र श्लोके व्याख्यायां वाक्पदेन परापश्यन्त्यादिरूपाः समस्तशब्दा अर्थपदेन च शिवादिक्षित्यन्तषड्विंशतितत्त्वरूपा गृहीता। अत्र संग्रहोऽयं परमेश्वरः साङ्गभूताखिलप्रपञ्च-विलयात्मकविमर्शशक्तिमनुप्रविश्य बिन्दुभावं मन्यते। ततः सा विमर्शशक्तिरपि स्वान्तर्गत-प्रकाशमयबिन्दुमनुप्रविशति ततश्च बिन्दुरुत्पन्नो भवति, तस्माद्बिन्दोः नादात्मिकासमस्ततत्त्व-गर्भिणी तेजोमयी जीवरूपा बालाग्रवत् सूक्ष्मरूपिणी शृङ्गाटकरूपतामुद्गृह्णाति। एवञ्च बिन्दुनादस्वरूपयोस्तयोर्मध्ये एको विमर्शो रक्तरूपतां जात इति। अपरः प्रकाशः शुक्ल-बिन्दुरूपतामेति।

उभयोर्मेलने मिश्ररूपं सर्वतेजोमयं परमात्मस्वरूपं भवति। इयमेव बिन्दुस्वरूपिणी कामेश्वराविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी कामकलेत्युच्यते–

वागर्थौ नित्ययुतौ परस्परं शक्तिशिवमयावेतौ।
सृष्टिस्थितिलयभेदौ त्रिधा विभक्तौ त्रिबीजरूपेण॥

(का.क.वि. १२)

न केवलं 'कामकलाविलास'–ग्रन्थे अपि तु 'शिवदृष्टि'–नाम्नि ग्रन्थेऽपि शक्ति-शक्तिमतोर्भेदः वर्णितः–

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥

अत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्र यत्र शिवस्तत्र तत्र शक्तिः, यत्र यत्र शिवो नास्ति तत्र तत्र शक्तिर्नास्ति । एवञ्च समव्याप्तिमाध्यमेन यत्र यत्र शिवत्वं तत्र तत्र शक्तितत्वम्, यत्र यत्र शक्तितत्वं तत्र तत्र शिवत्वमिति शिवशक्त्योरद्वैतरूपत्वं शक्तिशक्तिमतोर्भेदत्वं वा सिध्यति ।

जगद्गुरुशङ्कराचार्येण स्वकीये 'सौन्दर्यलहरी'–नाम्नि श्रीविद्यामाहात्म्यप्रकाशके ग्रन्थे शिवशक्त्योः शक्तिशक्तिमतोर्वा सामरस्यमन्यतमत्वं निरूपितम्–

शिवश्शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ।।

(सौ.ल. १)

भगवान् परमकारुणिकः शङ्करावतारः शङ्कराचार्यः शिवशक्त्योरभेदं ज्ञापयितुं सकलप्रपञ्चसाक्षिण्याः ब्रह्माविनाभूतचिच्छक्तेः स्तुतिद्वारा मातृकादिमन्त्रानुद्धरति । शक्त्या सह शिवस्याविनाभावो भवतीति परमार्थतः शक्तिशक्तिमतोरभेद इति तात्पर्यार्थः तदुक्तं कूर्मपुराणे–

शक्तिशक्तिमतोरभेदं वदन्त्यपरमार्थतः ।
अभेदमनुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ।।इति।।

(कूर्म.)

परे तत्रापारमार्थिकं भेदमापादयन्ति 'तन्तुमान् पटः' 'मृद्वान् घटः' इतिवत् । शिवः शक्तियुक्तः प्रभवति, न शक्तिवियुक्तः कदाचिदपि । तथा च यैव शक्तिः सैव शिवः, य एव शिवः स एव शक्तिः, उपासकानां वासनाभेदेन शिवः शक्तिरिति भेदकल्पना, यथा चित्तविशेषे तत्तद्वासनाभेदेन कदाचिद्रजप्रतीतिः कदाचिद्वृषभप्रतीतिरिति ।

*

वीरशैवसंस्कृतसाहित्ये षट्स्थलमार्गः

डॉ. परड्डी मल्लिकार्जुनः, धारवाडस्थः

काशीपीठपतिं सुमेरुसदृशं नत्वा विनम्राननः
विद्वद्वन्दनपूर्वकं पुनरहो शम्भोः कृपाभाजनम् ।
भक्तप्रीतिविवर्धनं शिवमतोत्कर्षप्रशंसापरं
सिद्धान्तं निगमागमोक्तिविशदं[१] प्रस्तौम्यहं सादरम् ।।१।।

मदीयेऽपि महाकाव्ये बसवोदान्तवर्णने–

शिवागमादिसद्ग्रन्थनिरूपितमिदं पुरा ।
काललीलाखिलीभूतं वीरशैवमतं परम् ।।

(बसवभास्करोदये)

एतदप्यत्र वक्तव्यं पण्डितोत्तमसन्निधौ ।
शैवागमोत्तरार्धे तु वीरशैवमतं यतः ।
निर्गताश्च शिवास्येभ्यो वीरशैवागमाः कुतः ।।

(शिवागमोक्तं वीरशैवमतम्, श्लोक ८)

एतदेव पुनः प्रोक्तं श्रीसिद्धान्तशिखामणौ
सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।

(V-१४)

निगमागमनिष्णाताः शिवयोगपरायणाः ।
वीरशैवमतं ज्ञातुं शक्ताः शम्भुदयोदयात् ।।२।।

वीरशैवपदस्यार्थः निरुक्तित्रयमाश्रितः ।
विदुषां मनसस्तोषं तनोति बहुधा श्रुतः ।।३।।

विकल्प(विकार)रहितं शैवं विरोधरहितं तथा ।
सुविद्यारमणं यस्य वीरशैवमतं परम् ।।४।।

अष्टावरणनिष्ठोऽसौ विकाररहितो नरः ।
यः पञ्चाचारसम्प्रीतौ विरोधरहितः क्षितौ ।।५।।

षट्स्थलाध्वगतिः शुद्धः विद्यारमणतत्परः ।
वीरशैवः सदा शुद्धः विश्वकल्याणकातरः ।।६।।

अष्टावरणशुद्धाङ्गः पञ्चाचारसुमानसः ।
षट्स्थलज्ञानपूतात्मा वीरशैवमतानुगः ।।७।।
स्वधर्मनिष्ठचित्तस्य परधर्मसहिष्णुता ।
वीरशैवमतौदार्यं विश्वबान्धव्यकारणम् ।।८।।

शैवतन्त्रोक्तमन्यादृशं दर्शनं वीरशैवाख्यया लोकसम्भावितम् ।
अल्लमादीशभक्तैः[2] स्वकीयोक्तिषु भोगमोक्षप्रदं सादरं संस्मृतम् ।।९।।

वीरशैवस्य वैशिष्ट्यं मयान्यत्र निरूपितम्–

वर्णपाशविमोचनं धनिकप्रभावनिवारणं
साक्षराधमराक्षसादिविनाशनं भयवारणम् ।
धर्मजीविपरोपजीवनवारणं मितभाषणं
विश्वमङ्गलकामनं भुवि वीरशैवरसायनम् ।।[3]

नात्र वर्णाश्रमोपद्रवो विद्यते लिङ्गभेदात्समाजो न वा बाध्यते ।
लिङ्गदीक्षाविशुद्धः प्रसादोत्सुको देहदेवालये शम्भुलिङ्गार्चकः ।।१०।।

योऽपि स्वदेहे शिवलिङ्गमिष्टं सर्वास्ववस्थासु धरन् पवित्रः ।
स्थलानुसन्धानपरो यथेष्टं स्थिरीकरोत्यात्मनि भावलिङ्गम् ।।११।।

आदौ श्रीगुरुरूपिणा परशिवेनासाद्य दीक्षात्रयं
अङ्गानां त्रितयेऽपि लिङ्गममलं सन्धारयन्निष्ठया ।
पञ्चाचारपरायणः शुभमतिः पूर्वाश्रमानादरः
भाक्ताद्यं स्थलषट्कमात्मविषयं सम्पूजयत्यादरात् ।।१२।।

यथेष्टलिङ्गसम्बन्धः स्थूलदेहान्न वार्यते ।
तथैवाभ्यन्तरं लिङ्गं[4] सूक्ष्मकारणयोः स्थिरम् ।।१३।।

लिङ्गत्रयमिदं यावत्तनुत्रयसमाश्रितम् ।
सामरस्यं भवेत्तावज्जीवात्मपरमात्मनोः ।।१४।।

लिङ्गाङ्गसङ्गात् स्थिरमुक्तिकामः भवेत्सदा षट्स्थलमार्गदक्षः ।[5]
सदावधानः स्थिरभक्तियोगः प्रसादभोगैकरतिर्विरागी ।।१५।।

षट्स्थलोपासनासक्तः शिवयोगसमुत्सुकः ।
मुक्तिमार्गक्रमज्ञानी प्रयत्ननिरतो भवेत् ।।१६।।

अत्र सुभाषितमेकं स्मर्तव्यम्–

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति ।।

शक्त्या शम्भुरुमापतिः स जगतां सृष्टौ प्रवृत्तो भवेत्
भक्ते सैव निवृत्तिरूपमनघं धृत्वास्य मुक्तिप्रदा ।[६]
श्रद्धाख्या शिवभक्तिरेव[७] दृढतामासाद्य संसारिणो
जीवन्मुक्तिविधौ प्रशान्तमनसो जीवात्मनः कारणम् ।।१७।।

लिङ्गत्रयं द्विधा भिन्नं प्रत्येकं भक्तवृद्धये ।
आचारादिमहालिङ्गपर्यन्तं मोक्षसिद्धये[८] ।।१८।।

पारमेश्वरतन्त्रे तु षडङ्गत्वनिरूपणम्–

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।
(VI-३३)

उपासकाङ्गस्थलषट्कमेतद् भक्तादि चैक्यावधि लिङ्गनिष्ठम् ।
श्रीपारमेशागमसूक्तिरेका षट्कं स्थलानां विवृणोति सुष्ठु ।।१९।।

भक्तो माहेश्वरश्चैव प्रसादी प्राणलिङ्गकः ।
शरणः शिवलिङ्गैक्यः स्थलषट्कं मम प्रियम् ।।
(पारमेश्वरागम, VI-१८)

षट्स्थलानां स्वरूपं समासेन यत् शङ्करानुग्रहात् शिष्टसन्तोषदम् ।
वर्णयाम्यद्य शैवागमोक्तं मुदा तत्परः सज्जनो भूतले सर्वदा ।।२०।।

१. भक्तस्थलस्वरूपम्

लक्षणं शिवभक्तस्य श्रीसिद्धान्तशिखामणौ-
शैवी भक्तिः समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते ।
(V-२६)

नित्यानित्यविवेकतः स्थिरमनाः देहाभिमानं त्यजन्
प्राप्यान्तःकरणेषु शुद्धमतुलामाचार्यकारुण्यतः ।

संसाराम्बुधितारणे कृतमतिः कृत्वा प्रयत्नं वशी
श्रद्धाख्याशिवभक्तिसेतुमसकृत् संश्रित्य निश्चिन्तधीः ।।२१।।

गुर्वाद्युपास्यममलं त्रिविधं विनम्रः यः पूजयेदनुदिनं विविधोपचारैः ।
प्रत्यक्षरूपमिति भावनया प्रसन्नः सद्भक्त एष गदितः सुधियां वरेण्यैः ।।२२।।

शैवागमोक्तिरियमत्र प्रमाणभूता–

गुरौ च जङ्गमे लिङ्गे तारतम्यविशेषतः ।
पूजयेत् त्रिविधं रूपं तद्भक्तस्थलमुच्यते ।।

(पारमेश्वरागम, VI-९)

सद्योजातमुखात्मकेऽप्यनुदिनं ह्याचारलिङ्गे स्वयं
श्रद्धाभक्तिसमन्वितः शुचितनुश्चित्ताख्यहस्तान्वितः ।
गन्धं घ्राणपरीक्षितं परशिवप्रीतिप्रदं योऽर्पयेत्
भक्तानामयमग्रणीस्त्रिभुवनालङ्कारभूतो यतः ।।२३।।

तदेतल्लक्षणं तन्त्रे कारणाख्ये निरूपितम्–

भक्तस्थले क्रियाशक्तियुते वै नासिकाङ्कके ।
आचारलिङ्गसंज्ञेऽस्मिन् सद्योजातमुखात्मके ।
गन्धप्रसादं सद्भक्त्या चित्तहस्तेन चार्पयेत् ।।

(क्रियापादे VII-६०)

भक्तलक्षणसंक्षेपः श्रीसिद्धान्तशिखामणौ–

भूतिरुद्राक्षसंयुक्तो लिङ्गधारी सदा शुचिः ।
पञ्चाक्षरजपोद्योगी शिवभक्त इति स्मृतः ।।

(IX-१)

२. माहेश्वरस्थलस्वरूपम्

श्रद्धाभक्तिदृढीभावान्निष्ठापरिणतिर्यदा ।
ततोऽन्यदैव वैमुख्याद् भक्तो माहेश्वरस्तदा ।।२४।।

सूक्ष्मागमपरिज्ञानादेतत्स्फुटतरं भवेत्–

पूजामन्यां परित्यज्य गुरुलिङ्गैकपूजकः ।
इति निष्ठापरो यस्तु गुरुपूजक उच्यते ।।

(सूक्ष्मागम, उत्तरभाग, VIII-४७)

तत्रैव प्रोक्तः–

तच्चित्तममलं यस्य स वै माहेश्वरः स्मृतः ।

(VIII-३४)

अयमेवाशयः व्यक्तः श्रीसिद्धान्तशिखामणौ–

ब्रह्मादिसम्पत्सु विरक्तचित्तो भक्तो हि माहेश्वरतां प्रयाति ।

(IX-९४)

भक्तेर्यदा समुत्कर्षो भवेद् वैराग्यगौरवात् ।
तदा माहेश्वरः प्रोक्तो भक्तः स्थिरविवेकवान् ।।

(X-३)

लिङ्गनिष्ठापरो जङ्गमाराधने दत्तचित्तो गुरुप्रोक्तरीत्या मुदा ।
मुक्तिकामोऽन्यकामाद्विरक्तः सुधी एष माहेश्वरो लोकमान्यः सदा ।। २५ ।।

शैवतन्त्रोक्तमेतत्तु लोकादृतम्–

यो गुरूक्तेन मार्गेण लिङ्गपूजारतः सदा ।
जङ्गमानर्चयेत् शक्त्या स हि माहेश्वरः स्मृतः ।।

(पारमेश्वरागमः, (V-१३)

भक्तस्थलप्राप्तशिवानुभावाद् विकल्पदूरः परिशुद्धचित्तः ।
गुर्वाख्यलिङ्गार्चनतत्परोऽसौ माहेश्वरो मान्यतरो हि नित्यम् ।। २६ ।।
वामदेवाख्यवक्त्रात्मके सर्वदा ज्ञानशक्तिप्रभावे च निष्ठामयः ।
यो गुरूपाधिलिङ्गे रुचिं जिह्वया बुद्धिहस्तेन दत्ते स माहेश्वरः ।। २७ ।।

कारणागमसूक्त्या तु स्थलमेतन्निरूपितम्–

माहेश्वरस्थले ज्ञानशक्तिके रसनाङ्गके
गुरुलिङ्गाभिधे वामदेववक्त्रे विशेषतः ।
बुद्धिहस्तेन तु रुचिं निष्ठाभक्त्या समर्पयेत् ।।

(VII-६१)

प्रशंसापूर्वकं प्राह वीरमाहेश्वस्थलम् ।
सविस्तारं शिवाचार्यः श्रीसिद्धान्तशिखामणौ ।। २८ ।।

(X, ९-२०)

३. प्रसादिस्थलस्वरूपम्

यस्य चित्तं स्थिरं लिङ्गपूजारतं सर्वमेतज्जगज्जीवभोगास्पदम् ।
सुप्रसादं शिवस्येति यो भावयेत् स प्रसादिस्थले सावधानान्वितः ।।२९।।

सूक्ष्मतन्त्रे समासेन लक्षणं सुमुदीरितम्–

चित्तं स्थिरं भवेद् यस्य स प्रसादी भवत्यसौ ।

(VII-३४)

तत्रैव स्थलविस्तारो लभ्यते सुधियां प्रियः–

शिवलिङ्गैकभक्तः स्यादन्यभक्तिविवर्जितः ।
अनन्यदेवपूजः स्याच्छिवलिङ्गैकपूजकः ।
शिवलिङ्गप्रसादी स्यात् सुखदुःखविवर्जितः ।।

(सूक्ष्मागम, VIII-५२ & ५३)

सामान्यलक्षणं प्रोक्तं प्रसादिस्थलसंश्रितम्–

अन्यत्र शम्भोरतिमात्रशून्यः निजेष्टलिङ्गे नियतान्तरात्मा ।
शिवात्मकं विश्वमिदं विबुध्वन् माहेश्वरोऽसौ भवति प्रसादी ।।

विशेषलक्षणं प्राह श्रीसिद्धान्तशिखामणौ ।
शैवतन्त्राश्रिते ग्रन्थे शिवाचार्यशिखामणिः ।।३०।।

नैर्मल्यं मनसो लिङ्गं प्रसाद इति कथ्यते ।
शिवस्य लिङ्गरूपस्य प्रसादादेव सिद्ध्यति ।।

शिवप्रसादं यद्द्रव्यं शिवाय विनिवेदितम् ।
निर्माल्यं तत्तु शैवानां मनोनैर्मल्यकारणम् ।।

मनःप्रसादसिद्ध्यर्थं निर्मलज्ञानकारणम् ।
शिवप्रसादं स्वीकुर्वन् प्रसादीत्येष कथ्यते ।।

(सिद्धान्तशिखामणि, XI, ६-८)

इच्छाशक्तियुतेऽप्यघोरमुखजे श्रीशम्भुलिङ्गे मुदा ।
स्वाहङ्कारकरेण रूपविषयं नेत्रेन्द्रियेण स्वयम् ।।

भक्तोऽसाववधानभक्तिभरितो यच्चार्पयेन्निर्भयः ।
स्वीकुर्वन् गिरिशप्रसादममलं प्रोक्तः प्रसादी तदा ।।३१।।

कारणाख्ये महातन्त्रे क्रियापादे निरूपितम्–

स्थले प्रसादिसंज्ञेऽस्मिन् इच्छाशक्तिसमन्विते ।
दृगङ्गकेऽघोरमुखे शिवलिङ्गाभिधे पुनः ।।
भक्त्यावधानया रूपमहङ्कारेण चार्पयेत् ।

(VII-२५ & २६)

ईशावास्यमिदं सर्वमित्याद्युपनिषद्वचः ।
प्रसादिस्थलनिर्देशं परोक्षं कुरुते तथा ।।३२।।

४. प्राणलिङ्गिस्वरूपम्

बहिरङ्गोपचारेषु साधनं प्रथमं त्रयम् ।
स्थलानामन्तरङ्गोपचारेषु त्रयमन्तिमम् ।।३३।।

प्रथमे द्वैतभावोऽस्ति द्वितीयेऽद्वैतभावना ।
लिङ्गाङ्गसामरस्येन मुक्तिर्येनाभिकाङ्क्षिता ।।३४।।

प्राधान्यं कर्मयोगस्य स्थलानां प्रथमे त्रये ।
ज्ञानयोगप्रभावोऽस्ति द्वितीये च स्थलत्रये ।।३५।।

अद्वैतोपासनामार्गः प्राणलिङ्गिस्थलोदयः ।
लिङ्गं प्राणमयं यत्र प्राणो लिङ्गमयस्तथा ।।३६।।

पारमेशाख्यतन्त्रेऽपि प्राणलिङ्गिस्थलस्थितिः–

यथा प्राणे तथा लिङ्गे यथा लिङ्गे तथा शिवे ।
प्राणलिङ्गशिवेष्वेकबुद्धिमान् प्राणलिङ्गकः ।।

(VI-२०)

शम्भौ लोकनियामके पशुपतौ साधूपकारक्षमे
लिङ्गे स्वाङ्गविभूषिते गुरुकृपाप्राप्ते च लोकाधिके ।
प्राणे जीवनसूचके च नितरां सञ्चारशीलेऽसमे
भेदज्ञानमपास्य निश्चितमतिर्लिङ्गस्वरूपायते ।।३७।।

लिङ्गाकारं भुवनविदितं पार्वतीप्राणनाथं
प्राणाख्यं वै वपुषि निहितं चान्तरं लिङ्गमेतत् ।
शम्भोः सृष्टेर्निखिलजगतः कारणं चाष्टमूर्तिं
हित्वा भेदं त्रिविधविषये पूजयन् प्राणलिङ्गी ।।३८।।

भक्त्या स्वानुभवाख्यया परिगतश्चित्ताख्यहस्तेन यः
शम्भोस्तत्पुरुषाख्यवक्त्रसहिते लिङ्गे चराख्ये ततः ।
स्पर्शं चादिसमाख्यया परिगते शक्त्यार्पयेद् गौरवात्
स्वीकुर्वन् हृदि तोषमेति परमं नैर्मल्यमत्यद्भुतम् ।।३९।।

प्राणलिङ्गिस्थलस्योक्तं लक्षणं शिवयोगिना ।
शिवाचार्याभिधानेन श्रीसिद्धान्तशिखामणौ ।।४०।।

लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्तिः प्राणरूपिणी ।
तद्रूपलिङ्गविज्ञानी प्राणलिङ्गीति कथ्यते ।।

(XII-३)

प्राणलिङ्गार्चनं तत्र वर्णितं शिवयोगिना–

क्षमाभिषेकसलिलं विवेको वस्त्रमुच्यते ।
सत्यमाभरणं प्रोक्तं वैराग्यं पुष्पमालिका ।।

गन्धः समाधिसम्पत्तिरक्षता निरहङ्कृतिः ।
श्रद्धा धूपो महाज्ञानं जगद्भासि प्रदीपिका ।।

भ्रान्तिमूलप्रपञ्चस्य नैवेद्यं तन्निवेदनम् ।
मौनं घण्टापरिष्पन्दस्ताम्बूलं विषयार्पणम् ।।

विषयभ्रान्तिराहित्यं तत्प्रदक्षिणकल्पना ।
बुद्धेस्तदात्मिका रिक्तर्नमस्कारक्रिया मता ।।

एवं विधैर्भावशुद्धैरुपचारैरदूषितैः ।
प्रत्युन्मुखमना भूत्वा पूजयेल्लिङ्गमान्तरम् ।।

(१६-२०)

५. शरणस्थलस्वरूपम्

लिङ्गाङ्गभेदेऽपि समानशीलादभेदबुद्धी रमते शिवेन ।
सतीव रागातिशयप्रसन्ना सानन्दभक्त्या शरणस्थलं स्यात् ।।४१।।

शिवयोगिवचोऽप्येतद् दृढीकुरुते यथा–

सतीव रमणे यस्तु शिवे भक्तिं विभावयन् ।
तदन्यविमुखास्योऽयं ज्ञातः शरणनामवान् ।।

परिज्ञाते शिवे साक्षात् को वान्यमाभिकाङ्क्षति ।
निधाने महति प्राप्ते कः काचं याचतेऽन्यतः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि, XII-५ & ६)

शिवागमेऽपि सूक्ष्माख्ये लक्षणं समुदाहृतम्–

लिङ्गं पतिः सती चाहं भावोऽयं वीरशैविनाम् ।

(VII-५२)

स्मरन् शरणनामासौ विस्मरन्मानवः स्मृतः ।
वचने बसवेशस्य सहजं स्थललक्षणम् ।।४२।।

पारमेश्वरतन्त्रेऽस्य लक्षणं समुदाहृतम्–

ईषणत्रयनिर्मुक्तो नित्यमेकान्तसेवनः ।
मम ध्यानरतो नित्यं शरणः परिकीर्तितः ।।

(VI-२३)

विचिन्तयन्ती पतिसङ्गसांख्यं स्मरेन्न किञ्चिद्विवशा सतीव ।
शिवं हृदिस्थं ह्यतुलप्रभावं नान्यस्मृतिर्या शरणस्वभावः ।।४२।।

यथैकान्ते पतेः तुष्ट्यै सतीचेष्टाः पृथग्यथा ।
शिवप्रीत्यै क्रियाः सर्वास्तथा शरणकल्पिताः ।।४३।।

तदेतत्सर्वमाख्यातं शिवतन्त्रे सविस्तरम्–

लिङ्गभक्तिर्लिङ्गपूजा लिङ्गसेवा तथा शिवे ।
लिङ्गध्यानं लिङ्गमनो लिङ्गचर्यापरौ करौ ।।

लिङ्गश्रुतिपरे श्रोत्रे लिङ्गार्पितरसादयः ।
लिङ्गनिर्माल्यसुरभिलाभो घ्राणस्य पार्वति ।।

लिङ्गालङ्कारसन्दर्शनासक्ते लोचनेऽपि च ।
लिङ्गप्रदक्षिणपरौ पादौ च गिरिसम्भवे ।।

लिङ्गस्य पुरतो नित्यं तदर्थं चाङ्गचेष्टनम् ।
लिङ्गार्थं वस्तुसर्वस्वं लिङ्गनिष्ठेति गीयते ।।

(सूक्षागमे-VII, ४८-५१)

शक्त्या संवलिते परात्परतरे लिङ्गे प्रसादाभिधे
ईशानास्ययुते पराभिधानयुतया चानन्दभक्त्यान्वितः ।

सुज्ञानाख्यकरेण सर्वविषयं शब्दाभिधं चार्पयन्
शम्भावात्मरतिः सदा शरण इत्याख्याप्रसिद्धो नरः ।।४४।।

कारणाख्यागमप्रोक्तं शरणस्थललक्षणम्–

शरणस्थले तु परया शक्त्यायुते श्रवणाङ्गके ।
प्रसादलिङ्गे त्वीशानमुखे शब्दप्रसादकम् ।।
आनन्दभक्त्या सुज्ञानहस्तेनैव समर्पयेत् ।

(VIII-६४ & ६५)

शिवशक्तिसमायोगो यथा नैसर्गिको भवेत् ।
अविनाभावसम्बधात् तथा लिङ्गाङ्गयोरपि ।।४५।।

मायाविकल्पजनितं शिवजीवभेदं
ज्ञानप्रभावशिथिलीकृतमात्मबोधः ।
भ्रान्तिं विहाय सहजां सततं स्मितास्यः
ऐक्यस्थलस्थितिरियं शिवसामरस्यः ।।४६।।

लौकिकाचारवर्गं मुदा सन्त्यजन्
लिङ्गलीलाविलासः शिवानन्दभाक् ।
प्राकृतं तच्छरीरं सदा धारयन्
मोदते मान्यते शम्भुलिङ्गैक्यभाक् ।।४७।।

तत्स्थलस्य स्वरूपं तथैवागमे–

शिवजीवोभयभ्रान्तिरहितश्चैक्य उच्यते ।

(सूक्षागम, VIII-३५)

यथा द्विरेफस्य भियापि कीटो द्विरेफतां याति विचिन्तयन्तम् ।
तथैव लिङ्गस्मरणैकपूतः शिवत्वमाप्नोति तदङ्गभूतः ।।४८।।

शिवागमोक्तिरेकात्र निरूपयति तत्स्थलम्–

गुरुदीक्षापरिप्राप्तशिवलिङ्गाङ्गयोगतः ।
द्विरेफकीटन्यायेन शिवैक्यं प्राप्तवान् द्विजः ।।

(मकुटागम, VII-१३)

एतदेव पुनः प्रोक्तं शैवतन्त्रे शिवोदिते–

त्यक्तलोकसमाचारो लिङ्गनिष्ठैकमानसः ।

स महालिङ्गमोही स्यादन्यमोहविवर्जितः ।।
(सूक्ष्मागम, VIII-६९)

पूज्यपूजकताभावे नैव पूजाक्रमो भवेत् ।
तदेव लक्षणं भूयः शैवतन्त्रे निरूपितम् ।।४९।।

न पूजा नैव च ध्यानं न योगकरणादिकम् ।
अहन्ताभावनाधीरं शिवलिङ्गैकसंज्ञकः ।।
(पारमेश्वरागमः, VI-२६)

चिच्छक्त्या समलङ्कृते परशिवास्ये वै महालिङ्गके
भक्तिर्यस्य च सामरस्यजननी युक्तस्तया साधकः ।
स्वाङ्गे मानसनामकेऽपि विमले सद्भावहस्तेन यः
सङ्कल्पं विषयं समर्प्य विरतः सन्तोषमेत्यैक्यवान् ।।५०।।

एतदेव समासेन शिवागमनिरूपितम्–

ऐक्यस्थले तु चिच्छक्तियुते वै मानसाङ्गके ।
महालिङ्गे परशिवमुखे सङ्कल्पं च समर्पयेत् ।।
सद्भावाभिख्यहस्तेन भक्त्या समरसाख्यया ।
(कारणागम, ६५ & ६६)

यथा काव्ये मुहुर्युक्तो ह्यसंलक्ष्यक्रमध्वनिः ।
अभेदभावनायुक्ते शिवजीवपृथङ्मतिः ।।५१।।

आदेहपतनाद् दृश्या जीवन्मुक्तेरियं स्थितिः ।
देहावसानकाले तु सहजा मुक्तिरुच्यते ।।५२।।

उपसंहारः

शक्त्या षड्विधया समेतममलं षड्लिङ्गरूपं हरं
यो वाङ्गस्थलसंश्रितः स्थिरमतिर्भक्तिप्रभेदान्वितः ।
वीरः षट्स्थलमार्गवर्तनपरः सन्तर्पयत्यादरात्
जीवन्मुक्तिमवाप्य नन्दति नरः शम्भुप्रसादोदयात् ।।५३।।

सन्दर्भ-ग्रन्थः

१. मयान्यत्समयप्रोक्तं वाक्यमेकमुदाहृतम्-
निगमागमनेत्राभ्यां सर्वदर्शनदर्शनम् ।
एतद्द्वयपरिज्ञानमवश्यमिति मे मतिः ॥
(Veerashaivisim in Saivagama, KUD 2002)

२. बसवप्रमुखैः भक्तैः मतोद्धारसुविश्रुतैः ।

३. ममैव शैवागमेषु वीरशैवमतम् श्लोक २९ ।

४. प्राणभावाख्यलिङ्गद्वयम् ।

५. स्मर्तव्यात्रागमोक्तिः-
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि स्थलषट्कस्य लक्षणम् ।
यज्ज्ञात्वा जायते सद्यः शिव एव न संशयः ॥ (पारमेश्वरागमः, VI-२)

६. मायिदेवप्रभुप्रोक्तं शिवानुभवसूत्रके-
पञ्चमः पुरुषार्थो हि भक्तिः शैवी सनातनी ॥ (VIII-७८)

७. दृढीभूता श्रद्धैव निष्टावधानानुभवानन्दसमरसाभिधानं धत्ते ।

८. इष्टलिङ्गं द्विधा–आचारलिङ्गं गुरुलिङ्गं च ।
प्राणलिङ्गं द्विधा–शिवलिङ्गं चरलिङ्गं च ।
भावलिङ्गं द्विधा–प्रसादलिङ्गं महालिङ्गं च ।
एवं लिङ्गस्थलं प्रोक्तं षड्विधं साधकोत्तमैः ।

✶

शैवागम में वीरशैवधर्म एवं दर्शन-सारांश

डॉ. रामनारायण पण्डित
साहित्य विभागाध्यक्ष
राजकीय संस्कृत कॉलेज, राँची

जानन्त्यतिशयाद् ये तु शिवं विश्वं प्रकाशकम्।
काश्यां जङ्गमरूपं तं गुरुं भारतीं वन्दे।।

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम्।
कपालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि।।

वीरशैवशब्दस्य निर्वचनम्

वीरशैवशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः।।

वीशब्दो वा विकल्पार्थो रशब्दो रहितार्थकः।
विकल्परहितं शैवं वीरशैवं विदुर्बुधाः।।

वीगतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु

वीगत्यर्थकाः, ये गत्यर्थकास्ते ज्ञानार्थकाः।
अर्थात् वी = ज्ञानं वा विद्या, र = रमणम्।

अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि-
प्रवृत्तिनिमित्तम् तस्माद् वीरश्चासौ-
शैवश्च वीरशैवः, शिवजीवयोरभेदबोधन-
कारिका विद्यायां रमन्ते ये वीराः ते शिव-
भावापन्नाः शिवभक्ताः वीरशैवा इत्युच्यन्ते।।

प्राणवद्धारणीयं तत्प्राणलिङ्गमिदं तव।
कदाचित् कुत्रचिद्वापि न वियोजय देहतः।।

इष्टलिङ्गं वियोगे वा व्रतानां वा परिच्युतौ।
तृणवत् प्राणसन्त्याग इति वीरव्रतं मतम्।।

भक्त्युत्साहविशेषोऽपि वीरत्वमिति कथ्यते ।
वीरव्रतसमायोगाद् वीरशैवं प्रकीर्तितम् ।।

वीरशैवदर्शनम्

वीरशैवदर्शने त्रिधा सिद्धान्तः

१. विशेषाद्वैतं, २. शिवाद्वैतं तथा च ३. शक्तिविशिष्टाद्वैतम् ।

१. विशेषाद्वैतम्–विश्च शेषश्च विशेषौ ईशजीवौ, तयोरद्वैतं विशेषाद्वैतम् ।

२. शिवाद्वैतम्–शिवश्च शिवश्च शिवौ, तयोरद्वैतं शिवाद्वैतम् ।

३. शक्तिविशिष्टाद्वैतम्–शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ शक्तिविशिष्टौ शिवजीवौ, तयोरद्वैतशक्तिः विशिष्टाद्वैतम् ।

वीरशैवस्य प्रभेदः

सामान्यं प्रथमं प्रोक्तं विशेषं च द्वितीयकम् ।
निराभारं तृतीयं च क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।।

१. सामान्यनियमान् यः परिपालयति सः सामान्यवीरशैवः ।

२. विशिष्टधर्मानुष्ठानाद्विशेष इति कथ्यते ।

३. निवृत्तकर्मभारत्वान्निराभार इति स्मृतिः ।

वीरशैवदर्शने शिवजीवशक्तय इति त्रयः पदार्थाः

शिवः–**यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः ।**
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः ।।

शक्तिः–**तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।।**

शिवशक्त्योः सम्बन्धः

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।
पुष्पगन्धवदन्योन्यं मारुताम्बरयोरिव ।।

शक्तेः भेदः

षड्धा शक्तयः यथा–

चिद्परादि इच्छाज्ञानक्रियाः शक्तयः ।

जीवः

अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवः ।

जीवस्य षड्विधभक्तिश्च षट्स्थलानि

भक्तमाहेश्वरप्रसादीप्राणलिङ्गीशरणैक्यानि
श्रद्धानिष्ठानुभवाधानानन्दसमरसानि ।

वीरशैवधर्मस्याष्टावरणम्

गुरुर्लिङ्गजङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।।
इमानि शिवभक्तानां भवदोषततेः सदा ।
निरावरणैककार्याणि ख्यातान्यावरणाख्यया ।।

पञ्चाचारः

१.लिङ्गाचारः २. सदाचारः ३. शिवाचारः ४. गणाचारः ५. भृत्याचारश्चेति ।

वीरशैवधर्म-दर्शनस्य संस्थापकाचार्याः

१. श्रीरेवणाराध्यः २. श्रीमरुलाराध्यः ३. श्रीएकोगमाराध्यः ४. श्रीपण्डिताराध्यः ५. श्रीविश्वाराध्यश्च ।

कृतत्रेताद्वापरकलियुगे पञ्चाचार्या एव भिन्न-भिन्न-
नाम्ना प्रसिद्धाः सन्ति । कालान्तरे विविधलिङ्गेभ्यः
अवतीर्णं भूत्वा वीरशैवधर्म-दर्शनस्य भक्तानां च वा
समस्तप्राणिनां सर्वतोभावेन रक्षा क्रियते पञ्चाचार्यैः ।

'सप्तकोटिषु मन्त्रेषु मन्त्रः पञ्चाक्षरो महान् ।'

'नमः शिवाय'

।। इति शम् ।।

शैवागम में वीरशैवधर्म-दर्शन

जानन्त्यतिशयाद् ये तु शिवं विश्वं प्रकाशकम् ।
काश्यां जङ्गमरूपं तं गुरुं भारतीं वन्दे ।।

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम् ।
कपालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि ।।

(पारमेश्वरागम)

वीरशैवशब्दस्य निर्वचनम्

वी शब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः ।।

वीशब्दो वा विकल्पार्थो रशब्दो रहितार्थकः ।
विकल्परहितं शैवं वीरशैवं प्रचक्षते ।।

विरोधार्थो वीशब्दः स्याद् रशब्दो रहितार्थकः ।
विरोधरहितं शैवं वीरशैवं विदुर्बुधाः ।।

'वी' गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु'
'वी गत्यर्थकाः, ये गत्यर्थकास्ते ज्ञानार्थकाः भवन्ति ।'
'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम् ।'

अर्थात् वी = ज्ञानं वा विद्या, र = रमणम्, शिवजीवयोरभेदबोधनकारिका विद्यायां रमन्ते ये ते वीरशैवा इत्युच्यते, वीरश्चासौ शैवश्च वीरशैवः ।

वीरत्वमस्य न धनेन न वा बलेन ।
नोकार्यस्तुरीय इति शङ्करभाषणेन ।।

(वीरधर्म शि. १-६)

श्रीवीरशैवमतगान्न परोऽस्ति कश्चित् ।।

विशिष्ट ईर्यते यस्माद् वीर इत्यभिधीयते ।
शिवेन सह सम्बन्धः शैवमित्यद्भुतं बुधैः ।।
उभयोः सम्पुटीभावाद् वीरशैवमिति स्मृतम् ।
शिवायार्पितजीवत्वाद् वीरतन्त्रसमुद्भवात् ।।
वीरशैवसमायोगाद् वीरशैवमिति स्मृतम् ।।

(वा.शु.त. १०-२७-२९)

यो हस्तपीठे निजमिष्टलिङ्गं विन्यस्ततल्लीनमनःप्रचारः ।
बाह्यक्रियासंकुलनिस्पृहात्मा सम्पूजयत्यङ्ग स वीरशैवः ।।

(स्कन्दपुराण शङ्करसंहिता)

प्राणवद्धारणीयं तत्प्राणलिङ्गमिदं तव ।
कदाचिद् कुत्रचिद्वापि न वियोजय देहतः ।।

इष्टलिङ्गवियोगे वा व्रतानां वा परिच्युतौ ।
तृणवत् प्राणसन्त्याग इति वीरव्रतं मतम् ।।
भक्त्युत्साहविशेषोऽपि वीरत्वमिति कथ्यते ।
वीरव्रतसमायोगाद् वीरशैवं प्रकीर्तितम् ।।

लिङ्गायतः

वीरशैवशब्दस्य पर्यायः ।

लिङ्गमायतिर्यस्य स लिङ्गायतः, उत्तरकाल आयतिः ।

जिसके जीवन का उत्तरकाल लिङ्ग ही है, वह लिङ्गायत कहलाता है। उत्तरकाल यानि कि अधिकतर आयु लिङ्ग, पूजा, ध्यान आदि में यापित होता है, वही लिङ्गायत है।

शैलादेन महाभागा विचित्रा लिङ्गधारकाः ।
शवस्योपरि लिङ्गं यद् ध्रियते च पुरातनैः ।।
लिङ्गेन सह पञ्चत्वं लिङ्गेन सह जीवनम् ।।

वीरशैवस्य भेदः

सामान्यं प्रथमं प्रोक्तं विशेषं च द्वितीयकम् ।
निराभारं तृतीयं च क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।।

(सू. क्रिया. ७-३०)

१. **सामान्यनियमान् यः परिपालयति–सः सामान्यवीरशैवः ।**

इष्टलिङ्ग की पूजा, गुरु और जङ्गम की सेवा।

२. **'विशिष्टधर्मानुष्ठानाद्विशेष इति कथ्यते ।'**

पवित्र मन से–भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण और ऐक्य नामक मुक्ति के क्रमिक सोपानों के रूप में विद्यमान **षट्स्थल** तत्त्वों की गुरुमुख से विशेष जानकारी प्राप्त करने वाला **वीर विशेषशैव** कहलाता है।

३. **'निवृत्तकर्मभारत्वान्निराभार इति स्मृतः ।'**

आगमोक्त वचनानुसारेण उपर्युक्त विशेष वीरशैव ही जब अपने सर्वविध कर्त्तव्यों को पूर्ण करके कृत्यकृत्य होकर मुक्तवत् निस्पृह वृत्ति से जीवन यापन करता है, तब उसको **निराभारवीरशैव** कहा जाता है। इस प्रकार वीरशैवों के ये त्रिविध भेद साधकों के क्रमिक आध्यात्मिक विकास के परिचायक हैं।

(स्कन्दपुराण, शङ्करसंहिता)

वीर शैवदर्शन-सिद्धान्त

वीरशैव दर्शन सिद्धान्त में तीन सिद्धान्त अति प्रसिद्ध हैं–

१. विशेषाद्वैत २. शिवाद्वैत और ३. शक्तिविशिष्टाद्वैत। इन नामों में ही वीरशैवदर्शन सिद्धान्त के रहस्य छिपे हैं। व्युत्पत्ति से ही उसका यथार्थ बोध होता है। संक्षेप में व्युत्पत्ति विचार इस प्रकार कर सकते हैं–

१. **विशेषाद्वैत**–विश्च शेषश्च विशेषौ ईशजीवौ, तयोरद्वैतं विशेषाद्वैतम्। 'विश्चक्षुषि व्योम्नि वाते परमात्मनि पक्षिणि' (एकाक्षरकोश–पृ.-१८) वाति उत्पादयति जगदिति विः अर्थात् परमात्मा वा ईश्वरः।

वि = पक्षी–'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मुण्डकोपनिषद् के इस वचन से परमात्मा का पक्षी रूप में वर्णन है। अर्थात् विः = परमात्मा, शेषः = अंश रूप जीवात्मा ग्राह्य है। परमात्मा और जीवात्मा का अंशांशी भाव संबंध है। संसार दशा में अत्यन्त भिन्न स्वरूपवाले शिव–जीव की मुक्तावस्था में अभेद स्थिति के प्रतिपादक इस सिद्धान्त को विशेषाद्वैत वीरशैव सिद्धान्त कहते हैं।

२. **शिवाद्वैत**–'शिवश्च शिवश्च शिवौ, तयोरद्वैतं शिवाद्वैतम्।'

पहला शिव परमात्मा और दूसरा शिव जीवात्मा। उपास्य उपासक भाव संबंध। ये दोनों मुक्तावस्था में अद्वैत की स्थिति होने से **शिवाद्वैत** वीरशैवदर्शन सिद्धान्त कहलाता है।

३. **शक्तिविशिष्टाद्वैत**–'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ
शक्तिविशिष्टौ शिवजीवौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।'

भ्रमरकीटन्यायवत्–भ्रमर-कीट-सतत ध्यान-भ्रमर।
शिव-जीव-सतत ध्यान-शिव।

इसी शक्तिविशिष्टाद्वैत वीरशैवदर्शनसिद्धान्त को भेदाभेद या द्वैताद्वैत सिद्धान्त भी कहते हैं।

वीरशैवधर्मदर्शन के संस्थापकाचार्य–श्रीरेवणाराध्य, श्रीमरुलाराध्य, श्री-

एकोगमाराध्य, श्रीपण्डिताराध्य और श्रीविश्वाराध्य–यही पाँचों संस्थापक आचार्य माने गये हैं। ये ही पाँचों आचार्य शिव की आज्ञा से प्रत्येक युग में धर्मस्थापना के लिये विभिन्न नामों से अवतार लेते आये हैं। जैसे–**कृतयुग में**–एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर और पञ्चाक्षर आचार्य कहलाते हैं। **त्रेता में**–एकवक्त्र, द्विवक्त्र, त्रिवक्त्र, चतुर्वक्त्र और पञ्चवक्त्राचार्य शिवाचार्य नामों से जाने जाते हैं। **द्वापर में**–रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण, रेवणाराध्य, विश्वकर्ण शिवाचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं। **कलि में**–ये ही आचार्य रेवणाराध्य, मरुलाराध्य, एकोगमाराध्य, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य शिवाचार्यों के नामों से जाने जाते हैं।

ये ही पाँच आचार्य **कुल्यपाक** के **श्रीसोमेश्वरलिङ्ग, वट** क्षेत्र के **श्रीसिद्धेश्वर लिङ्ग, द्राक्षाराम** के **श्रीरामनाथलिङ्ग** श्रीशैल के **श्रीमल्लिकार्जुनलिङ्ग** और **काशी क्षेत्र** के **श्रीविश्वेश्वरलिङ्ग** से अवतरित होकर वीरशैवधर्मदर्शन की रक्षा करते हैं। इन सभी का कालादिनिर्णय से लेकर गोत्र, मूल, वंश, शिष्य-परम्पराओं का लम्बा इतिहास है, जो द्रष्टव्य, श्लाघनीय, मानव समाज के लिये अनुकरणीय है।

'वीरशैवदर्शने शिवजीवशक्तय इति त्रयः पदार्थाः'

१. शिवः–

यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः ।
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः ।।

(अनु.सू. २-४)

लयगत्यर्थयोर्हेतुभूतत्वात् सर्वदेहिनाम् ।
लिङ्गमित्युच्यते साक्षाच्छिवः सकलनिष्कलः ।।

(अनु.सू. ३-४)

वीरशैव सिद्धान्त में **परशिव** को **स्थल** अथवा **लिङ्ग** शब्द से अभिहित किया गया है। सृष्टि से पूर्व यह विश्व परशिव में स्थित है और प्रलयकाल में उसी में उसका विलय हो जाता है। अतएव उसे स्थल या लिङ्ग कहा गया है। सगुण और निर्गुण होने के कारण शिव को निष्कल भी कहते हैं। शिव अपनी शक्ति के संकोच से निर्गुण और शक्ति के विकास से सगुण हो जाता है। जगत्सृष्टि के समय शिव की शक्ति अनेक रूपों में विकसित हो जाती है, अत: शक्तिविशिष्ट शिव सगुण कहलाता है। संहार के समय शिव की शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं, तब वे निर्गुण कहलाते हैं। इस प्रकार वीरशैव सिद्धान्त में शक्ति के विकास से सृष्टि और उसके संकोच से प्रपञ्च का संहार होता है। शिव की बाह्यशक्ति शिव में अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है।

शक्तिः—

'तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा' (सि.सि. २-१२)

अर्थात् सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार वह शक्ति सच्चिदानन्दरूपिणी है, जो शिव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसे ही माया कहते हैं। यहाँ **माया** का अर्थ मिथ्या नहीं, अपितु मं शिवम् अयति स्वभावतः प्राप्नोतीति माया—इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव में स्वाभाविक रूप से रहने वाली शक्ति माया है।

शिवशक्त्योः सम्बन्धः

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।
पुष्पगन्धवदन्योन्यं मारुताम्बरयोरिव ।।

(वीरशैवनन्दचन्द्रिका पृ. ७)

शिव और शक्ति के सम्बन्ध को कुछ लोग **समवाय** और कुछ लोग **तादाम्य** मानते हैं, परन्तु वीरशैवसिद्धान्त में उन दोनों में **अविनाभाव** सम्बन्ध माना गया है। जैसे—सूर्य में प्रभा, अग्नि में दाहकता, शर्करा में मिठास आदि। इसे ही शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध को **नित्य** सम्बन्ध भी कहते हैं।

शक्तेः भेदः

परशिव की वह शक्ति वस्तुतः एक होने पर भी सृष्टि के समय स्व स्वातन्त्र्य बल से चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के नाम से छः प्रकार की हो जाती है। (अनु.सूत्र २-७, ३-६)

१. **चिच्छक्तिः**—सूक्ष्मकार्यकारणरूपप्रपञ्चस्य उपादानकारणीभूता शक्तिः चिच्छक्तिः ।

(शिवाद्वैतमञ्जरी पृ. २७)

इसी को बोधरूपा **विमर्शशक्ति या परामर्शशक्ति** भी कहते हैं।

पराहन्ता समावेशपरिपूर्णविमर्शवान् ।
सर्वज्ञः सर्वगः साक्षी सर्वकर्त्ता महेश्वरः ।।

(सि.शि. २०-३१)

'सिद्धान्तशिखामणि' की इस उक्ति से विमर्शशक्ति से विशिष्ट वह परशिव सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वव्यापक सभी कर्मों का साक्षी बन जाता है। यही चिच्छक्ति शिवतत्त्व से पृथ्वीतत्त्वपर्यन्त छत्तीस तत्वों की तथा अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण बन जाती है।

२. **पराशक्तिः**—चिच्छक्ति के सहस्रांश से पराशक्ति का प्रादुर्भाव, आनन्दस्वरूप और इसे अनुग्रह शक्ति भी कहते हैं, जो योगियों पर अनुग्रह करती है।

३. **आदिशक्तिः**—पराशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न, प्रपञ्च का कारणीभूत इच्छा ज्ञान और क्रिया-शक्तियों की आदि कारण होने से इसे आदिशक्ति, इस शक्ति से युक्त परशिव प्राणियों का निग्रह करते हैं।

४. **इच्छाशक्तिः**—आदिशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों की साम्यावस्था इच्छाशक्ति होती है। इस इच्छाशक्ति से युक्त परशिव विश्वप्रपञ्च का संहार करते हैं।

५. **ज्ञानशक्तिः**—ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न, जिसके कारण शिव सर्वज्ञ कहलाते हैं। इस शक्ति के द्वारा परशिव प्रपञ्च उत्पत्ति में निमित्तकारण और उसका पालन भी करते हैं।

६. **क्रियाशक्तिः**—ज्ञानशक्ति के सहस्रांश से उत्पन्न, यह शिव की कर्तृत्व शक्ति है, जिससे शिव सर्वकर्त्ता उपादानकारण रूप में माने जाते हैं।

यह परशिव की एक शक्ति प्रयोजनवश छः रूप धारण करती है। यह प्रपञ्चात्मक संसार शिवशक्तिमय है अर्थात् शिवशक्ति का ही विकास है।

जीवात्मा

अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनात्मकः ।

(सि.शि. ५-३४)

इस प्रमाण के अनुसार प्रपञ्चगत सभी जीव उसी परमात्मा के अंश हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप परशिव ही अपने विनोद के लिये स्वयं ही जीव और जगत् रूप में परिणत हो जाते हैं। शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में **शिव और जीव** इन दोनों में न **भेद** न **अभेद,** किन्तु **भेदाभेद** अर्थात् बद्धावस्था में शिव और जीव में भेद और मुक्तावस्था में अभेद मान्य है। शिव की यही शक्ति संकुचित होकर जीवात्मा में भक्ति के रूप में प्रवेश करती है, फिर वही संकुचित शक्ति भक्तिरूपा जीवात्मा को परशिव के साथ समरस कर देती है। भक्ति से युक्त भक्त भगवान् अर्थात् शिव बन जाता है।

जीवात्मा की षड्विध भक्ति और षट्स्थल

परशिव की वह शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में आश्रित होकर जीव के जीवभाव को हटाकर शिवस्वरूप को प्राप्त कराने में उसकी सहायक बनती है। जिस प्रकार छः रसों से युक्त होकर **षड्रस** स्वरूप बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति भी जीवात्मा के

भक्त, महेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और **ऐक्य** नामक षड्विध आध्यात्मिक प्रगति की छः अवस्थाएँ षट्स्थल में क्रमशः **श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द** और **समरस** भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार चिच्छक्तिविशिष्ट शिव को **शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त** कहते हैं। जल में जल, अग्नि में अग्नि की समरसता जैसे भक्ति की अन्तिम ऐक्यावस्था होती है, जो जीवात्मा के लिये मुक्तिमार्ग का अन्तिम सोपान समरसता रूप है।

वीरशैवधर्म–वीरशैवधर्म के साधनमार्ग में प्रवृत्त प्रत्येक साधक के लिये **अष्टावरण** और **पञ्चाचार** मुक्तिमार्ग के सहकारी साधन माने गये हैं।

अष्टावरण–'आव्रियते देहादिकं येन तद् आवरणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ढकना, छिपाना, धरना आदि अर्थ होते हैं। आवरण के दो प्रयोजन हैं–

१. किसी वस्तु का वास्तविक ज्ञान न होने देना।

२. सभी प्रकार की विनाशकारी शक्तियों से रक्षा करना।

इस प्रकार **आवरण** शब्द से स्वरूप का **आच्छादन** और **रक्षा कवच** ये दो अर्थ सिद्ध होते हैं। वेदान्त में **आवरण** को स्वरूप आच्छादन और वीरशैवधर्मदर्शन में **रक्षा कवच** अर्थ लिया गया है।

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ॥
इमानि शिवभक्तानां भवदोषततेः सदा।
निवारणैककार्याणि ख्यातान्यावरणाख्यया ॥

(चन्द्रज्ञानक्रियागम–२,१-२)

इस प्रकार १. गुरु २.लिङ्ग ३. जङ्गम ४. पादोदक ५. विभूति ६. प्रसाद ७. रुद्राक्ष और ८. मन्त्र–इन आठों को अष्टावरण की संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार योद्धा शत्रुओं के शस्त्रप्रहार से अपने शरीर की रक्षा के लिये कवच धारण करता है, उसी प्रकार दीक्षाप्राप्त भक्त का काम, क्रोध आदि दुष्ट वृत्तियों से सुरक्षा इन आठों से होती है। अतः इसे अष्टावरण कहते हैं। ये आठों मोक्षप्राप्ति में सहायक हैं। इनमें **गुरु, लिङ्ग, जङ्गम** तीन पूजनीय हैं। **विभूति, रुद्राक्ष** और **मन्त्र** पूजा के साधन हैं। पादोदक और प्रसाद ये दोनों पूजा के फल हैं। ये आठों साधक की किस तरह रक्षा करते हैं–विचारणीय है। वीरशैवधर्म का रहस्य इसी में छिपा है। 'अष्टावरण–विज्ञान' में इसकी विराट–व्याख्या द्रष्टव्य है।

पञ्चाचार–साधक का दूसरा सहकारी साधन पञ्चाचार है।

१. लिङ्गाचार २. सदाचार ३. शिवाचार ४. गणाचार और ५. भृत्याचार। इन पाँच

प्रकार के आचारों को पञ्चाचार कहते हैं। शास्त्रविहित कर्मों का पालन करना ही आचार है। आचार अनेक होने पर भी वीरशैवधर्म में पञ्चाचारों का ही प्रतिपादन है। यही पञ्चाचार साधकों को दुर्मार्ग से रोकता है, अन्तःकरण को शुद्ध करता है। इसलिये प्रत्येक वीरशैव को पञ्चाचार का पालन अनिवार्य है। पञ्चाचार की भी विशद व्याख्या **चन्द्रज्ञान क्रियागम** एवं अन्य शास्त्रों में विशद् रूप से वर्णित है, जो द्रष्टव्य है।

इस प्रकार वीरशैव साधक अष्टावरण से युक्त, पञ्चाचारों का निष्ठापूर्वक परिपालन करता हुआ, षड्विध भक्ति के माध्यम से क्रमशः षट्स्थलों पर आरोहण करता हुआ, **अन्तिम ऐक्य** स्थल में–परशिव के साथ समरस हो जाता है। इस समरस स्थिति को वीरशैव आचार्यों ने **लिङ्गाङ्ग-सामरस्य** कहा है। यही वीरशैव–दर्शन प्रतिपादित कैवल्य स्थिति है।

इस साधना के द्वारा प्रतिपादित साधना–मार्ग में गुरुदीक्षा प्राप्त मानवमात्र अधिकारी है। मानव समाज के कल्याण के उद्देश्य से प्रतिपादित यह सिद्धान्त पूरे मानव समाज के लिये एक श्रेष्ठ वरदान है।

'सप्तकोटिषु मन्त्रेषु मन्त्रः पञ्चाक्षरो महान् ।'

॥ नमः शिवाय ॥

*

शिवागमों में वीरशैव धर्म एवं दर्शन

पं. शिवाप्पा खके (निवृत्त मुख्याध्यापक)
जिला परिषद हाईस्कूल, चारठाणा
तालुका जिंतूर, जि. परभणी, महाराष्ट्र

दर्शनशास्त्र और उसके स्रोत

मनुष्य सर्वदा सुख की खोज में रहता है। दुःखनिवृत्ति तथा सुखप्राप्ति उसका लक्ष्य रहता है। सबसे अधिक दुःख जन्म-मृत्यु का होता है। चौरासी लक्ष योनियों में भटकता हुआ जीव मनुष्य योनि में आता है, तो उसे इस दुःख से मुक्ति प्राप्त करने की सम्भावना इस योनि में ही है, यह शास्त्रवचन सुनने में आता है। किन्तु यह मोक्ष कैसे प्राप्त होगा, यह प्रश्न उसके सामने अनुत्तरित रह जाता है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मुण्डनेन' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** आदि श्रुतिशास्त्रों के वचन सुनने में आते हैं। अर्थात् इस जन्ममृत्यु के दुःख से छुटकारा केवल ज्ञानप्राप्ति से ही हो सकता है। यह जानने के पश्चात् ज्ञानप्राप्ति उसका उद्देश्य बनता है। ज्ञानप्राप्ति के लिये अनेक प्रस्थान हैं। अनेक धर्म, संप्रदाय, मत, जीवनपद्धति, कोई भी नाम हो, सबका उद्देश्य एक ही है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द प्राप्ति, इसी को मोक्ष कहते हैं। यही चतुर्थ पुरुषार्थ कहा गया है। इसकी प्राप्ति का मार्ग निगम या आगम से ज्ञात होता है। भारतीय संस्कृति में ज्ञान के ये दो स्रोत कहे गये हैं। निगम शब्द की परिभाषा की गई है–'निश्चयेन तत्त्वं गमयतीति निगमः' अर्थात् निश्चित रूप से साधक को उस परमात्मतत्त्व तक जो पहुँचाये, वह निगम अर्थात् वेद है। दूसरा प्रस्थान है आगम, जिसकी परिभाषा है 'आप्तवचनादाविर्भूतमर्थविशेष-संवेदनमागमः' अर्थात् आप्त के मुख से जो विशेष ज्ञान आता है, वह आगम है। आप्त कौन है। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। 'आप्तस्तु यथार्थवक्ता' जो जैसा है, वैसा कहने वाला यथार्थवक्ता होता है। यह ज्ञान भगवान् शिव के मुख से विनिसृत होता है और गिरिजा अर्थात् पार्वती श्रवण करती हैं। जैसा कि कहा गया है–

आगतं शिववक्त्रात्तु गतं तु गिरिजामुखे।
मतं श्रीवासुदेवेन आगमस्तेन कीर्तितः।।

(भास्करी, द्वि. भागः पृ. ८५)

यहाँ वक्ता भगवान् शिव हैं। भगवान् शिवजी के ईशान मुख से अट्ठाईस शैवागमों का आविर्भाव हुआ है। वेद भी लोकोद्धार के लिये भगवान् शिवजी ने ही कहे हैं। उनके सद्योजात मुख से ऋग्वेद का, वामदेव मुख से यजुर्वेद का, अघोर मुख से सामवेद का,

तत्पुरुष मुख से अथर्ववेद का आविर्भाव हुआ है। कामिकादि वातुलान्त अट्ठाईस आगमों के नाम ये हैं–

कामिकं योगजं चिन्त्यं कारणं त्वजितं तथा ।
दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं च अंशुमत्सुप्रभेदकम् ।।
विजयं चैव निश्वासं स्वायम्भुवमथानिलम् ।
वीरं च रौरवं चैव मकुटं विमलं तथा ।।
चन्द्रज्ञानं च बिम्बं च प्रोद्गीतं ललितं तथा ।
सिद्धं सन्तानषर्वोक्तं पारमेश्वरमेव च
किरणं वातुलं चैव अष्टाविंशतिसंख्यया ।।

(क्रियासार भाग १, पृष्ठ ९)

उनके तथा वेदों के मन्तव्य में भेद नहीं है। कहा गया है कि–

यद्दृष्टं सर्ववेदेषु तत्सर्वं तु शिवागमे ।

(वीरागम)

शिवागमों में ज्ञानपाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद ये चार पाद होते हैं। निगम और आगम दोनों शिवोक्त होने से इनमें परस्पर विरुद्धभाव नहीं है। श्रीनीलकंठ शिवाचार्य अपने क्रियासार ग्रंथ में इस बात की पुष्टि करने के लिये लिखते हैं–

परस्पराविरुद्धार्थाः शिवोक्ता निगमागमाः ।
अल्पबुद्धिभिरन्योन्यं विरोधः परिकल्प्यते ।।

(क्रियासार प्रथमो भागः)

निगम और आगम दोनों मानव के पारमार्थिक कल्याण के लिये अर्थात् जन्ममरणरूप दुष्टचक्र समाप्त करने के लिये आधारस्रोत हैं। भारतीय संस्कृति दर्शनप्रधान संस्कृति है। इन वेदागमों का प्रामाण्य मानकर कई दर्शनशाखाएँ विकसित हुई हैं। कपिलमुनिप्रणीत सांख्य, पतंजलिप्रणीत योग, गौतमप्रणीत न्याय, कणादप्रणीत वैशेषिक, जैमिनीप्रणीत पूर्वमीमांसा और व्यासप्रणीत उत्तर मीमांसा ये छः महर्षियों से प्रतिपादित आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। चार्वाक, बौद्धों के चार संप्रदाय माध्यमिक, सौत्रांतिक, वैभाषिक और योगाचार तथा जैन छः दर्शन वेदप्रामाण्य नहीं मानते, अतः उन्हें नास्तिक दर्शनशास्त्र कहा जाता है। इसके अतिरिक्त आगमों का प्रधान प्रामाण्य स्वीकार करनेवाले छः आगमिक दर्शन भी हैं।

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम् ।
कापालिकमिति ज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि ।।

(पारमेश्वरागम १-२२)

दर्शनशास्त्रों की संख्या तो वैसे अनन्त कही जाती है। जैसे भगवत्पाद शंकराचार्य कहते हैं–

न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं
न जैनं मीमांसकादेर्मतं वा।

(दशश्लोकी ४)

इस वचन में 'आदि' पद आता है, जो दर्शन शास्त्रों के अनन्तत्व का सूचक लगता है। दर्शन शब्द 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वादि १०५७) इस धातु से बनता है। 'दृश्यते साक्षात्क्रियते परमतत्त्वं येन तद्दर्शनम्' इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति की जाती है। अर्थात् दर्शन तत्त्वज्ञान साधन ही है। परमसत्य को बौद्धिकस्तर पर तर्क वितर्क के साथ समझने का प्रयास दर्शन है। मानसिक स्तर पर शरीर की विविध चेष्टाओं के साथ उस तक पहुँचने की प्रक्रिया धर्म कहलाती है–श्रीसिद्धान्तशिखामणि (डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी)।

वीरशैव क्या है?

उपरोक्त दर्शन शास्त्रों में वीरशैव का भी उल्लेख है। इसके सम्बन्ध में–

वी शब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिनी।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः।।

(सिद्धान्तशिखामणि ५-१६)

अर्थात् शिव और जीव के ऐक्य का प्रतिपादन करने वाली जो विद्या है, उसमें रमण करने वाला शिवभक्त वीरशैव कहलाता है। यह वीरशैव का दार्शनिक लक्षण है। अन्यत्र इस शब्द की क्रियात्मक व्याख्या मिलती है।

लिङ्गार्पितं विना भुङ्क्ते नामृतं विषमप्यथ।
गते लिङ्गे त्यजेत्प्राणं वीरशैवः स एव हि।।

(परमरहस्य अ. ३, श्लोक २)

श्रीगुरु से प्राप्त शरीर पर धारण किये हुये इष्टलिंग को समर्पित किये बिना कुछ भी ग्रहण नहीं करता, चाहे विष हो या अमृत, उसे वीरशैव कहा जाता है। इस परिभाषा में वीरशैव के आचारविषयक दार्ढ्य का परिचय मिलता है और एक परिभाषा स्कन्द-महापुराण में आती है।

यो हस्तपीठे निजमिष्टलिङ्गं विन्यस्य तल्लीनमनःप्रसारः।
बाह्यक्रियासङ्कुलनिःस्पृहात्मा सम्पूजयत्यङ्ग स वीरशैवः।।

(स्कन्दपुराण, शंकरसंहिता)

हस्तपीठ पर लिंगाराधना करने की वीरशैवों में जो प्रथा है, उसकी यह सूचक परिभाषा है। उपलब्ध प्रमाणों से कह सकते हैं कि वीरशैव धर्म, मत, संप्रदाय सभी गुणों को स्वीकार करता है।

न वीरशैवसदृशमतमस्ति जगत्त्रये ।
सर्वभोगप्रदं पुण्यं शिवसायुज्यदायकम् ।।

(पारमेश्वरागम १-४२)

इस आगमोक्ति में यह 'मत' कहलाता है। इसके जैसा मत त्रिजगत् में नहीं है; क्योंकि यह विधि से सर्वभोगों को प्रदान करता है तथा शिवसायुज्यरूप मोक्ष भी देता है। कई वचनों में इसे धर्म कहा गया है।

धर्मस्यास्य महादेव महिमातिशयशालिनः ।

(परमरहस्य, अ. १६, श्लो. १)

इसमें तथा सिद्धान्तशिखामणि में

किमन्यैर्धर्मकलिलैः कीकशार्थप्रदायिभिः ।
साक्षान्मोक्षप्रदः शम्भो धर्मो लिङ्गार्चनात्मकः ।।

(सिद्धान्तशिखामणिः १९-२४)

इसमें लिंगार्चनात्मक वीरशैव धर्म सबसे श्रेयस्कर कहा गया है। 'सम्यक् रूपेण दीयते ज्ञानं गुरुणा शिष्येभ्यः' यह सम्प्रदाय की परिभाषा होती है। यह वीरशैव 'सम्प्रदाय' भी कहा गया है।

तत्सम्प्रदायसिद्धेन रेणुकेन महात्मना ।
गणेश्वरेण कथितमगस्त्याय पुनः क्षितौ ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १-१९)

वास्तविक वीरशैव एक आदर्श जीवनपद्धति है, जिसमें नर हर बन जाता है। वीरशैव संज्ञा के संबंध में विस्तृत जानकारी शिवागमों के उत्तर भाग में प्रतिपादित है, जैसे–

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणिः ५-१४)

कामिकादि वातुलान्त अट्ठाईस आगमों को शिवागम या शैवागम कहा जाता है। उनके उत्तर भाग में वीरशैव मत की इत्थंभूत जानकारी मिलती है।

वीरशैव के कुछ अन्य सैद्धान्तिक पर्यायवाची नाम हैं। जैसे शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, विशेषाद्वैत इन नामों से इस दर्शन के सिद्धान्त का स्वरूप संसूचित किया जाता है।

शिवाद्वैत

'शिवश्च शिवश्च शिवौ तयो: अद्वैतं शिवाद्वैतम्' इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति दी जाती है। इसमें शिवपद दो बार आता है। प्रथम शिव पद सूक्ष्मचिदचिच्छक्तिविशिष्टरूप चैतन्यविशेष अर्थात् लिंग है। स्थूलचिदचिच्छक्तिविशिष्टचैतन्य अर्थात् जीव है, जिसे वीरशैव परिभाषा में अंग कहा जाता है। शिव सूक्ष्म चिदचिच्छक्तिविशिष्ट बतलाया गया है। सूक्ष्म अर्थात् निर्मल जिसमें आणव, मायीय या कार्मिक मल नहीं है, ऐसा शक्तिविशिष्ट तत्त्व है तथा स्थूलचिदचिच्छक्तिविशिष्ट जीव है। इसमें स्थूल का अर्थ आणवादि मलों से आवृत है, समल है। अर्थात् जीव है। इन दोनों के ऐक्य का प्रतिपादन करने वाला यह सिद्धान्त है।

शक्तिविशिष्टाद्वैत

इसकी व्युत्पत्ति 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ तयो: अद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्' इस प्रकार की जाती है। यहाँ भी शिव और जीव दोनों शक्तिविशिष्ट तत्त्व बतलाये गये हैं अर्थात् शिव की इच्छा, ज्ञान, क्रियादि शक्तियाँ अमर्याद हैं तथा जीव की इच्छा, ज्ञान, क्रियादि शक्तियाँ संकुचित हैं, अल्प हैं, उनका विकास करना ही शिवत्व को प्राप्त करना है। यह विकासवाद है।

विशेषाद्वैत

यहाँ दो पद प्रधान है। एक है 'वि' और दूसरा है 'शेष' इन दोनों का ऐक्य यहाँ प्रतिपादित है। व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है–विश्च शेषश्च विशेषौ तयो: अद्वैत विशेषाद्वैतम्। यहाँ परमात्मा शिव 'वि' कहलाता है। 'वि' के अर्थ एकाक्षर कोश में इस प्रकार होते हैं–विश्चक्षुषि व्योम्नि वाते परमात्मनि पक्षिणि। यहाँ 'परमात्मनि' अर्थ का ग्रहण किया गया है। 'वाति उत्पादयति वि:' अर्थात् यह तत्त्व जगत्कारण है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इस उपनिषद् वाक्य का भी यही तात्पर्य है। 'शेष' शब्द का अर्थ है, शिव का अंश जीव इन दोनों का ऐक्य अर्थात् विशेषाद्वैत। ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य में इस भाव को स्पष्ट करने वाला प्रमाण है।

विशब्देनोच्यते 'शम्भुर्हंस हंसेति' मन्त्रतः ।
शेषशब्देन शारीरो यथाग्नेरिति मन्त्रतः ।।

अद्वैतेन भवेद् योगो यथा नद्य इति श्रुतेः ।।

(श्रीकरभाष्यभूमिका, श्लोक ४)

यहाँ 'हंस हंसेति' मंत्र से 'वि' शिव प्रतिपादित है, 'यथाग्ने' मंत्र से 'शेष' शरीरधारी जीव है तथा 'यथा नद्यः' मंत्र से दोनों का ऐक्य प्रतिपादित है।

पंचाचार्य

जीवों के पारमार्थिक कल्याण के लिये परमकारुणिक भगवान् शिवजी ने वीरशैव धर्म का उपदेश अपने गणों को देकर उन्हें इस धर्म की स्थापना करने हेतु भूलोक में अवतार लेने का आदेश दिया तथा इस धर्म का उपदेश किया। भगवान् शिव के आदेशानुसार प्रत्येक युग में गणों ने भूलोक में अवतार लेकर धर्मस्थापना की। रेणुक नाम के गण ने आंध्रप्रदेश के कोल्लिपाक क्षेत्र स्थित सोमेश्वर लिंग से प्रादुर्भूत होकर मलय पर्वत पर रहने वाले अगस्त्य महर्षि को उपदेश किया। कर्नाटक में रम्भापुरी क्षेत्र में वीरसिंहासन स्थापित किया, जिनका गोत्र वीर है, शाखा रेणुक है। दारुक नाम के शिवगण ने मध्यप्रदेश स्थित वटक्षेत्र में सिद्धेश्वर लिंग से आविर्भूत होकर दधीचि महर्षि को उपदेश दिया और उज्जयिनी क्षेत्र में सद्धर्मसिंहासन की स्थापना की, जिनका गोत्र नन्दी और शाखा दारुक कहलाती है। घंटाकर्ण नाम के शिवगण ने द्राक्षाराम क्षेत्रस्थित रामनाथलिंग से उद्भूत होकर व्यास महर्षि को उपदेश किया। हिमाचल प्रदेश में वैराग्यसिंहासन की स्थापना की, जिसका गोत्र भृंगी है तथा शाखा घंटाकर्ण है। पंडिताराध्यजी ने आंध्रप्रदेश में ज्योतिर्लिंग मल्लिकार्जुन लिंग से उद्भूत होकर सानन्द नामक महर्षि को उपदेश किया और सूर्यसिंहासन की स्थापना श्रीशैलक्षेत्र में की। जिनका गोत्र वृषभ है तथा शाखा धेनुकर्ण है। ज्योतिर्लिंग काशीविश्वनाथ लिंग से आविर्भूत विश्वाराध्यजी ने दुर्वासा महर्षि को उपदेश किया और काशी क्षेत्र में ज्ञानसिंहासन स्थापित किया। जिनका गोत्र स्कन्द है तथा शाखा विश्वकर्ण है। यह वीरशैवों का विश्वास है, धारणा है। इसी परंपरा से पंचाचार्य पीठों से नियंत्रित कई शाखा मठ भारतवर्ष में सुचारुरीत्या धर्म प्रचार-प्रसार का कार्य कर रहे हैं।

षट्स्थल सोपान

वीरशैव धर्म का दार्शनिक स्वरूप आगमों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। उसी तरह शिवत्वप्राप्तिरूप ध्येय को प्राप्त करने के लिये साधनापथ बताया गया है। इस पथ में साधक अपने मार्ग की एक-एक सोपान पार करता है। हरेक सोपान की योग्यता पूर्ण करके आगे के सोपान पर चढ़ता जाता है। आगमों में हर एक सोपान को 'स्थल' संज्ञा है। स्थकार स्थानवाची और लकार लयवाची है। जो दोनों का कारणभूत होता है, उसे स्थल कहते हैं। जैसा कि कहा गया है–

स्थकारः स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचकः ।
तयोः कारणभूतं यत् तदेव स्थलमुच्यते ।।

(अनुभवसूत्र २-५)

अधिष्ठानं समस्तस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
जगतो यद्भवेत् तत्त्वं तद्धि वै स्थलमुच्यते ।।

(अनुभवसूत्र २-६)

समस्त स्थावर तथा चर जगत् का अधिष्ठान स्थल होता है।

स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थलं तद् द्विविधं भवेत् ।
एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तमन्यदङ्गस्थलं स्मृतम् ।।

(अनुभवसूत्र २-१०)

इस स्थल के मुख्यत: दो प्रकार हैं, अंगस्थल और लिंगस्थल। अंगस्थल के भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण तथा ऐक्यस्थल। वैसे ही लिंगस्थल के भी यही छः स्थल हैं। अंगस्थल में भक्तादि अवान्तर स्थल हैं, उनके ४४ तथा लिंगस्थल के ५७ अवान्तर स्थल हैं। ऐसे कुल १०१ स्थल होने से इसे एकोत्तरशतस्थल सिद्धान्त भी कहा जाता है।

भक्तस्थल

यह प्रथम स्थल है। मोक्षप्राप्ति के लिये यद्यपि बहुत प्रकार की साधना की जाती है। तौलनिक दृष्टि से देखे जाने पर कहा गया है कि–

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।।

दुस्तर योगशास्त्र, सूक्ष्म कर्ममार्ग, जिसमें अधिकार का प्रश्न आता है, ऐसा ज्ञानमार्ग ये साधन सामान्य साधक के लिये निरुपयोगी सिद्ध होते हैं। उनके लिये आधार है केवल भक्ति का। तुलनात्मक दृष्टि से पारमेश्वरागम में लिखा है–

न साधयति मां योगः सांख्यं धर्मस्त्वनुष्ठितः ।
स्वाध्यायोऽपि तपस्तीर्थं क्षेत्राणि नियमादयः ।।

(पारमेश्वरागम २२-१)

शिव कहते हैं–योग, सांख्य भलीभाँति विधिपूर्वक अनुष्ठित धर्म, स्वाध्याय, तप, तीर्थाटन, क्षेत्रनिवास और नियम आदि के पालन से कोई मेरा साक्षात्कार नहीं कर सकता। व्रत, यज्ञ, वेद, जाति, आश्रम आदि मेरे प्रति निरपेक्ष और सुदृढ़ भक्ति के अभाव में मेरा

साक्षात्कार नहीं कर सकते। इस प्रकार भक्ति की श्रेष्ठता कही गई है। सबके लिये अनुष्ठेय मार्ग केवल भक्ति ही है। शिवजी कहते हैं कि हे भवानी, स्कन्द, गणेश, पार्वती इन सबसे अधिक प्रिय मुझे मेरा भक्त है। अतः वीरशैवों की साधना भक्ति से प्रारंभ होती है।

इस भक्ति में वीरशैव के लिये क्या विधिनिषेध इसका वर्णन शिवपंचमहायज्ञ में आता है। पारमेश्वरागम में वीरशैव के लिये तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान का स्वरूप बतलाया है।

तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेत्यनुपूर्वकः ।

(पारमेश्वरागम १२-१३)

शिव के लिये देहसंशोष ही तप है, कृच्छ्र, चांद्रायणादि नहीं। शिवपूजन ही कर्म है यज्ञयागादि नहीं, पंचाक्षर मंत्र का अभ्यास, प्रणव का अभ्यास या रुद्राध्याय का अभ्यास ही जप है, अन्य वेदाध्ययन नहीं। शिव का ध्यान ही ध्यान है, समाधि आदि नहीं। शिवागमों के अर्थ को समझना ज्ञान है, अन्य वस्तु को जानना नहीं। ऐसा ज्ञानी भक्त दानी भी होता है। वह निरहंकार होते हुए दान करता है। ऐसे दान को सहज दान कहते हैं। इसप्रकार भक्तस्थल में गुरु, लिंग, जंगमों की सेवा ही भक्ति कही गई है। ये तीन उसके श्रद्धास्थान होते हैं।

माहेश्वर

भक्तस्थल में कही गई पूर्ण पात्रता सम्पादन करने के पश्चात् वही भक्त माहेश्वर स्थल में पदार्पण करता है। इस स्थल में भक्तस्थल की श्रद्धा-निष्ठा में परिवर्तित होकर उसमें दृढ़ता आती है। वह दृढ़ता–

अपगच्छतु सर्वस्वं शिरच्छेदनमस्तु वा ।
माहेश्वरो न मुच्येत शिपूजामहाव्रतम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १०-१२)

इस प्रकार प्रकट हुई है। शिरच्छेद भी करा सकते हैं, किन्तु शिवपूजा महाव्रत नहीं छोड़ते, ऐसी वह निष्ठा है। चारित्र्य की दृष्टि से श्रेष्ठ माहेश्वर में पाये जाने वाले कुछ लक्षण ऐसे है–परस्त्रीसंगनिर्मुक्त, निर्मम, निरहंकार, शुचि, परद्रव्यपराङ्मुख, शिवागम-परायण, शिवस्तुति के रस का आस्वाद पाकर प्रसन्न मनवाला, शिव की महत्ता के प्रमाणों को एकत्र करने में लगा हुआ, अविद्यादि पंचक्लेशमुक्त, मद से अस्पृष्ट, मत्सररहित, कामभावना से शून्य, क्रोध के वेग से दूर, सर्वदा सन्तोषयुक्त, शिवोत्कर्ष का प्रचार करनेवालों का सहचर, शिव का अपकर्ष प्राप्त होने पर प्राणत्याग करने के लिये तत्पर, केवल शिव में निष्ठा रखने वाला सर्वात्मा इन लक्षणों से युक्त वीरमाहेश्वर होता है।

वीरमाहेश्वर शब्द के एक-एक अक्षर का अर्थ देते हुए कहते हैं कि–

विद्यायां रमते यस्मान्मायां हेयां श्ववद्रहेत् ।
अनेनैव निरुक्तेन वीरमाहेश्वरः स्मृतः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ५-१७)

वह शिव का सर्वगत्व नहीं मानता, क्योंकि–

सर्वगत्वे महेशस्य सर्वत्राराधनं भवेत् ।
न लिङ्गमात्रे तन्निष्ठो न शिवं सर्वगं स्मरेत् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १०-५५)

प्रसादी

वही पूर्वोक्त माहेश्वर लिंग के प्रति निष्ठा और भाव के द्वारा समस्त पापरूपी बन्धन को नष्ट करके मन की प्रसन्नता के कारण प्रसादी बनता है। प्रसाद मन की निर्मलता दर्शाता है, अतः वही माहेश्वर प्रसादी बनता है। आत्मभोग के लिये जो जो भोग एकत्रित किया गया, आत्मशुद्धि के लिये उन सब पदार्थों को लिंगार्पित कर देता है।

लिङ्गार्पितं विना भुङ्क्ते नामृतं विषमप्यथ ।
गते लिङ्गे त्यजेत्प्राणान् वीरशैवः स एव हि ।।

(परमरहस्य ३-२)

पहले त्याग फिर भोग यह जीवन का सूत्र रहता है। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस उपनिषद् वाक्य का यहाँ स्मरण होता है। प्रसादी स्थलीय साधक शिव तथा गुरु के प्रति समान भाव रखता है। गुरुभक्तिविहीन साधक से शिवभक्ति नहीं होती है।

गुरुभक्तिविहीनस्य शिवभक्तिर्न जायते ।
ततः शिवे यथा भक्तिस्तथा भक्तगुरावपि ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ११-६४)

सारांश यह प्रसादी गुरु, लिंग तथा जंगम के प्रति निष्ठा रखता है, भक्ति करता है। प्रसादी भक्त है! वह भक्त की ओर पूज्य भाव से देखता है। महात्मा बसवण्णा अनुभवमण्डप में संमिलित सभी शिवशरणों को भक्त नहीं मानते, अपितु शिवस्वरूप मानते हैं। भक्त को भक्त के प्रति आदरभाव होना चाहिये; क्योंकि भक्त कर्मणा, मनसा, वाचा भजनशील ही होता है। इस स्थल की अवधान भक्ति होने से साधक सावधान होता है।

प्राणलिंगी

पूर्वोक्त प्रसादी साधक शिवदृष्टिसम्पन्न होता है। वही साधक जब अपने हृदय में

ज्योतिरूप से विद्यमान परमात्मा की उपासना करता है, वह साधक प्राणलिंगी कहा जाता है। इस साधक में अनुभव भक्ति होती है। इस शब्द में प्राण और लिंग दो पद होते हैं, इसका स्पष्टीकरण सिद्धान्तशिखामणि में दिया है–

प्राणो यत्र लयं याति भास्करे तुहिनं यथा ।
तत्प्राणलिङ्गमुद्दिष्टं तद्धारी स्यात् तदाकृतिः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १२-७)

जिस प्रकार तुहिन अर्थात् ओस सूर्य में लीन हो जाता है, उसी प्रकार प्राण परब्रह्म में लीन हो जाता है, वह प्राणलिंग कहा गया है। अब ज्योतिरूप अपने अंदर स्थित उत्कृष्ट लिंग को छोड़कर बाह्यलिंग में आस्था रखने वाले मूर्ख कहे गये हैं। इस प्राणलिंग का पूजनविधि निराला है। क्षमा ही अभिषेक जल, विवेक ही वस्त्र, सत्य ही अलंकार, वैराग्य ही पुष्पमाला, समाधि ही गन्ध, निरहंकारता अक्षत, श्रद्धा धूप, महाज्ञानजगद्भासक दीप, भ्रांतिमूल प्रपंच का भ्रम नैवेद्य, मौन घंटा, कामक्रोध विषयों का समर्पण ताम्बूल, विषयभ्रम दूर हो जाना प्रदक्षिणा, बुद्धि का लिंग में लीन होना नमस्कार–इस प्रकार प्राणलिंगार्चन किया जाता है।

शरणस्थल

इस स्थल में अंग-लिंग संबन्ध को सतीपति भाव में देखा जाता है। सती जीव है, पति शिव है। अतः कहा गया है कि–

सतीव रमणे यस्तु शिवे शक्तिं विभावयन् ।
तदन्यविमुखः सोऽयं ज्ञातः शरणनामवान् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १३-५)

यहाँ अव्यभिचारिणी भक्ति का स्वरूप बतलाया गया है। भक्ति अनेक देवों की नहीं होती, एकाश्रया होनी चाहिये। उसमें अनन्यता होनी चाहिये। संसार के प्रति भी आसक्ति है और परमात्मा के प्रति भी भक्ति यह असम्भव है। महाराष्ट्र के संत मन्मथस्वामी कहते हैं–

सांडोनी शिवाते दुजियाते ध्याती ।।
त्याचे तोंडी माती जन्मोजन्मी ।।

शिव कल्याणस्वरूप हैं और शंकर के रूप में कल्याणकर भी, ऐसा है तो फिर अन्य देवताओं की उपासना किस लिये करना चाहिये? सब साधकों को अपने सम्प्रदाय के अनुसार उपास्य देवता की अनन्य भक्ति करनी चाहिये। 'अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता' जिस प्रकार कृष्ण भक्त मीरा कहती है 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई', उसी तरह शैव-वीरशैवों को अपनी परंपरा के अनुसार भक्ति करनी चाहिये। इसमें आनन्द है।

ऐक्यस्थल

षट्स्थलोपासना में अंतिम स्थल ऐक्यस्थल है। एकस्य भावः 'ऐक्यम्' ऐसी ऐक्य शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। भक्तस्थल से साधक शरण स्थल तक अपना पारमार्थिक विकास करते-करते आता है। जीव शिवांश होते हुये भी अनाद्यविद्यासम्बन्ध से बद्ध होता है। दीक्षात्रय पाकर वह मलत्रय से मुक्ति पाने की साधना प्रारंभ करता है। कहा गया है कि–

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम् ।
निरस्यते गुरोर्बोधात् ज्ञानशक्तिः प्रकाशते ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १८-१७)

शिव में रहनेवाली सभी शक्तियाँ जीव में होती हैं, किन्तु संकुचित रूप में। उसके क्रिया शक्ति का संकोच होकर 'कला' नाम का कंचुक उस पर आ जाता है। इसीप्रकार ज्ञान शक्ति का संकोच होने पर विद्या नाम का कंचुक, पूर्णताशक्ति का संकोच होने पर राग नाम का कंचुक, नित्यता शक्ति का संकोच होकर काल नाम का कंचुक, विभुत्वशक्ति का संकोच होकर नियति नाम का कंचुक आता है। इस प्रकार पंचकंचुकों से अधिक बद्ध हुआ जीव गुरुकृपा से इन संकुचित शक्तियों का विकास करते-करते ऐक्य स्थल में प्रवेश करता है। इस स्थल में वह भूमा स्थिति में आता है, **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'** इस उपनिषदुक्ति के अनुसार चरम विकास पाकर निर्मल, कंचुकों से मुक्त अर्थात् अविद्या से मुक्त होता है, वह पूर्ण है। स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदों से मुक्त, निरहंकार होता है। अब वह शिव के समान होने से जिस प्रकार जल में जल, अग्नि में अग्नि मिल जाता है, उसी तरह जीव शिव में समरस होता है, भिन्न नहीं रहता, यह भाव सिद्धान्तशिखामणि में इस प्रकार कहा है–

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितम् ।
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते ।।

(सिद्धान्तशिखामणि २०-६१)

अब उसका नाम नहीं है, अलग रूप भी नहीं है, वह शिव ही हो जाता है। वही मोक्ष है। उपनिषद् में यही भाव व्यक्त हुआ है–

'यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रं अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय' उसी तरह जीव शिव हुआ फिर पूर्वस्थिति में नहीं आता **'न स पुनरार्वर्तते'** की सत्यता का अनुभव दिलानेवाले इस स्थल से निगडित समरस भक्ति होती है। **'रसो वै सः'** इस उपनिषद् के अनुसार शिव रसरूप होता है। उस रसरूप परमात्मा से समत्व प्राप्त करने का नाम समरसता है। यह समत्व ही योग है। गीता कहती है **'समत्वं योग उच्यते'** यही लिगांगसामरस्य है।

अष्टावरण

पारमार्थिक साधना करनेवाले साधक के मार्ग में सांसारिक दोषों के समूह जब आते हैं, तो साधनापथ से साधक दूर हो सकता है। अतः दोषस्वरूप इन विघ्नों से बचने के लिये रक्षाकवच की योजना आचार्यों ने की है। इन्हें आवरण कहते हैं। 'आव्रियते देहादिकं आवरणम्' आवरण करना, ढकना इस अर्थ का धातु 'व्रि' आङ् उपसर्गपूर्व इसमें है। कवच जिस प्रकार शस्त्रों से रक्षा करता है, उसी प्रकार साधक का रक्षण आवरण से होता है। इसकी संख्या आठ होने से इसे अष्टावरण कहते हैं। चन्द्रज्ञानागम में कहा है–

गुरुलिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।।

(चन्द्रज्ञानागम २-२)

गुरु, लिंग, जंगम, तीर्थ, प्रसाद, भस्म, रुद्राक्ष और मंत्र–ये आठ अंग अष्टावरण कहलाते हैं। गुरु, लिंग, जंगम ये तीन पूजार्ह हैं, भस्म, रुद्राक्ष धारणीय हैं, मंत्र जप करने के लिये है, तीर्थ और प्रसाद फलस्वरूप हैं। वस्तुतः 'गुरु' से ही उर्वरित सातों आवरण निगडित हैं। उपासना के लिये लिंग गुरु से ही मिलता है। जंगम गुरु का ही प्रतिनिधि होता है। भस्म, रुद्राक्ष गुरु से ही संस्कारित करके दिये जाते हैं। मांत्री दीक्षा में मंत्र भी गुरुमुख से प्राप्त होता है। तीर्थ गुरुचरण का ही लेते हैं, जिसे पादोदक कहते हैं। प्रसाद भी गुरु से मिलता है, अतः मुख्य आवरण गुरु ही है।

गुरु

गुरु शब्द गृ-निगरणे इस धातु से व्युत्पन्न होता है। गृणाति शिष्यस्य अज्ञानमिति गुरुः। शिष्य के अज्ञान का निगरण करके शिष्य को ज्ञान देते हैं गुरु। चंद्रज्ञानागम में कहा है–

मोक्षस्य दीक्षासम्प्राप्त्यै गुरुः स्यान्मूलकारणम् ।
न विना गुरुणा सिद्ध्यै साधनानि भवन्त्यलम् ।।

(चन्द्रज्ञानागम २-५)

जीवन का परमोद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। मोक्ष ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' का यही अभिप्राय है। ज्ञान देने के अधिकारी श्रीगुरु ही है। **'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** इस उपनिषद्वचन का यही अर्थ है कि उस परमतत्त्व को जानने के लिये श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की ही शरण जाना चाहिये। श्रीगुरु का स्थान शिवसमान होता है। चन्द्रज्ञानागम में लिखा है कि–

योो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
गुरुर्वा शिव एवाथ विद्याकारेण संस्थितः ।।

(चन्द्रज्ञानागम २-७)

अर्थात् जो गुरु है, वही शिव कहलाता है और जो शिव है, वही गुरु माना गया है। गुरु अथवा शिव इन दोनों की स्थिति समान मानी गई है। विद्या इन दोनों से भिन्न नहीं है। गुरु सर्व देवात्मक तथा सर्व मंत्रात्मक है। सर्व देवता और मंत्र गुरु के शरीर में स्थित हैं। ऐसा अधिकार होने से मनुष्य गुरु की आज्ञा को सिर झुकाकर उसका पालन करे। जैसा कि कहा गया है 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' गुरु की आज्ञा की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। केवल उसका पालन करना चाहिये। प्रत्युत्तर नहीं करना चाहिये। 'गुरुशुश्रूषया विद्या' गुरु की सेवा करने से ज्ञानप्राप्ति होती है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।

(भगवद्गीता ४-३४)

ज्ञानप्राप्ति के लिये सद्गुरु का प्रणिपात करना चाहिये। प्रणिपात का अर्थ 'प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपात:' है अर्थात् सद्गुरु को दीर्घ नमस्कार करना चाहिये। सेवा, प्रणिपात और पारमार्थिक कल्याण के संबंध में किये हुये प्रश्न से सद्गुरु प्रसन्न होते हैं। गुरु के प्रसन्न होने के पश्चात् ही ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ गुरु से शिष्य तक ज्ञान प्रवाहित होता है। श्रीगुरु का किया हुआ प्रणाम और सेवा केवल गुरुमूर्ति की नहीं होती, उनके स्वरूप का वर्णन परमरहस्य ग्रंथ में किया है–

तीर्थानि दक्षिणे पादे वेदास्तन्मुखमाश्रिता ।
पूजयेदर्चिततनुं तदभिधानपूर्वकम् ।।

(परमरहस्य अ. १ श्लो. २१)

उनके दक्षिण चरण में सभी तीर्थ रहते हैं, उनके मुख में चतुर्वेद आश्रय लेते हैं।

श्रीगुरु का लक्षण

गुरु तत्त्व सर्वोपरि माना गया है। जैसा कि शिवमहिम्नः स्तोत्र में कहा गया है 'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' सभी तत्त्वों को सम्यक्रूप से समझाने वाला तत्त्व गुरुतत्त्व है। चंद्रज्ञानागम में गुरु का लक्षण इस प्रकार किया है–

गुरुश्च गुणवान् प्राज्ञः परमानन्दभासकः ।
तत्त्वविच्छिवसंसक्तो मुक्तिदो न तु चापरः ।।

शैवसिद्धान्ततत्त्वज्ञः प्रतिष्ठामन्त्रपारगः ।
मोक्षदः करुणोपेतो वीतरागो विमत्सरः ।।

(चंद्रज्ञानागम २-४८, ४९)

जो गुणवान् विद्वान् परमानन्द की अनुभूति कराने में समर्थ, तत्त्ववेत्ता, शिवभक्त, मुक्तिप्रद, शैव सिद्धान्त को जानने वाला, प्रतिष्ठा की विधि और मंत्रों को जाननेवाला, करुणासम्पन्न, वीतराग और मत्सर से रहित होता है।

इसके अतिरिक्त शिवागमों के क्रिया, चर्या, ज्ञान और योग इन चतुष्पादों के समस्त विषयों से तत्त्वों को जानने वाला, गुरुपरम्परा से जिसको ज्ञान प्राप्त हुआ है, गुरुवंश में उत्पन्न हुआ, लिंग और अंगस्थल के भेद को भलीभाँति जाननेवाला, षट्स्थल सिद्धान्त के रहस्य को समझाने में तत्पर है, दीक्षादि कर्मों के सम्पादन में जो कुशल है, जिसको वर्ण, पद, मंत्र, कला, तत्त्व, भुवन इन षडध्वों का ज्ञान है, ऐसे लक्षण बताये हैं। व्यसनी, वामन, कुबड़ा, क्रोधी, कुटिल, दुष्ट वृत्ति से चपल, हीनांग, व्याधिग्रस्त, पापी, चुगलखोर, तार्किक, कटु बोलनेवाला, बक के समान ध्यान लगानेवाला, गुरु, देवता, द्विजाति का निन्दक नहीं होना चाहिये।

गुरु का मुख्य कार्य उपदेश करना होता है। जो अज्ञानी है, उसे ज्ञान देकर सुयोग्य बनाना गुरु का उद्देश्य होता है। गुरु के उपदेश के विधि को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा शब्द में 'दा' और 'क्षी' दो धातु है। धातुओं के अनुसार दीक्षा शब्द का अर्थ बतलाया गया है–

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यया दीक्षेति सा तस्या गुरुर्दीक्षा गुरुः स्मृतः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १५-७)

परमज्ञान देकर पाशबन्धन छेदने वाली दीक्षा देने वाले गुरु को दीक्षागुरु कहा जाता है। दीक्षा तीन प्रकार की होती है–वेधा, क्रिया तथा मांत्री।

वेधादीक्षा

'हस्तमस्तकसंयोगाद् दृष्टेर्वेधेति कीर्त्यते' इस कारणागम की उक्त्यनुसार इस दीक्षा में शिष्य के मस्तक पर श्रीगुरु हस्तस्पर्श करते हैं। इसके परिणामस्वरूप शिष्य के अन्दर जो आणवमल होता है, वह निर्गत होता है। आणवमल की परिभाषा क्षेमराज देते हैं–'अपूर्णमन्यतारूपं आणवं मलम्' अर्थात् शिष्य की जो पूर्णता शक्ति होती है, वह संकुचित होने के कारण जीव शिव का अंश होने पर भी स्वयं को अपूर्ण समझता है। वेधा दीक्षा से शिवोऽहं भावना उदित होती है। जीव की अपूर्णता विकसित होकर पूर्णत्व में बदलती है।

वेधादीक्षान्तर्गत सप्तविधोपदेश

१. समयोपदेश–'समय' शब्द सिद्धान्तवाचक है। गुरु अपना दक्षिण हस्त छः बार षडक्षर मंत्र से अभिमंत्रित करके शिष्य के मस्तक पर रखते हैं। **'अयं मे हस्तो भगवान्'** इस मंत्र का पाठ करके करुणापूर्ण दृष्टि से उसे अवलोकन करते हैं।

२. निःसंसारोपदेश–संसार का अर्थ होता है शरीर और इंद्रियों में ममत्व बुद्धि रखना, उसको असार जानकर उससे निवृत्त होना निःसंसारोपदेश है। कारणागम में कहा है–

देहेन्द्रियादिसंसारं परिहृत्य सदा मम।
पूजोपचारः संसार इति भावय चेतसि।।

(कारणागम १-१०२)

शिवपूजा ही संसार है, ऐसी भावना की जाती है।

३. निर्वाणदीक्षा–निर्वाण का अर्थ है मुक्ति। आणवादि मलत्रय से उत्पन्न तापत्रयों के अपार भय से निवृत्ति करना मोक्षमार्ग है। यह उपदेश निर्वाण दीक्षा में किया जाता है।

४. तत्त्वोपदेश–इष्टलिंग और अंग के तत्त्व को जानकर 'इष्टलिंग' के साथ 'सायुज्य' स्थापित करने का उपदेश ही तत्त्वोपदेश दीक्षा है।

५. अध्यात्मोपदेश–इस दीक्षा में शिष्य को उपदेश दिया जाता है कि अपने प्राण में इष्टलिंग को प्रतिष्ठित करके तथा इष्टलिंग को देखते हुए अपने प्राणों को स्थिर करके लिंग प्राण बनो।

६. तत्त्वसंशोधनोपदेश–इस दीक्षा में आचारलिंग को गंध विषय, गुरुलिंग को रस विषय, शिवलिंग को रूप विषय, जंगमलिंग को स्पर्श विषय, प्रसादलिंग को शब्द विषय, और महालिंग को तृप्ति विषय समर्पित करने का उपदेश दिया जाता है।

७. तत्त्वोपदेश–इस दीक्षा में लिंगांगसामरस्य का उपदेश दिया जाता है। शिवजीवैक्य ही पारमार्थिक ध्येय माननेवाला वीरशैव कहा जाता है।

मांत्री दीक्षा

मांत्री दीक्षा से जीव का जो मायीय मल होता है, वह निवृत्त होता है। **'भिन्नवेद्य प्रथारूपं मायीयं मलम्'** इस क्षेमराजप्रणीत परिभाषा के अनुसार 'मैं जीव शिव से भिन्न हूँ' इस भावना का नाम मायीय मल है। उस मल के निवृत्ति के पश्चात् जीव स्वयं को शिव से भिन्न नहीं समझता है। **'मांत्री दीक्षेति सा प्रोक्ता मंत्रमात्रोपदेशिनी'** इस सिद्धान्तशिखामणि के वचनानुसार इस दीक्षा में गुरु शिष्य के दक्षिण कान में पंचाक्षर मंत्र का सबीज उपदेश करते हैं। कारणागम में कहा है कि–

गुरुणोदीरिता कर्णे सा हि मन्त्रात्मिका भवेत् ।

(कारणागम १-२४)

इस दीक्षा में दिया जाने वाला मंत्र उपनिषद् में उपदेश के लिये दिये जाने वाले तत्त्वमसि महावाक्य के समान होता है। इससे लिंगांगसामरस्य होता है।

मांत्री दीक्षा के अन्तर्गत सप्तविधोपदेश

१, २. चित्तैकाग्रता तथा दृढव्रतता–स्वभावत: चित्त चंचल होता है, अत: उससे एक देवोपासना नहीं हो सकती। अत: गुरु उपदेश करते हैं–

इष्टलिङ्गात्परं वस्तु शिष्य त्वं नावलोकय ।
इत्येकाग्रमतिं दत्वा दीक्षां दद्यात् दृढव्रताम् ।।

(कारणागम १-११२)

शरीरपातपर्यन्तं न जहीहि व्रतान्यपि ।
दृढव्रतमिति प्रोक्त्वा दद्यात् पञ्चेन्द्रियार्पणाम् ।।

(कारणागम १-११३)

अर्थात् इष्टलिंग से बड़ी कोई वस्तु नहीं है। शरीर को त्यागने के काल पर्यन्त व्रतों नियमों का त्याग न करना, यही चित्तैकाग्रता तथा दृढ़व्रतता दीक्षा का तात्पर्य है।

३. पंचेन्द्रियार्पणा–पंचज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में स्वभाव से रममाण होती है। किन्तु साधक का कर्तव्य है कि लिंग मेरा पति है, अंग सती है। ऐसा मान कर सदा सर्वदा शिव कार्य में ही रममाण हो।

मनो महेशध्यानाढ्यं नान्यध्यानरतं मनः ।
शिवनामरता वाणी वाङ्मता चैव चेतरा ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-१८)

मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ शिव में रममाण होनी चाहिये।

४. अहिंसा–सर्व भूतमात्र अपने समान मानने के पश्चात् कोई किसी की हिंसा करने में प्रवृत्त नहीं होगा।

५. लिंगनिष्ठा–इस प्रपंच के लीन होने तथा स्थिति में रहने के आधारभूत तत्त्व लिंग है। **'ओम् नमो लिंगरूपाय जगज्जन्मादिहेतवे'** इस ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य के मंगलाचरण में श्रीपतिपंडित भगवत्पाद लिखते हैं कि प्रपंच के जगज्जन्मादि के कारणस्वरूप अधिष्ठान लिंग ही है। उसके प्रति दृढभक्ति को ही लिंगनिष्ठा कहते हैं।

६. लिंगमनोलया—संकल्पविकल्प करने वाले अंत:करणवृत्ति का नाम मन है। वह वायु से भी चंचल कहा जाता है। जैसा कि गीताकार कहते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद्दृढ़म् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करः ।।

(भगवद्गीता ६, ३४)

उस लिंग में मन को लीन करना मनोलय कहा जाता है।

७. सद्योमुक्ति—मांत्री दीक्षा का अंतिम उपदेश इस दीक्षा में दिया जाता है। जीवन्मुक्ति का स्वरूप बताकर शिष्य के बुद्धि को वही स्थिर करने का हेतु यहाँ पूर्ण होता है। गुरु कहते हैं—

मदुक्तार्थे स्थिरमतिः प्रवर्तस्व विसंशयः ।

(कारणागम १-११८)

क्रियादीक्षा

सिद्धान्तशिखामणि में इस विषय में कहा है कि—**'कुण्डमण्डलिकोपेता क्रियादीक्षा क्रियोत्तरा'** यह पंच कलश स्थापनापूर्वक मण्डप देवतादि प्रतिष्ठापूर्वक क्रियाप्रधान दीक्षा होती है। अपनी परम्परा से जो कुलगुरु हैं, उनके अमृतहस्त से शिष्य को संस्कारपूर्वक लिंग दिया जाता है। इस दीक्षा से शिष्य का कार्मिकमल निवृत्त होता है। कार्मिक मल से शिष्य हर एक कर्म का स्वयं को कर्ता-भोक्ता समझता है। गुरु उपदेश करते हैं। 'न तो तू कर्ता है, न भोक्ता है' कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव को दूर करने का उपदेश पाकर शिष्य निरहंकार होता है। इस दीक्षा के अन्तर्गत निम्नलिखित सात संस्कार बताये गये है—आज्ञा, उपमा, कलशाभिषेक, स्वस्तिकारोहणम्, भूमिपट्टम्, आयत्तम् और स्वायत्तम्।

१. आज्ञादीक्षा—कारणागम में—

परित्यज्य सदाचारं मा वर्तस्व सर्वदा ।
इत्याज्ञादीक्षयाऽऽदिश्य ततस्त्वेवं वहेद् गुरुः ।।

(कारणागम १-४४)

वीरशैव शास्त्र में अहिंसादि दश धर्म तथा सदाचार का वर्णन है, उनके अनुसार जीवन यापन करने की आज्ञा ही आज्ञादीक्षा है।

२. उपमादीक्षा

पुरातनकृताचारसदृशं कुर्विति स्फुटम् ।
उपमादीक्षयाऽऽदिश्य शिष्यपापापनुत्तये ।।

प्राणानायम्य विधिवत्पञ्चगव्यानि साधयेत् ।।

(कारणागम १-४५)

प्राचीन लोगों द्वारा किये गये आचार के समान तुम भी आचरण करोगे। इसके बाद शिष्य के पापों को दूर करने के लिये विधिवत् प्राणायाम करके गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोघृत, गोदधि इन पंच गव्य को सिद्ध करते हैं।

३. कलशाभिषेकदीक्षा—मण्डप के उत्तर दिशा को मण्डल बनाकर पंचसूत्र प्रक्रिया से निर्मित शिवलिंग को निकाल कर ताम्रपात्र में रखे। देश-काल का उल्लेख कर कहे 'मैं घर्षणादि अनेक क्रियाओं से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये हिरण्यशृंगम् मंत्र से शिवलिंग का अभिषेक करता हूँ।' पंचगव्य और पंचामृत से पंचब्रह्म मंत्र से फिर अभिषेक करना चाहिये। इससे लिंग का शिलात्व निवारण होता है।

४. स्वस्तिकारोहणदीक्षा—षडध्वशोधन द्वारा साधक के माँसपिंडनिवृत्ति के लिये स्वस्तिकारोहण दीक्षा दी जाती है।

५. भूतिपट्टदीक्षा

अनादिमलसहंत्य भूतिपट्टाख्यदीक्षया ।
स्नानमुद्धूलनं भूत्या धारणं चापि कारयेत् ।।

(कारणागम १-८३)

अनादि मलों का नाश कराने के लिये भूतिपट्ट दीक्षा के द्वारा गुरु शिष्य को भूति अर्थात् भस्म से स्नान कराए। उसके शरीर पर भस्म लपेटे और भस्म का त्रिपुंड्र धारण कराए। इसे भूतिपट्ट दीक्षा कहते हैं।

६. आयत्तदीक्षा—पूर्वोक्त पद्धति से अभिषेकादि क्रिया से सुसंस्कृत पंचसूत्र प्रक्रिया से निर्मित अंगुष्ठपरिमाण शिवलिंग रहता है। उसे प्राणप्रतिष्ठा करने के लिये गुरु उसको अपने वामहस्त में रख कर पूजा करके शिष्य को बताते हैं। इसे आयत्त दीक्षा कहते हैं। गुरु और शिष्य के बीच पर्दा रखकर मंगल वाद्य बजाते मंगलाष्टक पाठ करते हैं। गुरु शिष्य से कहते हैं कि 'तुम सदा स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीर में लिंगसंयुक्त रहो।

७. स्वायत्तदीक्षा—गुरु उत्तराभिमुख होकर बैठे अपने बायें भाग में शिष्य को बिठाकर गुरु शिष्य को स्वायत्त दीक्षा देते हैं। शिष्य को तथा स्वयं को वस्त्र से आच्छादित करके गुरु शिष्य के बायें हाथ को मूल मंत्र से अभिमंत्रित करते हैं।

लिंग

वीरशैवीय अष्टावरणों में द्वितीयावरण लिंग होता है। सिद्धान्तशिखामणि में लिंग शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ दर्शाते हुए आचार्य कहते हैं—

लयं गच्छति यत्रैव जगदेतच्चराचरम् ।
पुनः पुनः समुत्पत्तिं तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ६, ३७)

जिस तत्त्व से यह जगत् उत्पन्न होता है, जिस सत्ता से (स्थिर) पालित होता है और जिसमें लीन होता है। वह ब्रह्मरूप शाश्वततत्त्व लिंग कहलाता है। चंद्रज्ञानागम में लिंग स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है–

बिन्दुनादात्मकं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
बिन्दुः शक्तिः शिवो नादः शिवशक्त्यात्मकं जगत् ।।
बिन्दुनादात्मकं लिङ्गं जगत् कारणमुच्यते ।।

(चंद्रज्ञानागम ३-१३, १६)

यह सारा स्थावर जंगमात्मक जगत् बिन्दुनादात्मक है। इनमें बिन्दु शक्ति है और शिव नाद है। इस तरह से यह जगत् शिव शक्त्यात्मक है। बिन्दु नादात्मक लिंग ही सारे जगत् का कारण है। वस्तुत: लिंग, निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निरवद्य, निरंजन स्वरूप है।

लिंग के स्वरूप के संबंध में चंद्रज्ञानागम में अनन्त रुद्र बृहस्पति से कहते हैं–

पूर्वमेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
मध्ये समुत्थितं लिङ्गमैश्वरं तेजसं परम् ।।

(चंद्रज्ञानागम ३-५)

पूर्व काल में जबकि सर्वत्र एकमात्र समुद्र का जल ही घोर गर्जना कर रहा था, स्थावर और जंगम यह सारा जगत् नष्ट हो चुका था, तब उस समुद्र के बीच में ईश्वर का परमतेजोमय लिंग प्रकट हुआ। यह लिंग ज्वाला की मालाओं से आवृत था। दिव्य अप्रमेय और अनामय (व्याधिमुक्त) इस लिंग में प्रत्येक कल्प की समाप्ति पर सारे देवता लीन होकर रहते हैं। इस लिंग के हृदय में सभी देवताओं में श्रेष्ठ गायत्री का निवास है। वेदों के छः अंग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद और जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दंड, रथ, घन, अष्टविकृतियों के साथ सारे वेद कल्पान्त में इसके सिर में लीन हो जाते हैं। जगत् उसमें लीन होता है और पुनः उसी से उत्पन्न होता है।

वीरशैव धर्म में साधक इस लिंग को अपने हृदय पर निरन्तर धारण करता है। साधक प्रतिदिन त्रिकाल लिंगपूजन करता है। यह लिंग अंगुष्ठप्रमाण होता है। अतः यह धर्म लिंगार्चनात्मक कहलाता है। शरीर पर धारण किया जाने वाला इष्टलिंग कहलाता है। **'इष्टलिङ्गमिदं साक्षादनिष्टपरिहारकम्'** अर्थात् अनिष्टों का परिहार करने से इसे इष्टलिंग कहते हैं।

ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।
तस्मात्पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ६-५९)

इस श्लोक में लिंगधारण वेदसंमत कहा गया है।

अघोरापापकाशीति या ते रुद्र शिवा तनूः ।
यजुसा गीयते यस्मात् तस्माच्छैवोघवर्जितः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ६-६२)

सिद्धान्तशिखामणि में कहा है 'हे रुद्र आपकी तनु अघोर है, अपापकाशिनी है, अतः लिंगधारक पवित्र रहता है।

वीरशैव स्त्री-पुरुष दोनों को लिंगधारण का अधिकार है। स्त्री रजःसूतक में तथा प्रसूत्यादिक सूतक में भी इष्टलिंग धारण तथा पूजन कर सकती है। यह वीरशैवों का वैशिष्ट्य है। **'शुचिर्वाप्यशुचिर्वाऽपि लिंगं सर्वत्र धारयेत्'** यह धर्माज्ञा है।

निरंतर लिंग धारण करना अनिवार्य है। लिंग शरीर से कभी भी दूर नहीं करना चाहिये। इष्टलिंग धारण शरीर पर कहाँ करना चाहिये। इस संबंध में वातुलशुद्धागम कहता है–

मूर्ध्नि कण्ठे भुजे हस्ते हृत्स्थले नाभिमण्डले ।
एतेषामेकदेशे तु धारयेत् शिवलिङ्गकम् ।।

(वातुलशुद्धागम १०-३६)

मस्तक पर, कंठ में, भुजा में, हस्त में, हृदय पर तथा नाभिमंडल में लिंग धारण कर सकते हैं, किन्तु जटा में, पृष्ठभाग, मलस्थान पर और नाभि के नीचे नहीं धारण करना चाहिये। धारण किये हुये इष्टलिंग का पूजन यथासम्भव दिन में एक बार, दो बार या तीन बार हस्तपीठ पर करने का आदेश सूक्ष्मागम में दिया है–

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि शङ्करि ।
पूजयेन्नियतं लिंगं प्राणलिंगपरायणः ।।

(सूक्ष्मागम ६-५१)

लिंग के मुख्य तीन प्रकार इष्टलिंग, प्राणलिंग तथा भावलिंग है। इष्टलिंग के आचारलिंग, गुरुलिंग, प्राणलिंग के शिवलिंग, जंगमलिंग, भावलिंग के प्रसादलिंग, महालिंग इसप्रकार छः प्रकार होते हैं। इन षड्लिंगों का वातुलशुद्धागम के अनुसार अर्पणसद्भाव इसप्रकार है। भक्त आचारलिंग को क्रिया शक्ति से श्रद्धाभक्ति से, सुचित्त हस्त से, घ्राणेंद्रिय द्वारा गंध विषय अर्पण करता है। माहेश्वरी गुरुलिंग को ज्ञानशक्ति से,

निष्ठा भक्ति से सुबुद्धिहस्त से, जिह्वेंद्रिय द्वारा रस विषय अर्पण करता है। प्रसादी शिवलिंग को इच्छाशक्ति से, अवधान भक्ति से निरहंकार हस्त से, नेत्र द्वारा रूप विषय अर्पण करता है। प्राणलिंगी जंगमलिंग को, आदिशक्ति से अनुभव भक्ति से, सुमन हस्त से, त्वगिंद्रिय द्वारा स्पर्श विषय अर्पण करता है। शरण प्रसादलिंग को पराशक्ति से, आनंद भक्ति से सुज्ञानहस्त से श्रोत्रेंद्रिय द्वारा शब्द विषय अर्पण करता है। ऐक्यस्थली महालिंग को चिच्छक्ति से समस्त भक्ति से सद्भाव हस्त से तृप्ति विषय मन के द्वारा अर्पण करता है।

ब्रह्मादि देवता, गौतमादि महर्षि, लक्ष्म्यादि शक्तियाँ, रावणादि दानव सभी लिंगधारण तथा पूजन करते थे।

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा मुनयो गौतमादयः ।
धारयान्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ६-५५)

प्राणलिंगार्चन

प्राणलिंग की पूजा करने वाले साधक के पास क्या सामग्री होनी चाहिये और पूजा कैसे की जाती है। इसका वर्णन सिद्धान्तशिखामणि में इस प्रकार किया है–

क्षमाभिषेकसलिलं विवेको वस्त्रमुच्यते ।
सत्यमाभरणं प्रोक्तं वैराग्यं पुष्पमालिका ।।
गन्धः समाधिसम्पत्तिरक्षताः निरहङ्कृतिः ।
श्रद्धाधूपो महाज्ञानं जगद्भासि प्रदीपिका ।।
भ्रान्तिमूलप्रपञ्चस्य नैवेद्यं तन्निवेदनम् ।
मौनं घण्टा परिस्पन्दस्ताम्बूलं विषयार्पणम् ।।
विषयभ्रान्तिराहित्यं तत्प्रदक्षिणकल्पना ।
बुद्धेस्तदात्मिका शक्तिर्नमस्कारक्रिया मता ।।
एवंविधैर्भावशुद्धैरुपचारैरदूषितैः ।
प्रत्युन्मुखमना भूत्वा पूजयेल्लिङ्गमान्तरम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १२-१६-२०)

जंगम

जंगम शब्द स्थावर शब्द का विरुद्धार्थी लगता है। एक स्थान में जो वर्तमान होता है, वह स्थावर और जो संचरणशील होता है, वह जंगम कहलाता है। समाज में आचार सुव्यवस्थित रखने के लिए आवश्यक और पूज्य तत्त्व जंगम है। वह गुरु का प्रतिनिधि

होता है। जंगम के भी दो भेद होते हैं। जैसे चंद्रज्ञानागम में कहा है–

जङ्गमं द्विविधं प्रोक्तं मान्त्रिकं सहजं त्विति ।
मान्त्रिकं मन्त्रसामर्थ्यादावाहितमुदीरितम् ।।
ध्रियमाणं महाशैवैश्चरलिङ्गादिकं मुने ।।

अर्थात् मंत्र के सामर्थ्य से आवाहित शिवस्वरूप वाला जंगम मांत्रिक जंगम कहलाता है, इसे चरलिंग भी कहते हैं। वीरशैव इसे इष्टलिंग के रूप में धारण करते हैं। सहज जंगम रूढार्थ से माहेश्वर कहलाता है। महेश्वर को भक्त माहेश्वर ऐसा भी कहा जाता है। जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द की तात्त्विक दृष्टि से परिभाषा की जाती है कि 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण:' उसी प्रकार आगमशास्त्रप्रतिपादित जंगम शब्द शिवतत्त्व का जानकार माना जाता है। अनन्तर ब्राह्मण जातिवाचक बन गया, उसी तरह जंगम भी जातिवाचक बन गया है। वीरमाहेश्वर वंश में जन्म लेने वाला जंगम कहलाता है। जंगम शब्द का तात्त्विक अर्थ सिद्धान्तशिखामणि में–

जानन्त्यतिशयाद् ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम् ।
स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिताः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ११-३६)

प्रपंचप्रकाशक शिवतत्त्व को स्वरूपत: जानने वाला जंगम होता है। वीरशैव सदाचार संग्रह में 'ज' से जननरहित, 'ग' से गमनरहित तथा 'म' से मरणरहित भाव को व्यक्त करने वाला जंगम शब्द कहा है। अत: जंगम जरा-मरण से रहित जीवन्मुक्त महात्मा का वाचक बनता है। उसे शिवयोगी भी कहते हैं। निम्न श्लोक जंगम के स्वरूप का यथार्थ वर्णन करता है।

जकाराज्जननं नास्ति गकाराद् गतिनाशकम् ।
मकारान्मरणं नष्टं जङ्गमस्त्र्यक्षरात्मकः ।।

जंगम शिव स्वरूप ही माना गया है। गुरु लिंग और जंगम इन तीनों में भेद नहीं माना जाता है–

एकमूर्तिस्त्रयो भागाः गुरुर्लिङ्गं तु जङ्गमाः ।

चंद्रज्ञानागम में जगमों के बाह्य दश लक्षण दिये हैं–

तेषां बाह्यानि चिह्नानि दश सन्ति बृहस्पते ।

(चंद्रज्ञानागम४-१२)

तदनुसार १. लिंगधारण, भस्मधारण, रुद्राक्षधारण, २. गुरुसेवा, ३. शिवस्तुति, ४. शिवनामोच्चारण, ५. शिवपूजन, ६. शिवागमों के अर्थ का अनुसन्धान, ७.

शिवपुराण, स्कन्दपुराणादि का श्रवण, ८. पूज्यों को नमस्कार, ९. शिवभक्तों के गृह में भोजन, १०. सत्पात्र, दानधर्म करना ये दश बाह्य लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त १. मानसजप करना, २. मानसपूजा, ३. परमेश्वर स्वरूप का साक्षात्कार करना ये आंतर्लक्षण भी हैं। ऐसा अधिकार होने से जंगम पूज्य माना गया है। शिवपुराण शंकरसंहिता में उसके पूजन का फल दिया है–

संसारसागरेऽगाधे दुःखावर्तशताकुले ।
मज्जतां मनुजानां वै पूजा माहेश्वरस्य नौः ।।

(शंकरसंहिता)

अर्थात् मनुष्यों के लिये संसारसागर पार करने की नौका माहेश्वरपूजन है।

ऐसे शिवयोगी को तृप्त करने से भगवान् शिव तृप्त होते हैं। उनकी तृप्ति से चराचर विश्व तृप्त होता है। सिद्धान्तशिखामणि कहता है–

शिवयोगिनि सन्तृप्ते तृप्तो भवति शङ्करः ।
तत्तृप्त्या तन्मयं विश्वं तृप्तिमेति चराचरम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-११)

जंगमों के भेद

स्वयंजंगम

स्वच्छन्दाचारसन्तुष्टो ज्योतिर्लिङ्गपरायणः ।
आत्मस्थसकलाकारः स्वाभिधो मुनिसत्तमः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १५-५२)

स्वच्छंद आचार से सन्तुष्ट, ज्योतिर्लिंग की अर्चना में तत्पर, अपनी आत्मा में संपूर्ण विश्व को रखने वाला मुनिसत्तम स्वयंजंगम कहलाता है।

चरजंगम–जो स्वरूप के ज्ञान से संपन्न है, जिसने अहंकार ममकार इन भावनाओं को नष्ट किया है, उसे चरजंगम कहते हैं। वीरशैव सदाचारसंग्रह में–

कांश्चिद् दर्शनमात्रेण कांश्चित्तदङ्घ्रिसमीलनात् ।
हस्तावस्पर्षतः कांश्चिन् पावयन् प्रणतान् जनान् ।।
एवं रीत्या भक्तिभिक्षां स्वीकुर्वन् सञ्चरन् सदा ।
चरपट्टाधिकारी यः स एव चरजङ्गमः ।।

(वीरशैव सदाचारसंग्रह १५-३०, ३१)

अर्थात् भक्तों के घर-घर जाकर वे धर्मोपदेश से सभी को कृतार्थता का अनुभव कराते हैं।

परजंगम—इस शिवयोगी का वर्णन सिद्धान्तशिखामणि मे किया है—

स्वतन्त्रः सर्वकृत्येषु स्वपरत्वेन भावितः ।
तृणीकुर्वन् जगज्जालं वर्तते शिवयोगिराट् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १५-६५)

सब कार्यों में स्वतंत्र और अपने को परतत्त्व के स्वरूप में समझने वाला तथा इस संसार को तृणवत् तुच्छ समझने वाला निःस्पृह शिवयोगिराज परजंगम कहलाता है। शिवयोगी को संतृप्त करना पुण्यकारक माना जाता है। वह शिवस्वरूप होने से उसे तृप्त करने का अर्थ शिव को तृप्त करना है। शिवयोगी के तृप्ति से चराचर विश्व तृप्त होता है। ऐसा सिद्धान्तशिखामणि में कहा है। वह जंगम धर्मप्रचार कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पादोदक

अष्टावरणों में चतुर्थ आवरण है पादोदक। 'पादस्य उदकं पादोदकम्'इस विग्रह से गुरु, लिंग, जंगम इन पूजार्हों का पादप्रक्षालित जल यह अर्थ बनता है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के चरण धोकर उसका पानी पीना कितना योग्य है? ऐसा प्रश्न विज्ञानवादी व्यक्ति के मन में आ सकता है। किन्तु यह श्रद्धा का विषय है। जिन गुरु की कृपा से संपूर्ण जीवन पवित्र बनता है, उनके प्रति जो आदरभाव होता है, उसका प्रकटीकरण इसमें है। इसका तात्त्विक अर्थ दर्शाते हुए सिद्धान्तशिखामणि में—

परमानन्द एवोक्तः पादशब्देन निर्मलः ।
ज्ञानं चोदकशब्देन पादोदकमिति स्मृतम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १९-७)

स्वात्मस्वरूप का या परमात्मा का जो निर्मल आनन्द है, वही 'पाद' है, उसका ज्ञान उदक है, ऐसा पादोदक पवित्र माना जाता है। इसे चरणामृत कहते हैं। उसका सेवन करना आनन्दरूप ज्ञान ग्रहण करना होता है। चंद्रज्ञानागम में—

दीक्षा शिक्षा ज्ञानमिति त्रिसंज्ञं तद्भवत्यहो ।

इस वचन से वह त्रिविध होता है। दीक्षापादोदक, शिक्षापादोदक तथा ज्ञानपादोदक। ऐसे पादोदक में ये तीन प्रकार होते हैं।

दीक्षयापगतद्वैतं यज्ज्ञानं गुरुशिष्ययोः ।
आनन्दस्यैक्यमेतेन दीक्षापादोदकं स्मृतम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १९-६)

दीक्षा के द्वारा जो द्वैतरहित ज्ञान और उसके कारण गुरु और शिष्य के आनंद का जो ऐक्य है, उसे दीक्षापादोदक कहते हैं। यहाँ गुरु ही पाद है और शिष्य उदक है, उन दोनों का ऐक्यस्वरूप पादोदक होता है।

गुरु और शिष्य की एकरूपता का ज्ञान, जिनसे योगी को प्रेरणा मिलती है, उन दोनों शिक्षा और ज्ञान की समरसता है, उसे शिक्षापादोदक कहा जाता है। सिद्धान्तशिखामणि में यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है।

गुरुशिष्यमयं ज्ञानं शिक्षा योगिनमीर्यते ।
तयोः समरसत्वं हि शिक्षापादोदकं स्मृतम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १९-६)

ज्ञानपादोदक का अर्थ स्पष्ट करते हुये ज. रेणुकाचार्य जी सिद्धान्तशिखामणि में कहते हैं–

तदैक्यसम्पदानन्दो योऽसौ ज्ञानगुरुर्मतः ।
तत्सामरस्यं शिष्यस्य ज्ञानपादोदकं विदुः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १९-७)

अर्थात् आनन्द के ज्ञान को ज्ञानगुरु मानते हैं, उसके ऐक्य की सम्पत्ति के साथ शिष्य के उस ज्ञान का सामरस्य ही ज्ञानपादोदक कहलाता है।

वीरशैवों के गुरु, लिंग और जंगम पूज्य होने से इन तीनों का पादोदक सेवन किया जाता है। इसे गुरुपादोदक, लिंगपादोदक तथा जंगमपादोदक कहते हैं। चंद्रज्ञानागम में कहा है–

पादतीर्थं सदा पेयं भवबन्धमुमुक्षुभिः ।
गुरोरपीष्टलिङ्गस्य चरस्यापि विशेषतः ।।

(चंद्रज्ञानागम ५-६)

जब गुरु और जंगम दोनों वर्तमान नहीं हैं, तो लिंग पर तीन बार जल डाल कर 'गुरवे नमः, लिंगाय नमः, जंगमाय नमः' कहकर तीनों का पादोदक लेने का विधान है।

गुरोः चरस्य चालाभे इष्टलिङ्गपादोदकम् ।
लब्ध्वा गुर्वादिपादोदं भावयन्मनसैव तत् ।।

(चंद्रज्ञानागम ५-७)

पादोदक निर्माण-विधि

केवल पादप्रक्षालित जल पादोदक नहीं होता है। पादोदक निर्माण का विधि होता

है। पारमेश्वरागम के सप्तम पटल में घर आये श्रीगुरु का स्वागत तथा पादोदक स्वीकृति का विधि दिया है–अपने घर पर आये श्रीगुरुरूप अतिथि को देखकर लिंगी उनका अभ्युत्थान और अभिवादन से स्वागत करे। आदरपूर्वक पंखा झलते हुए उनकी थकावट दूर करे। उनको प्रणाम करे, चरणों को धोकर गन्ध, पुष्पादि से पूजन करे, पुनः पादप्रक्षालन करे। उनके पादाङ्गुष्ठ में रुद्र का, तर्जनी में शंकर का, मध्यमा में महादेव का, अनामिका में त्रियंबक का स्मरण करे। कनिष्ठा में ईशान का, चरण के ऊपर कपर्दी का, चरण के नीचे पंचवदन का, दोनों गुल्फों में उग्र और भर्ग का स्मरण करे। इस तरह से लिंगी गुरु के समस्त चरण को लिंगमय मानकर उसका जल से प्रक्षालन करे और उस जल का आचमन करे अपने शिर पर छिड़के। पादप्रक्षालन के जल की एक बूँद भी जमीन पर न गिरने दे। इस प्रकार चरणोदक का पान कर पुनः उन चरणों की गन्ध, पुष्प, धूप, दीपादि उपचारों से पूजा करे। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि–

न ज्ञातिभेदस्तत्रास्ति लिङ्गिनां शिवयोगिनाम् ।
न दृष्टिस्पृष्टिदोषो वा सर्व एव शिवाः शिवे ।।

(पारमेश्वरागम ७-१३)

अर्थात् इष्टलिंगधारी शिवयोगियों में जातिभेद नहीं माना जाता, दृष्टिदोष अथवा स्पर्शदोष की भी प्रवृत्ति नहीं होती। एक पात्र में संगृहित पादोदक उपस्थित सभी भक्तों को क्रमशः सेवन करने की इच्छा रहती है। प्रथम व्यक्ति के सेवन करने के पश्चात् पात्रस्थ प्रसाद सेवन करने के लिए अन्य भक्त आकर पादोदक लेते हैं। इसमें पादोदक उच्छिष्ट होने की शंका यदि कोई भक्त करता है, वह समुचित नहीं है। वीरशैवानन्दचंद्रिका ग्रंथ में **'न पर्युषितमश्नीयान्नोच्छिष्टं न कदर्थितम्'** अर्थात् लिंगांकित भक्त पंचसूतक वर्जित होते हैं। उन्हें उच्छिष्ट सूतक नहीं होता है।

प्रसाद

सद्गुरु शिष्य पर प्रसन्न होते हैं, तो उसे पादोदक के साथ प्रसाद भी मिलता है। गुरु के हाथ से कुछ खाद्यपदार्थ मिलता है, तो उसे ही प्रसाद कहते हैं, किन्तु प्रसाद शब्द व्यापक अर्थ में लिया जाता है। सिद्धान्तशिखामणि में कहा है कि–**'नैर्मल्यं मनसो लिङ्गं प्रसाद इति कथ्यते'** अर्थात् मन की निर्मलता का चिह्न प्रसाद होता है। निर्मलत्व का अर्थ प्रसन्नता है। प्रसाद का भी अर्थ प्रसन्नता ही है **'प्रसादस्तु प्रसन्नता'** यह कोशकार की उक्ति प्रसिद्ध है। गीताकार कहते हैं कि **''प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।''** अर्थात् गुरुप्रसाद से आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दोष नष्ट हो जाते हैं। गुरु के उपदेश से मन निर्विकार होता है, लोभ रागद्वेषादि विकार नष्ट होने से मन की निर्मलता होती है। मन में विषय-विकार रहता है, तो जीव बंधन में आता है–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं स्मृतम् ।।

इस उपनिषदुक्ति से स्पष्ट है कि मुक्ति के लिये निर्विषय मन ही कारण होता है। अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये प्रसाद ही कारण होता है। हम जो अन्न सेवन करते हैं, वह लिंगार्पित होने से प्रसाद ही होता है। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः इस वचन से स्पष्ट है कि लिंगार्पित शुद्ध अन्न पवित्र होता है, उससे मन-बुद्धि पर सुसंस्कार होता है। आहार का अर्थ केवल अन्नग्रहण नहीं है। आह्रियते संगृह्यते मनसा बुद्ध्या इन्द्रियैर्वाऽऽहारः । अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियों से जो ग्रहण किया जाता है, वह आहार है। इसलिये सभी इन्द्रियों के सभी भोग लिंगार्पित करके स्वीकार करना चाहिये।

भुञ्जीयाद् रुद्रभुक्तान्नं रुद्रपीतं जलं पिबेत् ।
रुद्राघ्रातं च जिघ्रेत इति जाबालिकी श्रुतिः ।।
अर्पयित्वा निजे लिङ्गे पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
अन्नाद्यं सर्वभोज्यं च स्वीकुर्याद् भक्तिमान् नरः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-७०, ७१)

शिवभक्तों को सभी इन्द्रियों के विषय सेवन करते समय लिंगार्पित करना चाहिये। इसे अर्पण सद्भाव कहते हैं। गुरु, लिंग और जंगम तीन वीरशैवों के पूज्य हैं। गुरु का प्रसाद शुद्ध प्रसाद, लिंग का प्रसाद सिद्ध प्रसाद तथा जंगम का अवशिष्ट प्रसाद प्रसिद्ध प्रसाद होता है। वीरशैवों को इन तीनों के प्रसादों को स्वीकार प्रतिदिन करना चाहिये।

भस्म

भस्म शब्द का तात्त्विक अर्थ है परशिव प्रकाश। व्यावहारिक अर्थ है गोमयनिर्मित विभूति। **'भस्मधारणादेव मुक्तिर्भवति। तद्भस्मधारणादेव शिवसायुज्यमाप्नोति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते स एष भस्मज्योतिः'** अर्थात् ऐसे शिवस्वरूप भस्म धारण करने से मुक्ति मिलती है, उसे पुनर्जन्म नहीं होता। यह भस्म का निरुपाधिक स्वरूप है। आरुणि, श्वेतकेतु आदि महर्षि परशिवप्रकाश चिन्तन रूप भस्म धारण करने से मुक्त हो गये हैं, ऐसा निरूपण किया गया है। यह महाभस्म प्रत्यक्ष शिव का स्वरूप है। द्वितीय स्वल्पभस्म जो गोमयनिर्मित होता है, उसको भी धारण किया जाता है। यह सोपाधिक भस्म होता है। भगवान् शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान पंचमुख होते हैं। इन मुखों से पंच गायें उत्पन्न हुई। सद्योजात से नंदा, वामदेव से भद्रा, अघोर से सुरभि, तत्पुरुष से सुशीला और ईशान से सुमना, इस प्रकार उत्पत्ति बतलायी है। क्रमशः कपिल, कृष्ण, धवल, धूम्र और रक्त इनके वर्ण बतलाये गये हैं। इन गायों के गोमय से विभूति,

भसित, भस्म, क्षार, रक्षा–यह पाँच प्रकार के भस्म उत्पन्न किये गये। इस भस्म के कल्प, अनुकल्प, उपकल्प और अकल्प चार प्रकार होते हैं। इनका निर्माण विधियुक्त किया जाता है। सद्योजात मंत्र का उच्चारण करते हुए गाय का ताजा गोबर लेकर, वामदेव मंत्र से उसके पिंड बनाना, तत्पुरुष मंत्र से उनको धूप में सुखाना, अघोर मंत्र से उसे जलाना, ईशान मंत्र से बिल्वादि पात्र में रखना इस प्रकार उत्पन्न हुआ कल्प भस्म होता है। वन में गाय का जो सूखा गोबर होता है, उसे जलाने पर अनुकल्प भस्म होता है। दूकान से लाया भस्म कपड़े से छानकर गोमूत्र से पिंड बनाकर जलाया गया भस्म उपकल्प भस्म होता है। अन्य विधान को न जानने वालों के द्वारा तैयार किया गया अकल्प भस्म कहलाता है। इस प्रकार तैयार किये गये भस्म से प्रतिदिन त्रिकाल या एक बार जैसा संभव हो, स्नान करना चाहिये। इसे आग्नेय स्नान कहा जाता है।

भस्मना विहितस्नानमिदमाग्नेयमुत्तमम् ।
स्नानेषु वारुणाद्येषु मुख्यमेतन्मलापहम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ७-२३)

यह स्नान जलस्नान से श्रेयस्कर होता है।

शरीर के पंद्रह स्थान पर भस्म को धारण करना चाहिये। विधि इस प्रकार प्रथम **ओं अस्य श्रीविभूतिधारणमन्त्रस्य पिप्पलाद ऋषिः देवी गायत्री छन्दः कालाग्निरुद्रो देवता अग्निरिति बीजं भस्मेति शक्तिः शिव इति कीलकं मम शिवज्ञानसम्पत्तिसिद्ध्यर्थं भस्मधारणे विनियोगः**–कह कर भस्म का करन्यास और देहन्यास 'कालाय नमः' आदि मंत्रों से करना चाहिये। अग्निरिति भस्म. इस मंत्र से अभिमंत्रित कर त्र्यायुषं. मंत्र कहकर पंद्रह स्थान पर समंत्र त्रिपुंड्र भस्म धारण करना चाहिये।

उत्तमाङ्गे ललाटे च श्रवणद्वितये तथा ।
गले भुजद्वये चैव हृदि नाभौ च पृष्ठके ।।
बाहुयुग्मे ककुद्देशे मणिबन्धद्वये तथा ।
त्रिपुण्ड्रं भस्मना धार्यं मूलमन्त्रेण साधकैः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ७-३२)

दायें हाथ के तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका से त्रिपुंड्र छः अंगुल लंबा, भस्म धारण करना चाहिये।

रुद्राक्ष

अष्टावरणों के सातवें स्थान पर रुद्राक्ष आता है। **'रुद्राक्षवृक्षबीजाय भूतिसम्भूतिहेतवे'** इस वचन के अनुसार यह वृक्ष का फल है। भगवान् शिव को प्रिय है, अतः शिवभक्तों

के लिये भी सर्वदा धारणीय है। रुद्राक्ष शब्द का तात्त्विक दृष्टि से भी अर्थ किया जाता है 'रुद्रस्य अक्षः रुद्राक्षः' इस व्युत्पत्ति से रुद्र का नेत्र अर्थात् दृष्टि ऐसा अर्थ किया जाता है। चराचर प्रपंच का रुद्र की–भगवान् शिव की दृष्टि से अवलोकन करना रुद्राक्ष है। भगवान् शिव समदर्शी हैं। सभी को समान भाव से देखते हैं। समता की दृष्टि से समाज में शांति स्थापित करने का हेतु साध्य हो सकता है। इस हेतु से व्यवहार करना अन्तरंग दृष्टि से रुद्राक्ष धारण करना है। यह उदात्त दृष्टिकोण लगता है। हमारे सिद्धान्तशिखामणि में शिवदृष्टि का विचार इस तरह प्रकट हुआ है–

शिवात्मकमिदं सर्वं शिवादन्यं न विद्यते ।
शिवोऽहमिति या बुद्धिस्तदेव ज्ञानमुत्तमम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १६-१३)

वैसे रुद्राक्ष उत्पत्ति की एक पौराणिक कथा आती है। चंद्रज्ञानागम में–

त्रिपुराणां वधार्थाय विभुना शम्भुना पुरा ।
उन्मीलितानि चक्षूंषि दिव्य वर्षसहस्त्रकम् ।।
उभाभ्यां चारुपक्ष्माभ्यां पतिता जलबिन्दवः ।
त एव बिन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षकाः ।।

(चंद्रज्ञानागम ७-४, ५)

प्राचीन काल में तारकासुर नामक राक्षस था। उसके तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष नाम के तीन पुत्र थे। ब्रह्माजी के प्रसन्नतार्थ उन्होंने अत्युग्र तपश्चरण किया। प्रसन्न हुए ब्रह्माजी ने उनकी प्रार्थनानुसार उन्हें तीन पुर बनवा दिये। त्रिपुरों में रहने से उन्हें त्रिपुरासुर कहते थे। तपश्चर्या के बाद वे निषिद्धाचरण करने लगे, देवों को त्रस्त करने लगे। देवों ने भगवान् शिव से प्रार्थना की। उन्होंने तीनों के पुरों को जलाकर तीनों राक्षसों को मार डाला। उस समय भगवान् शिव के नेत्रों से जो जलबिन्दु गिर गये, उनसे रुद्राक्ष वृक्ष की उत्पत्ति हुई। भगवान् शिवजी के तीन नेत्र सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि हैं। उन नेत्रों के जल से उत्पन्न होने से उनके मुख्य तीन प्रकार हो गये। सूर्य की बारह कलाएँ, चन्द्र की सोलह कलाएँ तथा अग्नि की दस कलाएँ होने से उनके अड़तीस भेद हो गये। सूर्य नेत्र से उत्पन्न रुद्राक्ष कपिल वर्ण के, चन्द्र नेत्र से उत्पन्न श्वेत वर्ण के, अग्नि से उत्पन्न कृष्ण वर्ण के हो गये। रुद्राक्ष फल है, उसके मुख होते हैं। एक से लेकर चौदह मुख वाले रुद्राक्ष होते हैं। उनके उपयोग भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। वात, पित्त और कफ तीनों प्रकृति के लोग होते हैं। प्रकृति के अनुसार उनको रुद्राक्ष धारण सूचित किये जाते हैं। औषधि गुण से रुद्राक्ष को उपयुक्त माना जाता है। विशेषकर हृदयरोगियों के लिये रुद्राक्ष अत्युपयुक्त होते हैं। जिसमें छिद्र नहीं है, जो सुवर्णकांति के हैं, किसी अन्य व्यक्ति ने धारण नहीं किये, वे अच्छे माने जाते हैं। सिद्धान्तशिखामणि में–

अच्छिद्रं कनकप्रख्यमनन्यधृतमुत्तमम् ।
रुद्राक्षं धारयेत् प्राज्ञः शिवपूजापरायणः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ७-५२)

शिखा में एक एकमुखी शिवस्वरूप रुद्राक्ष धारण करें। दो, तीन और द्वादशमुखी तीन रुद्राक्ष शिर पर, एकादशमुखी छत्तीस रुद्राक्ष मस्तक पर, दशमुखी दो रुद्राक्ष, पंचमुखी दो रुद्राक्ष और सप्तमुखी दो रुद्राक्ष ऐसे छः-छः कर्णों में, षण्मुखी सोलह अष्टमुखी सोलह ऐसे बत्तीस कंठ में, चौदहमुखी पचास वक्ष पर, तेरहमुखी सोलह-सोलह दोनों बाहु पर, नवमुखी बारह-बारह मणिबन्धों पर, चौदहमुखी एक सौ आठ रुद्राक्ष की माला यज्ञोपवीत वत् धारण करना चाहिये।

मन्त्र

वीरशैव अष्टावरणों में अंतिम आवरण मंत्र होता है। मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति मत्री-गुप्तभाषणे इस धातु से 'मन्त्र्यते गुप्तं परिभाष्यते' अथवा 'मन्त्रयते गुप्तं भाषते इति मन्त्रः' इस प्रकार दी जाती है। मंत्र में रहस्य होता है। वह श्रीगुरु शिष्य के कान में देते हैं।

तस्य दक्षिणकर्णे तु निगूढमपि कीर्तयेत् ।
छन्दो रूपं ऋषिं चैव देवता न्यासपद्धतिम् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ६-२१)

अर्थात् मांत्री दीक्षा में शिष्य के दक्षिण कर्ण में मंत्र दिया जाता है। मंत्र का, छंद, रूप, ऋषि, देवता, न्यासपद्धति बतलाते हैं। उपदेशस्वरूप षडक्षर मंत्र दिया जाता है। वेदान्तशास्त्र में आत्मकल्याण के लिये महावाक्य 'तत्त्वमसि' का उपदेश किया जाता है। वीरशैवों में 'नमः शिवाय' मंत्र का उपदेश दिया जाता है। इस मंत्र में तत्त्वमसि का अर्थ ही है। तत्त्वमसि के 'तत्' 'त्वं' और 'असि' तीन पद होते हैं। इस मंत्र में भी 'नमः' 'शिव' तथा 'अय' ये तीन पद होते हैं। नमः का अर्थ 'त्वं' पदवाच्य जीव है, शिव का अर्थ तत्पदवाच्य शिव है तथा 'अय' पद का 'असि' अर्थ है। इस मंत्र में 'तत्त्वमसि' का सार संग्रह है। इसमें लिंगांगसामरस्य विज्ञान भी है, जैसा कि–

अङ्गं नमः पदमसौ शिव एव लिङ्गं सम्बन्ध एष यदयेति पदं तदुक्तम् ।
लिङ्गाङ्गसङ्गमपदत्रयबोधनार्थं मन्त्रोऽयमेवमभिधास्यति मन्त्रराजः ।।

(अनुभवसूत्र ६-४६)

अंग अर्थात् जीव और लिंग अर्थात् शिव, इन दोनों का ऐक्य इस मंत्र के जपाभ्यास से साध्य होता है। यहाँ अंग 'नमः' शब्द से, लिंग 'शिव' शब्द से तथा 'अय' पद से दोनों का ऐक्य व्यक्त करनेवाला यह मंत्र मंत्रराज है। सात कोटि मंत्रों में यही महान् माना गया है। चंद्रज्ञानागम में–

सप्तकोटि महामन्त्रा रूपवक्त्रैरनेकधा ।
पञ्चाक्षरे प्रलीयन्ते पुनस्तस्माद्विनिर्गतः ।।

(चंद्रज्ञानागम ८-४५)

पंचाक्षर मंत्र में प्रणव लगाने से वह षडक्षर बनता है। वैदिक परंपरा में प्रणव का महत्त्व प्रतिपादित है। अतः 'प्रणवेन षडक्षरी' बनता है। मांत्री दीक्षा में जीव के मायीय मल की निवृत्ति होती है। जीव जो स्वयं को शिव से भिन्न मानता है, वह भेद निवृत्त होकर 'शिवोऽहम्' भाव निर्माण होता है।

जप करने के तीन प्रकार होते हैं। जो पास बैठे हुए लोगों के द्वारा सुना जा सके, वह वाचिक जप कहलाता है। केवल ओठों को छूते हुए जो धीमे-धीमे कहा जाता है, वह 'उपांशु' जप कहलाता है। जिस जप में दोनों ओठ नहीं स्पृष्ट होते मुख के अन्दर जिह्वा भी नहीं हिलती, जिसकी वर्ण रूप में अन्दर-अन्दर भावना की जाती है, उसे 'मानस' जप कहते है। वाचिक तथा उपांशु से मानस जप श्रेष्ठ माना जाता है। इष्टलिंग पूजा के पश्चात् लिंग वामहस्त में दृष्टि के सामने रखकर जप किया जाता है। चंद्रज्ञानागम में–

यदिष्टलिङ्गं सम्पश्यन् वामहस्तस्थितं परम् ।
जपते तत्फलं वक्तुं न मया शक्यते गुरो ।।

(चंद्रज्ञानागम ८-७४)

पंचाचार

वीरशैव जिस शिवाद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं, उस शिवाद्वैतसिद्धान्त के विचारविषय में षट्स्थल सिद्धान्त, अष्टावरण तथा पंचाचार तीन घटक प्रमुखता से विचारणीय हैं। उसमें से इस प्रकरण में पञ्चाचारों का स्वरूप, चिन्तनीय है।

धर्मदर्शन और धर्माचार धर्म के दो प्रमुख अंग होते हैं। धर्मदर्शन को हम तत्त्वज्ञान के रूप में देखते हैं और दूसरा आचार। अंग्रेजी में पहला जेमवतल है तो दूसरा च्तंबजपबंस है। जीव, जगत् तथा जगदीश्वर तीन जकारों का परस्पर सम्बन्ध पहले प्रकार में है तथा दूसरे प्रकार में जीव ब्रह्मरूप कैसे होगा, इसका आचार मार्ग बतलाया जाता है। हमारे यहाँ ज्ञान तथा आचार का समन्वय माना गया है। पांडित्य का मापदंड केवल ज्ञान नहीं है, अपितु क्रियाशीलता भी है। **'न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया'** ऐसा परमरहस्य कहता है। **'यः क्रियावान् स पण्डितः'** यह हमारी मान्यता है। **'आचारः परमो धर्मः'** माना गया है। अतः वीरशैवों में आचार को अलंकार कहा गया है।

आचार एव सर्वेषां अलङ्काराय कल्पते ।
आचारहीनः पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।।

(चंद्रज्ञानागम १-९)

आचार से जीवन को सौंदर्य प्राप्त होता है। यह अन्तरंग सौंदर्य है। आचार पाँच माने गये हैं। उनके प्रकार हैं–लिंगाचार, सदाचार, शिवाचार, गणाचार तथा भृत्याचार। प्रत्येक आचार का स्वरूप तथा वैशिष्ट्य यहाँ संक्षेप में देखेंगे।

१. लिंगाचार

वीरशैव धर्म में शरीर पर लिंगधारण तथा हस्तपीठ पर पूजन ये दो विशेषतायें कही गयी हैं। सिद्धान्तशिखामणि में इस धर्म को **'धर्मो लिंगार्चनात्मकः'** ऐसा कहा है। लिंग ब्रह्मरूप बतलाया गया है।

ओम् नमो लिङ्गरूपाय जगज्जन्मादिहेतवे ।
निगमागमवेद्याय भक्तसिद्धिप्रदायिने ।।

(श्रीकरभाष्य भूमिका १)

लिंग जगत्कारण है। इससे जगत् निर्माण होता है। इसकी सत्ता से जगत् पाला जाता है तथा लिंग तत्त्व में लीन होता है। ऐसे जीवनाधार लिंग की निरन्तर उपासना वीरशैव का कर्तव्य है। श्रीगुरु शिष्य को उपदेश देते समय कहते हैं कि इसे प्राण के समान रखना इसे प्राणलिंग भी कहा जाता है। कभी भी इसका शरीर से वियोग नहीं होने दिया जाता। इस लिंग से बढ़कर कोई दैवत नहीं है। दीक्षा प्रकरण में कही गई उपमादि इक्कीस प्रकार की दीक्षायें लिंगाचार के अन्तर्गत आती हैं। लिंगधारी मनुष्य के लिये इसके धारण तथा पूजन के संदर्भ में सूतकादि का निषेध कहा गया है। सिद्धान्तशिखामणि में–

लिङ्गार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम् ।
तथा प्रसूतिकायाश्च सूतकं नैव विद्यते ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-४४)

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीन देह माने जाते हैं। इन तीनों देहों पर क्रमशः इष्टलिंग, प्राणलिंग तथा भावलिंग धारण किये जाते हैं। इष्टलिंग का अर्चन, प्राणलिंग का चिंतन और भावलिंग का निदिध्यासन करना लिंगाचार के अन्तर्गत है। इसकी पूजा हस्तपीठ पर करने का वीरशैव के लिये विधान है। पूजा के समय इसे हस्तपीठ पर रखकर एकाग्र दृष्टि से देखते-देखते बहिर्मुख वृत्तियों को अन्तर्मुख करना लिंगाचार होता है। दीक्षा में इस लिंग के साथ साधक का विवाह होता है। तब से लिंग पति तथा अंग सती ऐसा सती-पतिभाव रखकर लिंगार्चन अनन्य भाव से किया जाता है। जीव के लिये लिंग के बिना कोई आधार-आलम्बन नहीं रहता है। इन सब आचारों को लिंगाचार कहते हैं।

२. सदाचार

लौकिक जीवन में वीरशैव जिस नीतिमत्ता से जीवनयापन करता है, उस आचार को सदाचार कहते हैं। उपास्य को सदाचरण अतिप्रिय है। कहते हैं कि–

सदाचारप्रियः शम्भुः सदाचारेण पूज्यते।
सदाचारं विना तस्य प्रसादो नैव जायते।।

(सिद्धान्तशिखामणि ६-६६)

साधक भगवान् शिव की प्रसन्नता यदि चाहता है, तो सदाचार के बिना नहीं मिलती। वीरशैव के लिये दस तत्त्वों का आचार आवश्यक माना गया है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दया क्षमा।
दानं पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य सङ्ग्रहः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि १६-५९)

अहिंसा—किसी जीव की हत्या करना तो हिंसा है ही, किन्तु किसी भी जीव को कायेन, वाचा, मन के द्वारा दुखाना हिंसा है, यह वीरशैवीय दृष्टिकोण है। अत: इस दुराचार से दूर रह कर 'जीयो और जीने दो' का पालन करना अहिंसा है। अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिये आज मानव हिंसा में प्रवृत्त हो रहा है। इससे आज अशान्ति बढ़ रही है। अन्य जीवों को मारकर उसके सम्पत्ति का अपहार करता है, यह दुराचार है, पाप है, यह सोच आवश्यक है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में अहिंसा तत्त्व का अगर पालन किया जाता है, तो समाज में शान्ति की प्रतिष्ठापना होगी।

सत्य—हम भारतीय प्राचीन काल से सर्वदा कहते हैं कि 'सत्यं वद धर्म चर' सत्य वचन कहना धर्माचरण है। **'सत्यपूतां वदेद् वाचं वस्त्रपूतं जलं पिबेत**—यह हमारी नीति है। सत्य के रूप है, एक है व्यावहारिक सत्य और दूसरा केवल सत्य। जो जिस प्रकार से है, वैसा उसका निवेदन करना केवल सत्य है, किन्तु वह वचन यदि भूतमात्र की हिंसा करता है, तो वह सत्य नहीं है। रास्ते से गयी गाय कहाँ गयी इस प्रश्न का उत्तर कसाई को सत्य बता दे, तो हिंसा होती है, अत: वहाँ असत्य बोलना ही सत्य है। महाभारत कहता है। **यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यं**—जिससे भूतमान का आत्यन्तिक हित होता है, वही सत्य है। इस सत्य का विचारपूर्वक पालन करना आचरणीय धर्म है।

अस्तेय—किसी की चोरी नहीं करना अस्तेय धर्म है। चोरी अनैतिक आचार कहा गया है। बसवण्णा उपदेश में स्तेय वृत्ति का निषेध करते हैं।

ब्रह्मचर्य—इन्द्रियों पर संयम रखे बिना चित्त एकाग्र नहीं होता है। चित्त की एकाग्रता के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। अत: ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य एक आश्रम है। पच्चीस वर्ष की आयु तक इस व्रत का आचरण करते-करते अध्ययन करना धर्म माना गया है, किन्तु जीवन भर इस व्रत का पालन तत्त्वत: करना चाहिये। 'मातृवत्परदारेषु' की दृष्टि रखना ब्रह्मचर्य ही है।

दया और दान—दया को धर्म का 'मूल' मानते हैं। जिनको किसी का आश्रय नहीं है, उनके लिये कुछ समर्पण करना दया है। समाज में कुछ ऐसे दुर्बल घटक हैं, जिन्हें सहानुभूति की, सहायता की आवश्यकता होती है, उन्हें दान करना धर्म है। सत्पात्र को दान करना चाहिये। जिनके पास अधिक धन है, वह दान करने से समानता का तत्त्व पालन करने में सहायता होती है, अत: पात्र व्यक्ति को, विद्यार्थी को दान देना चाहिये। इसलिये कहा है **'हस्तस्य भूषणं दानम्'**।

क्षमा—भूमि से हम सीख सकते हैं क्षमा क्या है। **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**– इस प्रकार भूमि को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। हम उसके शरीर पर चलते हैं, खेलते हैं, खेती के लिये हल चलाते हैं, फिर भी वह हमको सस्यादि देकर उपकृत करती है, वही वृत्ति क्षमा है। कोई हमें तकलीफ देता है, तो उसे क्षमा दृष्टि से देखना धर्म है।

पूजा—अपने उपास्य देवता को विविध उपचारों से पूजन करते हैं। उसके प्रति आदर व्यक्त करते हैं। जो पालन करता है, उसका ऋण मानना चाहिये। एक अन्तरंग पूजा भी होती है, जिसमें सभी उपचार मानसिक होते हैं। जब हम बाह्य पूजा नहीं कर सकते, तब मानस पूजा का विधान किया गया है।

जप—जप अर्थात् मंत्र या नाम का बारंबार उच्चारण करना जप है। जिसका जप करते हैं, उसका रूप प्राप्त होता है, अत: कहते हैं कि–**तज्जपस्तदर्थभावनम्** । वीरशैव पंचाक्षर-षडक्षर मंत्र का जप करते हैं, उससे मन में विकार नहीं आते। अत: जप करना चाहिये। पंचाक्षर मंत्र, प्रणव, रुद्राध्याय इनका अभ्यास जप कहलाता है।

ध्यान—**'मनो महेशध्यानाढ्यं नान्यध्यानरतं मनः'** इसप्रकार सिद्धान्तशिखामणि में भगवान् शिव का ध्यान करने का आदेश दिया है। **'शिव एको ध्येयः'** इस वचन का भी यही तात्पर्य है। प्रपंच ध्यान करेंगे, तो प्रपंच नश्वर होने से इसका ध्यान निरर्थक होगा। अत: परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

इसप्रकार सदाचार धर्म का पालन करना चाहिये। चंद्रज्ञानागम में सदाचार के आठ शील बताये हैं। अंकुर शील, उत्पन्न शील, द्विदल शील, प्रवृद्ध शील, सप्रकांड शील, सशाख शील, सपुष्प शील तथा सफल शील इनके नाम हैं।

अंकुरशील—पवित्र दीक्षा से आणवादि मलत्रय निवृत्त होते हैं और अंत:करण में दिव्य भाव अंकुरित होता है, उसे अंकुर शील कहते हैं।

उत्पन्नशील—जिस दीक्षा से परिशुद्धि मिलती है, वही दीक्षा परिवार के सभी सदस्यों को दिलाना चाहिये। इस आचार को उत्पन्न शील कहते हैं।

द्विदलशील—जो भगवान् शिव को प्रिय है। उनको धारण करना चाहिये। भस्म, रुद्राक्ष धारणीय हैं, मंत्र जप है, यह ध्यान में रखना द्विदल शील है।

प्रवृद्धशील—साधक को भगवान् शिव का गुण संकीर्तन करना चाहिये। शिवकथा श्रवण करना, उसका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। इससे भक्ति वृद्धिंगत होती है। इसे प्रवृद्ध शील कहते हैं।

सप्रकांडशील—इष्टलिंगपूजन महाव्रत है। पूजा किये बिना कुछ भी सेवन नहीं करना चाहिये। यह संकल्प सप्रकांड शील होता है।

सशाखशील—इष्टलिंग को समर्पित किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये। इसे सशाख शील कहते हैं।

सपुष्पशील—इष्टलिंग को समर्पित किया पदार्थ प्रसाद रूप होता है, उसका त्याग नहीं करना चाहिये।

सफलशील—गुरु, लिंग तथा जंगम इनको समान भाव से देखना सफल शील होता है।

इसप्रकार सदाचार के आठ शील होते हैं।

३. शिवाचार

चंद्रज्ञानागम में शिवाचार का स्वरूप वर्णन किया है—

द्रव्यक्षेत्रगृहादीनां षोडशानां विशोधनम्।
शिवशास्त्रोक्तमार्गे शिवाचार इति स्मृतः।।

(चंद्रज्ञानागम ९-३२)

अर्थात् द्रव्य क्षेत्र, गृह आदि सोलह पदार्थों को शिवशास्त्रविहित पद्धति से परिशुद्ध करना ही शिवाचार है। सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह तथा अनुग्रह इन्हें पंचकृत्य कहते हैं। इनके कर्ता भगवान् शिव ही हैं। उसके बिना कोई भी शरण्य नहीं है। यह अनन्य भाव ही शिवाचार है। शिवभक्त को आचारविषयक दृढता यहाँ दर्शायी गयी है। सिद्धान्तशिखामणि कहता है—

शिवभक्तो महातेजाः शिवभक्तिपराङ्मुखान्।
न स्पृशन् नैव वीक्षेत न तैः सह वसेत् क्वचित्।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-२७)

शिवभक्तिपराङ्मुख लोगों का दर्शन, स्पर्शन, सहवास नहीं करना चाहिये। चंद्रज्ञानागम में शिवाचार के सोलह शील बताये हैं।

द्रव्यशुद्धि—फल, मूल इत्यादि का शुद्धिकरण भक्त के स्पर्श से, गुरुपादोदक से या शुद्ध भस्मप्रोक्षण करने से द्रव्यशुद्धि होती है।

क्षेत्रशुद्धि–कृषि क्षेत्र से चारों कोने में नंदिमुद्रांकित शिला रखकर क्षेत्र शुद्ध करे।

गृहशुद्धि–अपने लिये घर बनवाने के पश्चात् शिवलिंगाङ्कित करना चाहिये।

भांडशुद्धि–नित्योपयोगी पात्र भक्तनिर्मित होना अथवा शिवलिंगाङ्कित करना चाहिये।

तृणशुद्धि–भक्तों से लाया गया तृण स्वीकारना या भस्म प्रोक्षण करके स्वीकार करना चाहिये।

काष्ठशुद्धि–भक्तों से लाये गये अथवा भस्म प्रोक्षित किया हुआ काष्ठ लाना ही काष्ठशुद्धि है।

वीटिकाशुद्धि–भोजन के पश्चात् सेवन करने के लिये ताम्बूल के लिये जो पान लाये जाते हैं, वे भक्तों से लाये या उन पर संस्कार करे। अन्य पदार्थ भी संस्कार करके ही लेना चाहिये। यह वीटिकाशुद्धि होती है।

पाकशुद्धि–दीक्षा संपन्न व्यक्ति के द्वारा बनाया और अदीक्षित व्यक्ति का स्पर्श नहीं हुआ ऐसा अन्न सेवन करना चाहिये।

रसशुद्धि–दूध, दही, तक्र, घी आदि पदार्थ गाय के दूध से बने होने चाहिये, भैंस आदि के नहीं।

भवशुद्धि–काम्य कर्मों का त्याग करे, निष्काम कर्म करके अन्तःकरण निर्मल रखना, पुनर्जन्म नहीं हो, ऐसी मोक्षस्थिति और ज्ञान संपादन करे, यही भवशुद्धि है।

भूतशुद्धि–'आत्मवत्सर्वभूतेषु' समझकर सभी प्राणियों पर भूतदया रखे।

भावशुद्धि–सभी कामनाओं का त्याग कर सदैव मन में शिवभाव रखे।

मार्गशुद्धि–रास्ते में चलते समय सूक्ष्म जीवों की हिंसा नहीं हो, इसका ध्यान रखना चाहिये।

कालशुद्धि–शास्त्रानुसार नीरव मनोहर समय पर शिवलिंगाराधना करे, यह कालशुद्धि है।

वाक्शुद्धि–असत्य, कठोर, बीभत्स भाषण न करे।

जनशुद्धि–सदा सर्वदा सद्भक्तों के साथ रहे, यही जनशुद्धि है।

४. गणाचार

भोग और मोक्ष का एकमात्र साधन गणाचार है। भक्त गणों से अनुष्ठित आचार होने से इसे गणाचार कहते हैं। चन्द्रज्ञानागम में कहते हैं–

गणाचारमतो वक्ष्ये भोगमोक्षैकसाधनम् ।
अनुष्ठितो भक्तगणैर्गणाचार इतीरितः ।।

(चंद्रज्ञानागम ९-५१)

हमारी इष्टदेवता, सद्‌गुरु, धर्मशास्त्र, पवित्र क्षेत्र, हमारी संस्कृति, हमारा धर्म, परम्परा, अस्मिता इनके सम्बन्ध में जाज्वल्य अभिमान रहना चाहिये। कोई इनके सम्बन्ध में अपशब्द बोलता है तो उसका तत्काल खंडन करना, उसे दण्ड देना गणाचार है। सिद्धान्तशिखामणि में कहा है–

शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयेदथवा शपेत् ।
स्थानं वा तत्परित्यज्य गच्छेद् यद्यक्षमो भवेत् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-३६)

कोई नराधम भगवान् शिव की निन्दा करता है, तो उसे मारना चाहिये, उसका मुह बंद करना चाहिये, उसका खंडन करना चाहिये, नहीं तो वहाँ से चला जाना चाहिये। शिवनिन्दा करने वाले दक्ष का वीरभद्र ने शिरच्छेद किया। उसी दक्ष के यज्ञमंडप में शिव पत्नी सती ने शिव निन्दा सुनते ही यज्ञकुंड में अपना शरीर त्याग दिया। बिज्जल राजा के नगरी में शिवशरणों को शिवनिन्दा सुनने का प्रसंग आया, तो वे वहाँ से दूर चले गये। फिर कल्याण नगरी को नहीं आये। ये गणाचार के उदाहरण हैं। हरदत्ताचार्य ने भगवान् शिव का माहात्म्य प्रतिपादन किया और अग्निदिव्य करके अपना गणाचार सिद्ध किया। वाचिकादि चतुष्षष्टि शील चंद्रज्ञानागम में बताये हैं। उनमें वाचिक, पाणिगत, पादगत, त्वचागत, चक्षुगत, जिह्वागत, घ्राणगत, श्रोत्रगत, कायशोधन, मानसिक ऐसे शील हैं, उनको स्वीकार करना गणाचारी भक्ति होती है। सभी इन्द्रियों का विषय शिव ही होना चाहिये।

मनो महेशध्यानाढ्यं नान्यध्यानरतं मनः ।
शिवनामरता वाणी वाङ्मता चैव नेतरा ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ९-१८)

५. भृत्याचार

भृत्य अर्थात् सेवक। स्वयं को शिवसेवक मानकर भक्त की सेवा करता है, उस सेवा को भृत्याचार कहते हैं। गुरु, शिव तथा जंगम सेव्य होते हैं। उनका समादर करना भृत्याचार है।

शिवभक्ता जनाः सर्वे वरिष्ठा पृथिवीतले ।
तेषां भृत्योऽहमिति यद् भृत्याचार इति स्मृतः ।।

(चंद्रज्ञानागम ९-९)

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत मन्मथ स्वामी कहते हैं–

गुरु आणि लिंग जंगमाची सेवा ।
देई मज देवा जन्मोजन्मी ।।

मुझे मोक्ष नहीं चाहिये, मुझे प्रत्येक जन्म में गुरु-लिंग-जंगमों की भक्ति चाहिये।

ज. श्रीपतिपंडितभगवत्पादाचार्य कहते हैं–

शिव त्वद्दासदासोऽयस्तद्दासोऽस्मीति या सुधीः ।
तां दत्वा कृपया पाहि जन्मजन्मान्तरेऽपि माम् ।।

(श्रीकरभाष्य भूमिका ३)

हे शिवजी, आपके दास का जो दास है, उसका दास्य करने की बुद्धि जन्मजन्मांतर में मुझे कृपया दीजिये।

इस प्रकार से साधक में अहंकार आने की सम्भावना नहीं रहती। सेवाभाव में उसे समाधान, आनंद मिलता है, वह उच्चस्तर का आनंद होता है।

शैवागम वीरशैव धर्मदर्शन का प्रमुख होता है। इसमें दर्शनशास्त्र है, नीतिशास्त्र है तथा आचारशास्त्र है। अत: इसे प्रमाण मानने वाला वीरशैव धर्म सर्वांगपरिपूर्ण है। विस्तारभय से यह निबन्ध बहुत संक्षेप में लिखा गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. सिद्धान्तशिखामणि, डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी, शैवभारती शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
२. चंद्रज्ञानागम, संपादक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
३. पारमेश्वरागम, संपादक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
४. सूक्ष्मागम, संपादक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
५. कारणागम, संपादक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
६. अनुभवसूत्र, संपादक, श्रीकृष्णानंद सागर
७. सिद्धान्तशिखामणि समीक्षा, ज. डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी, शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
८. तत्त्वत्रयविमर्श, ज. डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी, शोधप्रतिष्ठानम्, वाराणसी
९. श्रीपतिपंडिताराध्यप्रणीत श्रीकरभाष्य, जंगमवाडीमठस्थ शैवभारती भवनम्, वाराणसी
१०. पंचाचार–पं. शिवाप्पा खके, काशी जगद्गुरु विश्वाराध्य वीरशैव विद्यापीठ, वाराणसी
११. नीलकंठ शिवाचार्य प्रणीत क्रियासार, मैसूर ओरियंटल प्रकाशन, मैसूर
१२. भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर।

★

वातुलशुद्धागमसमीक्षा लिङ्गपूजामहत्त्वञ्च

श्री राचोटि देवः (श्री ष. ब्र. राचोटि शिवाचार्यस्वामिनः)
संशोधनछात्रः
संस्कृताध्यायनविभागः, मैसूरुविश्वविद्यालयः, मैसूर

उपोद्धातः

भारतदेशः आध्यात्मसागरः, अनुभवानामाधारः, ज्ञानविज्ञानतन्त्रज्ञानानां माध्यमः। एतद्देशः प्रपञ्चस्य आदिमः ज्ञानक्षेत्र इति प्रसिद्धः। विविधधर्माणां सारं स्वहृदये गर्भीकृतोऽयं पुण्यभूमिः, पावनक्षेत्रञ्च। अत्र असंख्यातयोगिदार्शनिकसन्तमहात्मादयः जन्म लब्ध्वा स्वदिव्यतपोबलद्वारा जगति सार्वभौमत्वेन प्रसिद्धोऽयं देशः। अस्मिन् देशे न च व्यक्तिप्राधान्यं परन्तु तत्त्वप्राधान्यमत्र द्रष्टुं शक्यते। अत अत्रत्यधर्मः तत्त्वप्राधान्यं न तु व्यक्तिप्राधान्यमिति विजानीमः।

भारतीयानां धार्मिकदर्शनन्तु द्विविधा विभज्यते। तद् अस्तिकनास्तिकभेदेन। वेदप्रामाण्यं स्वीकृतो धर्मः आस्तिक इति वेदाप्रामाण्यमिति स्वीकृतो धर्मः नास्तिकमिति। तत्रत्येषु कश्चन नास्तिकधर्मस्य व्यक्तिप्राधानवत्त्वेऽपि तत्त्वसिद्धान्तानां विषये नास्ति विप्रतिपतिः। आस्तिकदर्शनेषु शैव-वैष्णव-शाक्तादयः (धर्माः) प्रसिद्धाः। तेषु दर्शनेषु वेदपूर्वकालादेव प्रसिद्धोऽयं शैवधर्मः। हरप्पमेहञ्जोदारसंस्कृतेः अध्ययनद्वारा तदानीमेव तस्य सर्वजनग्राह्यत्वस्य विहितत्वात्। एतद् धर्मः वेदसंस्कृतेः निष्पन्नत्वेऽपि आगमशास्त्राणां प्राधान्येन वैदिकसंस्कृतेः सुवर्णशिखरप्रायेण शोभायमानः अयं आगमसिद्धान्तः। अतः शैवस्य एवं वीरशैवधर्मसारस्य ज्ञानार्थम् आगमानां अध्ययनमत्यावश्यकम्।

आगमानां स्वरूपं प्रभेदश्च

भारतीयज्ञानराशिषु वेदवद् आगमा अपि प्रामाण्यं भजन्ते। आगमो नाम आङ्-उपसर्गपूर्वक-गमलृगतौ धातुना निष्पन्नोऽयं शब्दः। ये गत्यार्थाः धातवः ते ज्ञानार्थका इति सिद्धान्तकौमुद्यामुक्तत्वाद् गमनार्थप्रयुक्तसर्वे धातवः ज्ञानार्था अपि प्रयुक्ताः भवन्ति। अतः अत्रागमो नाम-ईश्वरवाणी अथवा साक्षाद् ईश्वरोपदेशितज्ञानराशिः इत्याद्यर्थः आगमशब्देन प्रतिपादितो भवति।

अत एव–आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिश्रेयसोपायः स आगमः (तत्त्ववैशारदि १.७) इत्युक्तं साधु सङ्गच्छते। मानवाभ्युदय एवं निश्रेयस सिद्ध्यर्थं ये हेतवः भवन्ति तत्साधकतमं शास्त्रमागमशास्त्रमिति वाचस्पतिमिश्राणामभिप्रायः। भारतदेशे प्रसिद्धो आगमः त्रिविधः। ते शैवागमः, वैष्णवागमः, जैनागम इति।

एषामागमानामध्ययनेन तत्तद्धर्माचारविचारतात्त्विकसिद्धान्तान् समीचीनं ज्ञातुं शक्यते। तदिदानीं प्रधानसंशोधनविषयत्वेन शैवागमाः विचिन्त्यते।

शैवागमानां प्रभेदाः

शैवागमानां व्याप्तिः अपारानुपमाप्रतिमासंख्यातागमज्ञानराशिज्ञानसागररूपः। अत एवोच्यते शैवागम इति। शैवागमोत्पत्तिविषये प्रसिद्धोक्तिरियम्–

सृष्टिकाले महेशानः पुरुषार्थप्रसिद्धये।
विधत्ते विमलं ज्ञानं पञ्चस्रोतोऽभिलक्षितम्।।

(मृगेन्द्रागम)

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतञ्च गिरिजानने।
मतं वा वामदेवस्य तस्मादागममुच्यते।।

(तन्त्रसारसमुच्चय) इति।

सृष्ट्युत्पत्तिकाले सकलजीवजन्तूनामभ्युदयार्थं परमेश्वरः पार्वतीमुद्दिश्य उपदिष्टः दिव्यज्ञानज्योतिरयं शैवागम इति प्रसिद्धः। ते आगमाः ज्ञानं, परात्परज्ञानं, प्रशस्तज्ञानं, शिवज्ञानं, गुह्याद्गुह्यतरज्ञानं, निराकुलज्ञानं, विमलज्ञानं, इत्यादि नाम्ना प्रसिद्धाः। प्रधानतया शैवागमाः अष्टाविंशतिसंख्याकाः (२८) इति। अपि च उपागमानां संख्या पञ्चविंशत्युत्तर-द्विशतकम्। एवं उभयोः मिलित्वा त्रिपञ्चाशदधिकद्विशतकाः भवन्ति। अत्र प्रधानागमः द्विविधः विभज्यते शिवभेदागमः रुद्रभेदागमश्चेति। शिवभेदागमे दशावान्तरभेदाः रुद्रभेदागमः अष्टादशधा।

ते शिवभेदागमानां भेदः

१. कामिकागमः	२. योगजागमः
३. चिन्त्यागमः	४. कारणागमः
५. अजितागमः	६. दीप्तागमः
७. सूक्ष्मागमः	८. सहस्रागमः
९. अंशुमदागमः	१०. सुप्रभेदागमः इति दशधा भिद्यन्ते।

द्वितीयः रुद्रभेदागमाः। ते यथा

१. विजयागमः	२. विश्वासागमः
३. स्वायम्भ्वागमः	४. अनलागमः
५. वीरागमः	६. रौरवागमः
७. मुकुटागमः	८. विमलागमः

९. चन्द्रज्ञानागमः	१०. मुखबिम्बागमः
११. प्रोद्गीतागमः	१२. ललितागमः
१३. सिद्धागमः	१४. सन्तानागमः
१५. शर्वोक्तागमः	१६. पारमेश्वरागमः
१७. किरणागमः	१८. वातुलागमश्चेति।

तेषु वातुलागमं वातुलशुद्धागममिति व्यवहरन्तः दृश्यन्ते ।

वातुलशुद्धागमसमीक्षा

यथा वेदाः अनादिरपौरुषेयाः तथा शैवागमोऽपि अनादिः अपौरुषेयश्चेति वीरशैव एवं शिवाद्वैतिनामाभिप्रायः । प्रस्तुतात्र वातुलशुद्धागमः शिव-स्कन्दसंवादात्मकत्वात् शैवागमेषु शिखरप्रायोऽयमागमः, अपौरुषेयवाङ्मयश्च । अयं आगमः दशपटलेषु निबद्धः । एषः ग्रन्थः समग्रदेवतारहस्यं प्रकाशयति । एवञ्च साङ्गोपाङ्गविज्ञानरहस्यमयोऽयं चतुष्पादात्मकः । तेषु क्रियापादस्य सारसर्वस्वमेकत्रीकृत्य उपदिष्टः श्रेष्ठग्रन्थः वातुलशुद्धागम इति । एते दशपटलाः तत्र विद्यन्ते ।

१. तत्त्वभेदपटलः
२. वर्णभेदपटलः
३. चक्रभेदपटलः
४. वर्गभेदपटलः
५. मन्त्रभेदपटलः
६. प्रणवभेदपटलः
७. ब्रह्मभेदपटलः
८. अङ्गभेदपटलः
९. मन्त्रजातपटलः
१०. मन्त्रकीलपटलश्चेति ।

तेषां दशपटलानां संक्षिप्तविवरणमित्थं भवति

प्रथमः तत्त्वभेदपटलः—अत्र तत्त्वं, शिवः, सदाशिवः, महेश इति त्रैविध्यं विभज्य तेषु निष्कलः सकलः, सकलनिष्कलमिति निरूप्य, एकैकस्यापि तत्त्वस्य लक्षणं विशदयति । आदितत्त्वं शिवतत्त्वम् । तच्छिवतत्त्वद्वारा परा, आदिः, इच्छा, ज्ञानं, क्रियारूपपञ्च-सादाख्यानामाविर्भावः, एवं तदुत्पत्तिः, तद्रूपं, तद्वर्णनञ्च उपवर्णयन्ति । एवञ्च शिवलिङ्ग-तत्त्वभेदं निरूप्य तदनन्तरं द्वितीयस्य सदाशिवतत्त्वस्य पञ्चमुखानामपि च तत मुखगतादिव्यवस्था एवं दानविधिश्च तत्र निरूपितः । तृतीयं महेशतत्त्वम् । पञ्चविंशतिलीलानां भेदः तस्याविर्भावस्य

मूलस्वरूपं, तेनाविर्भूतनानादेवतासमूहः उमा, अम्बिका, भवानी, ईश्वरी, मनोन्मनी, इत्यादिरूपशक्तिपञ्चकेषु मनोन्मनीशक्त्योद्भावितगौरीशक्तिमहिमा एतस्मिन् प्रथमपटले समग्रमुपवर्णिताः ।

द्वितीयः वर्णभेदपटलः—शब्दब्रह्ममयोऽयं ईश्वरस्य वर्णरूपशरीरं तदत्र निरूपयति । अक्षरसंख्या, अक्षरस्वरूपम्, अपि च तद्रूपञ्च निरूप्यते । शिवतत्त्वादारभ्य क्रमाद् बिन्दुः, नादः, शक्तिः, शब्दः, वाग्भव इति पञ्चकला भवन्ति । तेषु कलासु प्रकृतिविकृतिवर्णानां उत्पत्तिक्रमः तथा च प्रणवेन अकारं, इकारं, उकारं, मकारं एवं मन्त्र उद्भवक्रमं निरूप्य, प्रत्येकवर्णस्य तस्य सप्तप्रकृतिवर्णस्य, नवविकृतिवर्णस्य कलाभेदं एवं विकलात्मकव्यञ्जनवर्णानां भेदः एवं तेषां रूपत्रयं लिङ्गभेदश्च तेषां पञ्चभूतानां बीजत्वं, तत्त्वं, मूर्तिः, प्रभावः, एवं तद्भेदः स्वरूपं मन्त्राः, अधिदेवता, गुणः, शरीरं, शारीरिभावः, स्थूलसूक्ष्मशरीरस्य संयोज्या-संयोज्यव्यवस्था एवं प्रत्येकवर्णस्य देवताभेदश्चात्र निरूपयति ।

तृतीयः चक्रभेदपटलः—मन्त्ररहस्यबोधनार्थं मन्त्रदेवतामयचक्रस्वरूपं विवृणोति । चक्रोद्धारस्य योग्यस्थलं, तत्स्थलस्य शोधनक्रमः, तत्र मण्डपः, तत्स्थाने चक्रविन्यासविधिः, चक्रविस्तारप्रमाणं, वृत्तसंख्या, उपदलं, रन्ध्रं, कर्णिका एवं तस्य प्रमाणादिः तेषां वर्णदेवतान्यास-शक्तिन्यासक्रमं, एवं प्रतिष्ठाप्यमाना अम्बिकाद्यष्टशक्तीः, शवादि अष्टमूर्तिविवरणं, अष्टविद्ये-श्वराष्टलोकपालाष्टवसुस्वरूपसूर्यचन्द्राग्निरेखाविन्यासक्रमं, बीजाक्षरं तदधिदेवतान्यासविधिञ्च एवं चक्रमहिमा, चक्रपूजाविधिञ्चात्रावबोधयति ।

चतुर्थः वर्गभेदपटलः—पूर्वोक्तवर्णेषु सृष्टिवर्गः, स्थितिवर्गः, संहारवर्ग इति त्रिविधवर्गं विभज्य तेषु अनुबन्धरूपाष्टवर्गं विविच्य तन्मूलकं मन्त्रोद्धारक्रमं निरूपयति । सूक्ष्मकर्णिकेषु शिवबीजरूप''ह''कारस्य पर्यायनाम विचिन्त्य नादः, गुह्यं, परः, जीवः, देही, भूतः, पञ्चमः, सान्तः, तत्त्वान्तः, भूतान्तः, शिवार्णवः एवं अव्ययपदार्थस्वरूपं अपि च बिन्दुरूपनकारः, आत्मबीजरूप ''आ'' कारः नादरूप ''ऐ'' कारः, बीजरूपस्य ''क्ष'' कारस्य च रहस्यं निरूप्य प्रथमे मध्यमे एवं तृतीये आवरणे व्यञ्जनस्वरवर्णस्य रूपादिः अत्र समग्रं सङ्कलितः ।

पञ्चमः मन्त्रभेदपटलः—अत्र मन्त्राणां स्वरूपोऽगमोऽपयोगः एवं व्याप्तिं च विविच्य मन्त्रपदार्थमन्त्रमहिमा च वर्णिता । मन्त्रोद्धारार्थं मण्डपरचना चक्ररचना बीजाक्षरविन्यासञ्चात्र निरूप्य तदनन्तरं निर्दिष्टप्रसादमन्त्रान् व्याख्यास्य न तत समये प्रसादशब्दार्थ एवं शुद्धः, मूलः, तत्त्वं, आदिः, आत्मा इति तद्पञ्चभेदान् विवृत्य तदनन्तरं शिवसदाशिवमन्त्रोद्धारक्रमं, अपि च सदाशिवमन्त्रस्य मुक्तिदः, अभिवृद्धिः, काम्यं, शान्तिकं, पौष्टिकम् इति पञ्चभेदाञ्च व्याख्यास्य तेषां अक्षरनिर्णयद्वारा सृष्टिस्थितिलयात्मकत्रिविधमहेशमन्त्रं, एवं शक्तिमन्त्रं च निरूप्य तत पञ्चविधस्वरूपं तदधिदेवतां निरूप्य लिङ्गमन्त्रन्यासक्रमं ध्यानं, आवाहनं, स्थापनं, सन्निधीकरणं सन्निरोधात्मकं एवं पूजाविधानं निरूप्य मूर्तिम् एवं शक्तिन्यासभेदं च निरूप्य तेषां क्रियाविधि एवं मन्त्रयोः सम्बन्धः निरूपिता अत्र ।

षष्ठः प्रणवभेदपटलः—अत्र प्रणवस्वरूपं एवं ध्यानक्रमं निरूप्य मूलस्वरूपं अक्षरस्वरूपं तद्देवतां च विशदीकृत्य प्रणव एव ब्रह्मस्वरूपमिति निरूप्य साकल्यं, शाम्भवः, सौख्या, सावश्यं, सायुज्यमिति पञ्चप्रणवभेदं एवं तेषां वर्णाः, छन्दः, ऋषिः, भूततत्त्वं, अधिदेवता, मात्रादयः अत्र वर्णयन्ति । प्रणवेषु "ह" कारस्थानं निरूप्य प्रणवजपन्तु ब्रह्मार्थकं करणीयमिति प्रतिपादयति ।

सप्तमः ब्रह्मभेदपटलः—उपास्य ब्रह्मस्वरूपन्तु मूर्तिः, तत्त्वं, भूतं, पिण्डः, कला इति सप्राकारं पञ्चब्रह्मभेदं निरूपयति । ते एकैकमपि पञ्चधा विभज्य आहत्य पञ्चविंशतिब्रह्मस्वरूपं निरूप्य तदनन्तरं चतुर्थ एवं पञ्चमरूपं पिण्डब्रह्म, कलाब्रह्म भेदान् विस्तारतया निरूप्य, सद्योजातः, वामदेवः, अघोरः, तत्पुरुषः, ईशानेति पञ्चपिण्डब्रह्म तेषु तत्त्वस्वरूपरूपं पञ्चकलाब्रह्म पञ्चमूर्तिस्वरूपं तेषु मूर्तिषु आत्मप्रसादः, भावनाविधिः पञ्चभूतस्वरूपविधिश्च निरूप्य तेषु सामान्यसौम्यरूपवर्णादीन् निरूप्य सर्वमूर्तिसाधारणरूपं एवं वर्णादयश्च अत्र निरूपयति ।

अष्टमः अङ्गभेदपटलः—अत्र प्रथमं शिवाङ्गं, भूताङ्गं, कुटाङ्गं, विद्याङ्गं, शक्त्यङ्गं, सामान्याङ्गमिति षड्विभागं कृत्वा तत एकैकमपि विस्तारतया विविच्य शिवाङ्गनिरूपणसमये हृदयादिरूपेषु विभज्य तत सिद्धिक्रमं एवं भूताङ्गस्य षड्बीजं कूटाङ्गस्यानन्तरं विद्याङ्गस्य शिवास्त्रं, पाशुपतास्त्रं, क्षुरिकास्त्रं, व्योमास्त्रं, एवं अघोरास्त्रं च निरूप्य षड्बीजयुतशक्त्यङ्गं तदनन्तरं सामान्याङ्गं च निरूपितम् । तेषाम अङ्गानां ध्यानस्वरूपविभागः, विनियोगान् च निरूप्य शिवाङ्गस्य हृदयमन्त्रस्वरूपं, विनियोगः, अस्त्रमन्त्रभेदः तत्संख्येत्यादय अत्र निरूपिताः ।

नवमः मन्त्रजातपटलः—अत्र मन्त्रमयलिङ्गोद्धारणक्रमं, पीठस्वरूपं, पीठस्य षडङ्गः लिङ्गेषु मन्त्रन्यासविधिः, आधारादिषट्चक्रेषु शिवबीजं एवं शक्तिचक्रन्यासविधिः, वर्णपरिकल्पनं, स्थूलसूक्ष्मपञ्चाक्षरन्यासविधिः भुवनादिषडध्वन्यासविधिश्चात्र निरूपितः । लिङ्गः मन्त्रमयः इति निरूप्य एकोनविंशतिमन्त्रानामाकारः वासः, वाहनादीन् वर्णयित्वा, शिवस्य सर्वसत्त्वं, अस्य शिवस्य साक्षात्कार एव परमध्येयः इति व्याख्यातः । स सर्वदेवतामूलः सदाशिवस्वरूपः, तेनैव महेश्वरब्रह्मविष्ण्वादि उत्पत्तिः एवं ते एव सकलविधमायाश्रयः इति निरूपितः ।

दशमः मन्त्रकीलपटलः—अत्र एतस्य पटलस्य संज्ञानुगुणेन मन्त्रकीलन्तु केवलं सार्धषट्श्लोकमेवात्र दृश्यते । एतद् भागे ग्राह्यः, एवं त्याज्यमन्त्रः, मन्त्रोच्चारणविधिः अनुकूलप्रतिकूलमन्त्रस्वरूपञ्चेति विस्तृतेन वर्णितः । तत्र गुरुलिङ्गजपमालाशिवमन्त्रविभूतिपञ्च-शिवमुद्रादिषु भक्तिरत्यावश्यकी इति निरूप्य शिवे आत्मात्मीयः समर्पणविधिश्च विवर्णितः । तत्र सामान्यमिश्रशुद्धवीर इति चतुर्विधशैवभेदं निरूप्य, तेषु सामान्यमिश्रशैवलक्षणं च निरूप्य तृतीयः शुद्धशैवेषु आगतः आत्मार्थपरार्थरूपद्विविधः लिङ्गपूजाविधिः, एवं शिवावरणं त्यक्त्वा अन्यदेवतापूजानिषेधमत्र कृतः । चतुर्थः वीरशैवनिरूपणसन्दर्भे विविधवीरशैवशब्दार्थान् विवृण्वन् तत्र सामान्यविशेषनिराभाररूपत्रिविधवीरशैवभेदान् निरूप्य लिङ्गधारणयोग्यस्थानानि

निरूप्य सर्ववीरशैवमधिकृत्य सामान्यविशेषनियमान् अवबोधयन् तदनन्तरं शुद्धशैवस्य विशेषधर्मनिरूपणपुरस्सरं ग्रन्थः परिसमापितः ।

शैवधर्माणां प्रभेदः

ये जनाः शिवस्यैव आराध्यदैवत्वेन स्वीकुर्वन्ति तेषां जनानामेव शैवेति व्यवह्रियन्ते । अत्र शिवपूजकानां विशेषपूजाप्रभेदेन शैवेषु बहुधा प्रभेदाः भवन्ति । अधुनाऽपि वयं असंख्यात शिवोपासकाः विविधरीत्याचारविचारद्वारा स्वीयरीत्या शिवस्याराधकं जनं द्रष्टुं शक्यते । अत्र प्रधानतया शैवप्रभेदाः इत्थंरूपाः भवन्ति । तद्यथा–

शैवं चतुर्विधं ज्ञेयं समासाच्छ्रुणु षण्मुख ।
सामान्यं मिश्रकञ्चैव शुद्धं वीरं यथाक्रमम् ।।

(वा.शु. १०-१०,११) इति ।

१. सामन्यशैवः २. मिश्रशैवः
३. शुद्धशैवः ४. वीरशैवश्चेति चतुर्भेदा इत्यर्थः ।

एते तु वातुलागमप्रोक्तप्रभेदाः परन्तु अन्यत्र सप्तविधशैवप्रभेदान् निरूपयति । ते तु

अनादिशैवः आदिशैवः
अनुशैवः महाशैवः
योगशैवः ज्ञानशैवः
वीरशैवश्चेति ।

एतदतिरिक्तः दशविधशैवभेदाश्च ग्रन्थान्तरेषु दृश्यते । ते यथा–

वामशैवः दक्षिणशैवः
लाकुलशैवः पशुपतशैवः
रसेश्वरशैवः मिश्रशैवः
भैरवशैवः कापालशैवः
शुद्धशैवः माहेश्वरशैवश्चेति

अपि च दर्शनेष्वपि शैवप्रभेदाः उपलभ्यन्ते । तद्यथा–

शैवदर्शनं पाशुपतदर्शनन्

कालमुखदर्शनम्, महाव्रतिदर्शनम्

संन्यासिदर्शनम्, कौलदर्शनम्

उपरि दर्शितविषयावलोकनेनावगम्यते यत् शैवधर्मः प्रपञ्चस्य अत्यन्तश्रेष्ठत्वाधारित-धर्मेषु मानवाभ्युदयनिःश्रेयसहेतुकः धर्मोऽयमिति ।

वीरशैवधर्मस्वरूपम्

दुःखपङ्कनिमग्नोऽयं मनुष्यजीवी। मनुष्याः दुःखनिवारणार्थं बहुधा प्रयत्नं कुर्वन्ति। स च दुःखः त्रिविधः–आध्यात्मिकः, आदिभौतिकः, आदिदैवकश्चेति। दुःखनिवारणन्तु धर्ममात्रसाध्यम्। धर्मन्तु शुद्धज्ञानशुद्धक्रियामात्रसाध्यम्। अत एव भक्तिज्ञानक्रियासमन्वितत्वं धर्मे अपेक्षते। स च धर्मः वीरशैवधर्मः। अत्र वीरशैवधर्मस्वरूपमित्थं अष्टावरणमेवाङ्गम्, पञ्चाचारमेव तस्य प्राणः षड्स्थलमेवात्मा इति एतद्धर्मस्य मूलस्वरूपम्। वीरशैवदर्शन-सिद्धान्तस्य इतरनामानि इत्थं भवन्ति। शक्तिविशिष्टाद्वैतम्, विशेषाद्वैतम्, विशिष्टाद्वैतम्, शिवाद्वैतम्, द्वैताद्वैतम्, भेदाभेदः, शिवयोगः, अपि च षड्स्थलसिद्धान्तः इति व्यवहृतमाकरग्रन्थेषु उपलभ्यन्ते। वीरशैवधर्मस्य वैशिष्ट्यं सिद्धान्तशिखामणौ उच्यते–

विद्यायां शिवरूपायां विशेषाद्रमणं यतः।
तस्मादेते महाभागा वीरशैवा इति स्मृतः॥
वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः॥

(सि.शि. ५-१५,१६) इति।

शिवतत्त्वरूपविद्यायां ये रमन्ते, ते एव वीरशैवा भवन्ति इति अनेन स्मार्यते। एवञ्च वीरशैवशब्दस्य निर्वचनं क्रियते–वीशब्देन विद्यार्थः, रशब्देन रमणमर्थः। इत्थञ्च शिवजीवैक्य-रूपाभेदविद्यायां ये रमन्ते ते एव वीरशैवा इति पर्यवसितार्थः। अपि च शैवधर्मेषु अत्यन्तोत्कृष्ट-धर्मः वीरशैवधर्म इत्युच्यते वातुलशुद्धागमे–

ज्ञात्वा त्रिंशदतीतमेकमधिकं शैवं महातत्त्वकं
तद्भेदं बहुलीलया च सहितं नानावतारान्वितम्।
सामान्यादिसमस्तशैवकुशलं वीराख्यशैवं महत्
संश्रित्यात्मनि दिव्यलिङ्गमनिशं ध्याये तदीले भजे॥

(वा.शु. १०-२) इति।

मनोवाक्कायद्वारा इष्टलिङ्गपूजकवीरशैवैयः अत्यन्तश्रेष्ठः इत्यत्र भावार्थः। तथा च श्रुतिः "वीरान्मानो रुद्रभामितोऽवधीः" इति (यजु. सं. ४-६-१०) हे रुद्र धर्मकर्मनिरतः वयं वीरशैवः (वीरः) अस्माकं मा अवधि। अत्र वीरान् शब्दस्यार्थस्तु वीरशैव परकत्वे अत्यन्तं सूक्तम्। अत एव वातुलशुद्धागमे वीरशैवधर्मस्य रूपमित्थं वर्णयति–

ज्ञानगम्यं रहस्यं च कैवल्यपदकारणम्।
वीरशैवमिति ज्ञेयं एतल्लक्षणमुच्यते॥
एक एवायमेतस्मिन् सर्वस्मिन् जगतीति यः।

विशिष्ट ईर्यते यस्माद् वीर इत्यभिधीयते ।।
शिवेन सह सम्बन्धं शैवमित्यादृतं बुधैः ।
उभयोः सम्पुटीभावाद् वीरशैवमिति स्मृतम् ।।

(वा.शु. १०-२९,३०,३१) इति ।

वीरशैवधर्मः अनुभवैक्यवेधः, रहस्यमयः, मुक्तिदायकः, अस्य वीरशैवधर्मस्य लक्षणनिरूपणावसरे जगति ये एव विशेषगुणसमन्विताः, ते एव वीरा भवन्ति । अतः शिवसम्बन्धात् शैव इति विशेषगुणवत्त्वाद् वीरश्चेति तस्माद् वीर + शैव = वीरशैव इति व्यह्रियन्ते ।

लिङ्गपूजामहत्त्वम्

लिङ्गं नाम **''हेतुर्लिङ्गन्तुकरणं कारणम्''** इत्यनेन कोशवाक्येन हेतुकरणकारणाद्यर्थेषु लिङ्गपदप्रयोगो भवति । अतोऽत्र जगतः सृष्टिस्थितिलयतिरोधानानुग्रहकारणकर्तृत्वात् शिव एव लिङ्गमिति शब्देन व्यवह्रियते । तदुक्तं सिद्धान्तशिखामणौ–

लयं गच्छति यत्रैव जगदेतच्चराचरम् ।
पुनः पुनः समुत्पत्तिं तल्लिङ्गं ब्रह्म शाश्वतम् ।।

(सि.शि. ६-३७) इति ।

सकलचराचरात्मकोऽयं जगदिदं यत्र पौनःपुन्येन उत्पत्तिः एवं लयो भवति, सैव शाश्वतब्रह्म स एव लिङ्गशब्देन व्यवह्रियते । अत्र लिङ्गं प्राधान्येन द्विविधम् । बाह्यपीठार्चनकर-पीठार्चनश्चेति । बाह्यपीठार्चनं तु सर्वशैवानाम् । वीरशैवानां तु करपीठार्चनमेकमेव सर्वदा ।

बाह्यपीठार्चनादेतत्करपीठार्चनं वरम् ।
सर्वेषां वीरशैवानां मुमुक्षूणां निरन्तरम् ।।

(सि.शि. ६-५५) इति ।

प्रस्तुतात्र बाह्यपीठार्चनं नाम स्थावरलिङ्गार्चनमिति । करपीठार्चनं नाम इष्टलिङ्गार्चन-मित्यर्थः । वीशैवानां तु मते लिङ्गं त्रिविधम् । इष्टलिङ्गप्राणलिङ्गभावलिङ्गञ्चेति । तद्यथा–

लिङ्गन्तु त्रिविधं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं परात्परम् ।
इष्टलिङ्गमिदं स्थूलं यद्बाह्ये धार्यते तनौ ।।
प्राणलिङ्गमिदं सूक्ष्मं यदन्तर्भावनामयम् ।
परात्परन्तु यत्प्रोक्तं तृप्तिलिङ्गं तदुच्यते ।।

(सि.शि. ६-४९,५०) इति ।

स्थूलसूक्ष्मकारणभेदेन शरीरं त्रिविधम् । तत्त्रिविधात्मकशरीरे त्रिविधरूपलिङ्गधारणं

उक्तम् । तत यथाक्रमं स्थूलशरीरे इष्टलिङ्गधारणं, सूक्ष्मशरीरे प्रणलिङ्गधारणं, कारणशरीरे भावलिङ्ग(तृप्तिलिङ्ग)धारणमिति त्रिविधलिङ्गधारणस्वरूपं शिवयोगिशिवाचार्यैरुक्तम् । **'देहप्राणं समायोज्य प्राणलिङ्गे प्रकल्पयेत्'** (वा.शु. १०-४३) इत्युक्तत्वात् । वीरशैवानां देहप्राणयोः अपृथक्कृत्य तत सर्वप्राणलिङ्गमिति भावयित्वा लिङ्गाङ्गसामरस्येन जीवितव्य इत्यत्र भावार्थः । तत्र इष्टलिङ्गधारणस्थलमधिकृत्य इत्थमुच्यते–

मूर्ध्नि कण्ठे भुजे हस्ते हृत्स्थले नाभिमण्डले ।
एतेषामेकदेशे तु धारयेत् शिवलिङ्गकम् ।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वा समर्चयेत् ।
गुरौ लिङ्गे सदा भक्तिं कारयेद् भसितव्रती ।।

(वा.शु. १०-३६,३७)

शिरकण्ठभुजहस्तनाभि तदित्येषु उर्ध्वस्थानेषु एष्वेकत्र स्थानेषु वा शिव(इष्ट)लिङ्गधारणं कृत्वा गुरुलिङ्गजङ्गमादिषु भक्तिमान् भूत्वा स्वसामार्थ्यानुगुणेन एककालं द्विकालं त्रिकालं वा भस्मधारणपूर्वकलिङ्गपूजा कर्तव्येति लिङ्गपूजामहत्त्वं विशदयति ।

लिङ्गपूजायाः वैज्ञानिककारणानि

आधुनिकयुगः विज्ञानयुगः । वयं सर्वे साम्प्रतं वैज्ञानिका इति मत्या सर्वधार्मिकाचरणं मौढ्ययुतानन्दश्रद्धवदेवेति निन्दनरताः जनाः बहुधा दृश्यन्ते । एतस्य कारणन्तु आध्यात्मिक-ज्ञानाभावः, अन्धानुकरणमात्रमेव । अतः तत सतर्कयुतं नैव भवति । तदर्थमेव ऐन्स्टैन महोदयेनोक्तम्–**विज्ञानं विना अध्यात्मस्तु पङ्गुवत्, एवं आध्यात्मं विना विज्ञानमन्धमेव** इति । तद्विषये श्रेष्ठतत्वज्ञानिरेनानमहोदयोऽपि इत्थं व्यक्ति–**आध्यात्मविज्ञानौ द्वयो एकः अपरस्य पूरकशक्तिः** इति विवृणोति । इत्थं च विज्ञानः आध्यात्मस्याधारः इति सिद्धम् । एवञ्चात्र इष्टलिङ्गपूजनन्तु वैज्ञानिकमेव । तल्लिङ्गपूजनस्य बहुधा वैज्ञानिककारणानि निरूपितुं शक्यते । परमत्र लेखनविस्तारभयात् कश्चिद् मुख्यांशमत्र निरूप्यते ।

१. आयुष्यप्रमाणं १०-२५% उत्तेजो भवति । कारणं पिनियल् ग्रन्थिद्वारा मेलाटोनिन् श्रावोत्कृष्टो भवति ।
२. मनुष्यस्य रोगप्रतिबन्धकशक्त्युत्तेजको भवति । कारणं मेलाटोनिन् परिणामद्वारा श्वेतरक्तोत्तेजको भवति ।
३. प्रजननशक्तिनियन्त्रको भवति । कारणं एण्डोक्रैन् ग्रन्थिश्रावानाम् नियन्त्रकत्वात्
४. मनः शान्तो भवति । कारणं मेलाटोनिन् शिरोग्रन्थिजीवकोशे तस्य परिणामः ।
५. सुव्यवस्थितनिद्रा भवति । कारणं मेलाटोनिन् परिणामः ।

६.	नवज्ञानोत्पन्नद्वारा परमशक्तेः साक्षात्कारः । कारणं कोशेषु मेलाटोनिन् परिणामः ।
७.	मनुष्यस्य सृजनशक्त्युत्पन्नो भवति । कारणं इष्टलिङ्गे स्थितेन सिलिकोनेन प्रकाशित एलेक्ट्रोन्स एवं मेलाटोनिन् परिणामः ।
८.	मनुष्यस्य हृदयविकार एवं रक्तचलनद्वारा रोगनिवारणं भवति । यतो हि इष्टलिङ्गः डैवोड्रित्या कार्यं कृत्वा हृदयप्रचोदनं करोति एवञ्च मेलाटोनिन् परिणामस्याभिवृद्धिः भवति ।
९.	सूर्येनोत्पादितसोलारविण्डस्य दुष्टपरिणामद्वारा शरीरस्य रक्षणं भवति । कारणं इष्टलिङ्गेषु बहवः पिरिमीडाः सन्ति सोलारविण्डः स्वीकरोति ।
१०.	इष्टलिङ्गपूजाद्वारा मानसिकदैहिकाध्यात्मिकं औन्नत्यं भवति । यतो हि इष्टलिङ्गस्य कृष्णवर्णः मनः शिरोग्रन्थि हृदयस्य शान्तिं ददाति । एवं एकाग्रतद्वारा परमात्मनि लीनो भवति ।

उपसंहारः

जीवविकासार्थं यतते चेद् आहारनिद्रा, रक्षणं एवं सन्तानोत्पत्तिः समेषां जीविनां सामान्यमेतत् । अतः एतत् मनुष्याणामपि । अत्र मनुष्याणां विशेषस्तु आहारनिद्रारक्षण सन्तानोत्पत्तीनां आवश्यकता सत्येऽपि एतत् सर्वं धर्ममार्गेणानुसरणमिति । किं नाम धर्मम् ? उच्यते "**यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः**" इत्युक्तत्वात् मनुष्यस्याभ्युदयनिश्रेयसहेतुः धर्मः । सर्वे धर्माः मनुष्यस्य भावनात्मकनिष्ठामुत्पादयति । परन्तु वीरशैवधर्मस्तु न केवलं भावनात्मकसम्बन्धः तदतिरिक्ता आरोग्यसुखसन्तृप्तिदीर्घायुष्यमपि ददाति इत्येषः विशेषः । एतत् सर्वं इष्टलिङ्गपूजाद्वारा साध्यमिति वातुलशुद्धागमे निरूपितम्–

प्राणेन निक्षिपेल्लिङ्गं पृथग्भावं न कारयेत् ।
वीरशैवक्रमप्रोक्तः प्रायश्चित्तविवर्जितः ।।

(वा.शु. १०-५४)

अङ्गलिङ्गयोः क्वचिदपि भेदः न करणीयः । लिङ्गैव प्राणः प्राणैव लिङ्ग इति देहप्राणलिङ्गयोः अभेदं कृत्वा यो इष्टलिङ्गपूजां करोति, स एव वीरशैवः स च प्रायश्चित्तविवर्जितः इति वीरशैवधर्मस्य औत्कृष्ट्यं साधयति वातुलशुद्धागमः ।

परामर्शग्रन्थाः

१. **वातुलशुद्धागमः** । (कन्नडानुवादसहितं) सं. विद्वान् डॉ. हेच.पि. मल्लेदेवरुः, प्र. प्राच्यविद्या संशोधनालयः, मैसूरु १९८८

२. **वातुलशुद्धागमः** । (संस्कृतव्याख्यासहितः) सं. विद्वान् डॉ. हेच.पि. मल्लेदेवरुः, प्र. प्राच्यविद्या संशोधनालयः, मैसूरु १९८३

३. **वीरमाहेश्वराचारसंग्रहः** । सं. डॉ. के. राजगोपालाचार्यः, प्र. प्राच्यविद्या संशोधनालयः, मैसूरु १९९१

४. **सिद्धान्तशिखामणिः** । कन्नडानुवादकः श्री श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखरशिवाचार्य महास्वामिनः प्र. शैवभारती प्रतिष्ठान, वाराणसी, २०११

५. **वीरशैवबालबोधिनी** । सं. विद्वान्. बि. राजशेखरस्य, प्र. श्री जगद्गुरु रम्भापूरी वीरसिंहासनमहासंस्थानपीठ, बालेहोन्नुरु, १९९६

६. **भारतीयदर्शन** । प्रकाशकः पट्यापुस्तकनिर्देशकः, बेङ्गळूरु

७. **उपनिषत भावधरे** । सोमनाथानन्द, श्री रामकृष्ण आश्रमः, मैसूरु

८. **माण्डुक्योपनिषद्** । स्वामी आदिदेवानन्द, श्री रामकृष्ण आश्रमः, मैसूरु

९. **श्वेताश्वेतरोपनिषद्** । स्वामी आदिदेवानन्द, श्री रामकृष्ण आश्रमः, मैसूरु

१०. **कठोपनिषद्** । स्वामी आदिदेवानन्द, श्री रामकृष्ण आश्रमः, मैसूरु

११. **मुण्डकोपनिषद्** । स्वामी आदिदेवानन्द, श्री रामकृष्ण आश्रमः, मैसूरु

१२. **माण्डुक्योपनिषद्** । श्री सिद्धेश्वर स्वामिनः ज्ञानयोगाश्रमः, विजापूरु

१३. **ईशावास्योपनिषद्** । श्री मल्लिकार्जुनस्वामिनः, ज्ञानयोगाश्रमः, विजापूरु

१४. **लिङ्गधारणचन्द्रिका** । (कन्नड) सिसिं गुरुशान्तशास्त्रीनः प्रबोधपुस्तकमाला, बेङ्गळूरु, १९५१

✶

वीरशैव दर्शन का योगदान : मोक्ष-प्राप्ति के सन्दर्भ में

पूर्णेन्दु प्रताप सिंह, शोधछात्र
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

विधाता की सृष्टि में सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी मानव के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिहेतु मनीषी ऋषियों ने जिन साधनों की परिकल्पना की है, उनमें अभेद होते हुए भी 'ज्ञान-निष्ठा' ही ज्ञानाभिमानी मानवों के लिए अधिक सुकर है। ज्ञान-निष्ठा का विस्तृत विवेचन विविध दार्शनिक चिन्तनों में किया गया है। मानवेतर जीवों की आवश्यकताएँ सीमित हैं। उनके व्यवहार मूलप्रवृत्यात्मक हैं। अतः उनके दुःखों की संख्या भी कम है, परन्तु मानव ने अपनी अनन्त एवं अनिरुद्ध कामनाओं का अनवरत विस्तार करके अपनी इन्द्रियों तथा मन को क्षणिक सुखप्रद भोगों में आसक्त करके अपनी दुःखराशि का अभिवर्धन तो किया ही है, साथ ही साथ वह दिनानुदिन सुखवाद की मृगतृष्णा के पीछे महाप्रलय के सन्निकट बढ़ता जा रहा है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** का उद्घोष करके भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष की परिकल्पना की तथा उसे ही अन्तिम पुरुषार्थ माना। मोक्ष या मुक्ति क्या है? इस सम्बन्ध में व्याप्त विप्रतिपत्तियों की व्याख्या न करके, हम इतना ही कहेंगे कि ज्ञान, योग अथवा पराभक्ति द्वारा मन को बाह्य जगत् से घुमाकर शान्त कर देना अथवा उसके आराध्य के अनवरत चिन्तन द्वारा उसी में विलीन कर देना मुक्ति है। फ़लस्वरूप कामना के अभाव में पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है। इन्हीं साधनों में से एक शैव दर्शन की परम्परा में 'वीरशैव दर्शन' है, जो इस शोधपत्र में हमारा विवेच्य विषय है।

वैदिक काल से ही शिव या रुद्र की उपासना भारतभूमि में प्रचलित है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०/१६) में समस्त जगत् रुद्ररूप बतलाया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भगवान् शिव सर्वानन शिरोग्रीव, सर्वभूतगुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं–

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ।।[१]

वामनपुराण (६/८६-९१) में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं–शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शैव दर्शन में प्रधान रूप से चार मतों का संग्रह शाङ्करभाष्य आदि में वर्णित है, यथा माहेश्वर, कापालिक और कारुणिक वेदान्ती। काश्मीर शैव में प्रत्यभिज्ञादर्शन आता है और कर्नाटक में वीरशैव सिद्धान्त प्रसिद्ध है। इन्हीं धार्मिक मतों के मूलग्रन्थों को 'शैवागमों' के नाम से जाना जाता है।

वीरशैव सिद्धान्त के प्रचारक के रूप में सर्वप्रथम प्राचीनकाल में 'कुल्यपाक' स्थान में 'रेणुक' नामक भगवान् शंकर के गण का अवतार हुआ। यह शिव का एक प्रकार से लिंगावतार था, जो आगे चलकर सोमेश्वर महालिङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्राचीन समय के शैवतन्त्रों में यह वीरशैव मत व्यापक रूप से प्रचलित था। तांत्रिक सिद्धान्त में इसे द्वैताऽद्वैत, शिवाद्वैत, वीरशैव आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

'वीर' शब्द में वि शब्द का अर्थ है विद्या–यह विद्या शिव और जीव की एकता की बोधिका है। विद्या से तात्पर्य सामान्य विद्या नहीं, अपितु जो वेदान्त या उपनिषदों से जायमान तत्त्वज्ञान है, वही शिव रूप विद्या है। सिद्धान्तशिखामणि में कहा गया है कि विशेषकर जो मनुष्य शिवरूप विद्या में रमण करते हैं, ऐसे भाग्यशाली वीरशैव कहलाते हैं–

विद्यायां शिवरूपायां रमन्ते ये विशेषतः ।
तस्मादेते महाभागा वीरशैवा इति स्मृताः ।।[२]

वीरशैव दर्शन के अनुसार मोक्षप्राप्ति के लिए शिव-शक्ति तथा जीव-जगत् का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। शिव और जीव शक्ति से विशिष्ट हैं। लिङ्गाङ्गसामरस्य के द्वारा शिव और जीव का ऐक्य स्थापित करना ही मुक्ति या मोक्ष है।

शिवविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और जीव इन दोनों में भेदाभेद माना गया है अर्थात् बद्धावस्था में जीव और शिव में भेद और मुक्तावस्था में अभेद मान्य है। जब शिव अपने विनोद के लिए स्वयं जीवात्मा बन जाता है, तब शिव में रहने वाली वह शक्ति भी अपने स्वरूप को संकुचित करके उस जीवात्मा में भक्ति के रूप में प्रवेश करती है। यह शक्ति ही क्रमशः जीवात्मा की संकुचित शक्ति को विकसित करती हुई इस जीवात्मा को परशिव के साथ समरस कर देती है।

परशिव की वह शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में आश्रित होकर जीव के जीवभाव को हटाकर शिवस्वरूप को प्राप्त कराने में उसकी सहायक बनती है। जिस प्रकार जल छः रसों से युक्त होकर षड्रस स्वरूप बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति भी जीवात्मा के भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरणी और ऐक्य नामक षड्विध आध्यात्मिक प्रगति की छः अवस्थाओं (षड्स्थल में क्रमशः श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द और समरस भक्ति) के रूप में परिणत हो जाती है। इनका विवेचन क्रमशः इस प्रकार है–

१. भक्त

शिवे भक्तिः समुत्पन्ना यस्याऽसौ भक्त उच्यते ।[३]

शिव के प्रति जिसकी अगाध भक्ति हो, वही भक्त कहलाता है। श्रद्धाभक्तियुक्त वह भक्त शिव पञ्चयज्ञ रूप तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान में तत्पर रहता है–

पञ्चधा कथ्यते सद्भिस्तदेव भजनं पुनः ।
तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेत्यनुपूर्वकम् ।।[४]

तप—यहाँ शिव पूजा की सामग्री के संपादन में तथा पूजा आदि क्रियाओं में जो शरीर का शोषण होता है, उसको सहर्ष सहन करना ही तप है।

कर्म—मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित सर्वप्रदायक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में अनुरक्त न होकर केवल अपने इष्टलिंग का अनन्यभाव से अर्चन करना ही कर्म कहलाता है।

जप—पंचाक्षर मंत्र, प्रणव मंत्र अथवा श्रीरुद्र की पुनः पुनः आवृत्ति ही जप है।

ध्यान—शिवस्वरूप का चिन्तन ध्यान है।

ज्ञान—शैवागमों के वास्तविक अभिप्राय को समझना ही ज्ञान कहलाता है।

यही वीरशैवों का शिवपंचयज्ञ है। प्रतिदिन इस पंचयज्ञ का अनुष्ठान करनेवाला भक्त प्रथम मुक्तिमार्ग के सोपान को प्राप्त करता है।

माहेश्वर

भक्तेर्यदा समुत्कर्षो भवेद् वैराग्यगौरवात् ।
तदा माहेश्वरः प्रोक्तो भक्तः स्थिरविवेकवान् ।।[५]

इस उक्ति के अनुसार पूर्वोक्त श्रद्धा-भक्ति का जब उत्कर्ष हो जाता है, तब वह भक्ति निष्ठा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस निष्ठा-भक्ति से युक्त भक्त ही 'माहेश्वर' कहलाता है।

अनादिमुक्तो भगवानेक एव महेश्वरः ।
मुक्तिदश्चेति यो वेद स वै माहेश्वरः स्मृतः ।।[६]

सिद्धान्तशिखामणि के इस वचन के अनुसार माहेश्वर ही श्रेष्ठ है और वही मुक्तिप्रदायक है, वह स्वयं अनादियुक्त है, इसप्रकार उसके स्वरूप को जानकर उसमें नितान्त निष्ठा रखनेवाला साधक ही माहेश्वर कहलाता है। साधक की यह स्थिति मुक्ति का दूसरा सोपान मानी गयी है।

प्रसादी

लिङ्गनिष्ठादिभावेन ध्वस्तपापनिबन्धनः ।
मनः प्रसादयोगेन प्रसादीत्येष कथ्यते ।।[७]

इस आचार्योक्ति के अनुसार अपने उपास्य इष्टलिङ्ग में निष्ठा रखनेवाले उपर्युक्त माहेश्वर के जब सभी पाप ध्वस्त होकर मन अत्यन्त, निर्मल व प्रसन्न हो जाता है, तब

वह प्रसन्न मन का माहेश्वर, 'प्रसादी' कहलाता है। इस प्रसादी में रहनेवाली भक्ति को अवधान भक्ति कहते हैं। मन की एकाग्रता से की जानेवाली भक्ति को अवधान भक्ति कहा जाता है। अवधान भक्ति का आवरण करनेवाला भक्त संसार में मिलनेवाले सुख, दुःख आदि को ईश्वर का प्रसाद मानकर अविचल रूप से उन्हें सहन करता है। साधक की यह प्रसादी स्थिति मुक्तिमार्ग में तृतीय सोपान मानी गई है।

प्राणलिङ्गी

लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्तिः प्राणरूपिणी।
तद्रूपलिङ्गविज्ञानी प्राणलिङ्गीति कथ्यते।।[८]

जैसे सूर्य के उदित होने पर तुषार-कण उसके प्रकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार अपनी चिद्रूप ज्योति में प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। अतः इस प्राणशक्ति-विशिष्ट चित् तत्त्व को 'प्राणलिङ्ग' कहते हैं। उस प्राणलिङ्ग का उपासक 'प्राणलिङ्गी' कहलाता है। साधक जब अपने चिद्रूप के चिन्तन में लग जाता है, तब उसे धीरे-धीरे अपने प्राणलिङ्ग रूप शिव का अनुभव होने लगता है। इस अनुभव को ही 'अनुभव-भक्ति' कहते हैं। अनुभव-भक्ति से युक्त प्राणलिङ्गी की यह स्थिति मुक्तिमार्ग में चतुर्थ सोपान है।

शरण

सतीव रमते यस्तु शिवे भक्तिं विभावयन्।
तदन्यविमुखः सोऽयं ज्ञातः शरणनामवान्।।[९]

इस आचार्योक्ति के अनुसार पतिव्रता स्त्री जैसे प्रत्येक प्रसंग में अनन्यभाव से अपने पति की ही शरण में जाती है, उसी प्रकार जब साधक अन्यान्य देवताओं में आसक्ति छोड़कर अपने इष्टदेव शिव के प्रति ही अनन्यभाव से शरणागत हो जाता है, तब उसे 'शरण' कहते हैं। यह शिव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखकर शिवानन्द का अनुभव करता है। साधक के द्वारा अनुभूयमान उस आनन्द को ही आनन्द-भक्ति कहते हैं। साधक की यह अवस्था मुक्तिमार्ग का पंचम सोपान है।

ऐक्य

प्राणलिङ्गादियोगेन सुखातिशयमेयिवान्।
शरणाख्यः शिवेनैक्यभावनादैक्यवान् भवेत्।।[१०]

इस आचार्योक्ति के अनुसार परशिव का अनन्य शरणागत साधक (शरण) जब शिव के साथ समरस हो जाता है, तब वह 'ऐक्य' कहलाता है। इनकी समरस भावना ही समरस भक्ति है। इस भक्ति के माध्यम से साधक अपने सम्पूर्ण जीवभाव को त्यागकर जल में जल तथा अग्नि में अग्नि की तरह अपने मूलस्वरूप में समरस हो जाता है–

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितम्।
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते।।[११]

यह भक्ति की अन्तिम एवं परिपूर्ण अवस्था है। यह मुक्तिमार्ग का अन्तिम सोपान है।

इस प्रकार शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में भक्ति के क्रमिक विकास से ही मुक्ति की प्राप्ति बतलाई गई है। जैसे व्यावहारिक प्रपंच में पुत्र के जन्म के लिये कारणीभूत माता ही उसे अपने पिता का ज्ञान कराती है, वैसे ही जीवात्मा की उत्पत्ति के लिये कारणीभूत शिव की शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में प्रविष्ट होकर उनकी संकुचित शक्तियों का विकास कर अपने मूलस्वरूप शिव का ज्ञान कराती हुई उसके साथ समरस करा देती है।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पतंजलि के योगदर्शन में उक्त सूत्र 'यथाभिमद् ध्यानाद् वा' का ही विस्तार भक्ति मार्ग की विविध शाखाओं में किया गया है। वीरशैव शिव को ही परं ब्रह्म, परं गन्तव्य तथा एकान्त आराध्य मानते हैं। शिव में विलेयता की बात वीरशैव स्वीकारते हैं, वही प्रकारान्तर से योगदर्शन की निर्विकल्प समाधि द्वारा कैवल्य मुक्ति है, वही भगवद्गीता का स्थितप्रज्ञत्व है। तथ 'मामेकं शरणं व्रज' की शरणागति है। कैवल्य तथा जगत् की भोगासक्ति के मध्य में 'मन' है, जिसे नियंत्रित करने के लिए विविध साधनों में वीरशैव सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्राह्य, मान्य एवं चिन्तनीय हैं। वर्तमान जगत् जहाँ अपने अतिशय चंचल मन तथा इन्द्रियों के कारण भोगवाद में आसक्त होकर विविधरूपों में आतंकवाद के क्रूर पंजों में जकड़ा हुआ नैतिक मूल्यों से बहुत दूर चला जा रहा है, उसके लिए वीरशैव दर्शन के सिद्धान्त जीवन की प्रत्याशा की किरण सिद्ध हो सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३-११
२. सिद्धान्तशिखामणि, ३०
३. सिद्धान्तशिखामणि, ५-२६
४. सिद्धान्तशिखामणि, ९-२१
५. सिद्धान्तशिखामणि, १०-३
६. सिद्धान्तशिखामणि, १०-१२
७. सिद्धान्तशिखामणि, ११-७
८. सिद्धान्तशिखामणि, १२-३
९. सिद्धान्तशिखामणि, १३-५
१०. सिद्धान्तशिखामणि, १४-२
११. सिद्धान्तशिखामणि, २०-६१

सहायक ग्रन्थ

१. सिद्धान्तशिखामणि
सम्पादक–शिवयोगी शिवाचार्य (सातवीं शताब्दी से पूर्व)
प्रकाशक–शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाडी मठ, वाराणसी, १९८९ ई.
टीका–तत्त्वप्रदीपिका (श्रीमरितोण्डदार्य विरचित) सर्वप्राचीन

२. ईशादि नौ उपनिषद्
व्याख्याकार–हरिकृष्णदास गोयन्दका
प्रकाशक–गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१० ई.

३. भारतीय दर्शन का इतिहास
सम्पादक–जयदेव वेदालंकार
प्रकाशक–न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, १९८०

४. वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत
सम्पादक–डॉ. आर.जी. भण्डारकर (हिन्दी अनुवाद)
प्रकाशक–भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ई.

✶

अनुभवसूत्र में वर्णित लिङ्ग का स्वरूप

माधुरी यादव
संस्कृत विभाग, कला सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मनुष्य के जीवन का सादापन, उच्च विचार, अन्तःकरण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, सांसारिक सुखों से विरक्ति का उपदेश हमें दर्शनशास्त्रों से प्राप्त होते हैं। मनुष्य क्या है? उसके जीवन का क्या लक्ष्य है? यह संसार क्या है? इसका कोई स्रष्टा है? ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिन्हें प्रायः अनेक देशों के मनुष्य सभ्यता के प्रारम्भ से ही सुलझाने की चेष्टा करते आ रहे हैं। भारतीय दर्शनों में भी इन प्रश्नों के उत्तर अपने मतानुसार प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें वीरशैव दर्शन इस जगत् की उत्पत्ति शिव से मानता है। शिव ही परम तत्त्व है।

इस धर्म दर्शन के प्रतिपादक सहस्राधिक ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी, तेलुगु, तमिल आदि भाषाओं में उपलब्ध हैं। संस्कृत भाषा में ''अनुभवसूत्र'' ''मयि देव'' द्वारा कृत शैव सम्प्रदाय का एक विशेष ग्रन्थ है। इसके सम्पादनकर्ता बहुशास्त्रविशारद राष्ट्रियपण्डित श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर द्वारा हुआ है। यह ग्रन्थ आठ अधिकरणों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में शैव दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन श्लोकबद्ध करके प्रस्तुत किया गया है। इसी ग्रन्थ के तृतीय अधिकरण में वर्णित लिङ्ग का स्वरूप मेरे शोध-पत्र का शीर्षक है। जिसे प्रस्तुत करने का मेरी तरफ से एक प्रयास किया गया है।

अनुभवसूत्र में लिङ्ग शब्द को केवल शिव का वाचक माना गया है। अन्यत्र लिङ्ग शब्द का प्रयोग चिह्न अथवा संकेत के लिए किया जाता है। लिङ्ग के स्वरूप का वर्णन इसप्रकार से किया गया है—समस्त स्थावर-जंगात्मक सृष्टि का लय एवं उत्पत्ति का कारण यह परमतत्त्व शिव ही तत्त्वविद् लिङ्ग है। इसप्रकार शिव ही लिङ्ग है।

लीयते गम्यते यत्र येन सर्वं चराचरम्।
तदेतल्लिङ्गमित्युक्तं लिङ्गतत्त्वपरायणैः[1] ।।

न्यायदर्शन में लिङ्ग को अनुमान कहा गया है–लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'' मयि देव ने लिङ्गस्थल के तीन भेद बतलाये हैं–

भावलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा इष्टलिङ्ग।

लिङ्गस्थलं त्रिधा ज्ञेयं तद्भेदो वर्ण्यते क्रमात्।
प्रथमं भावलिङ्गं स्याद् द्वितीयं प्राणलिङ्गकम्।।

तृतीयमिष्टलिङ्गं स्यादित्येतत् त्रिविधं स्मृतम् ।
निष्कलं भावलिङ्गं स्याद् भावग्राह्यं परात्परम्[२] ।।

तीनों लिङ्गों में प्रथम 'भावलिङ्ग' कलारहित है, सर्वोत्कृष्ट भावमात्र का विषय है। इसकी समता सत्त्व गुण से की गयी है। द्वितीय प्राणलिङ्ग सकल एवं निष्कल उत्तमविध है। यह प्राण एवं मन में स्थित है।

इष्टलिङ्ग के विषय में कहते हैं कि इष्टलिङ्ग भक्तों के दु:खों का परिहार करके अभीष्ट अर्थ को सम्पादित करता है। इष्टि: अर्थात् पूजा से भक्तिपुरस्सर अर्चनीय होने के कारण लिङ्गपूजक आचार्यों ने इसे 'इष्टलिङ्ग' कहा है।

सकलं दृक्कलाग्राह्यमिष्टलिङ्गस्थलं महत् ।
इष्टावाप्तिकरं साक्षादनिष्टपरिहारकम् ।
इष्टि: पूजा तया नित्यमिष्टं पूजितमादरात् ।[३]

भावलिङ्ग सद् रूप है, प्राणलिङ्ग चिद् रूप और इष्टलिङ्ग आनन्दस्वरूप है, ऐसा वीरशैव आचार्यों का कथन है।

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याच्चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।।[४]

वेदान्तसार में वर्णित तत्त्वमसि के तीन पदों के अर्थ को इन तीन लिङ्गों को बताया गया है। असि पद का अर्थ भावलिङ्ग, त्वं पद का अर्थ प्राणलिङ्ग और तत् पद का अर्थ इष्टलिङ्ग है।

अस्यार्थो भावलिङ्गं स्यात् त्वमर्थः प्राणलिङ्गकम् ।
तदर्थस्त्विष्टलिङ्गं स्यात् पदत्रयनिरूपणे ।।[५]

पुन: त्रिविध लिङ्गों के दो-दो भेद बतलाये हैं।

- भावलिङ्ग
  - महालिङ्ग
  - प्रसादलिङ्ग
- प्राणलिङ्ग
  - चरलिङ्ग
  - शिवलिङ्ग

इष्टलिङ्ग — गुरुलिङ्ग
इष्टलिङ्ग — आचारलिङ्ग

इसप्रकार लिङ्ग छ:प्रकार के हैं।

महालिङ्ग जानने योग्य शिवतत्त्व को ही महालिङ्ग कहते हैं।

समस्त प्रपञ्च का कारण एवं परा नामक स्वशक्ति से उद्‌भूत ऐसे सादाख्यतत्त्व को उपाधि से रहित प्रसादघन लिङ्ग कहते हैं।

अन्त: और बाह्य रूप से प्रकाशित ज्योतिर्मय पुरुषस्वरूप प्रकृतितत्त्व से परे यथार्थवादी आप्तजन चरलिङ्ग है। ज्ञानकलारूप होने से सुशोभित दिव्य प्रभापुञ्ज से प्रकाशित अत्यन्त शान्त और अहंकार में अवस्थित 'इच्छाशक्ति' से व्याप्त ऐसे मूर्त्ततत्त्व को शिवलिङ्ग कहते हैं।

स्वरूप ज्ञानशक्ति के वैभव से उत्पन्न समस्त आत्मोपदेश रूप शास्त्रों में सुप्रतिष्ठ, तेजरूप सम्पूर्ण सुखों का आगार गुरुलिङ्ग।

स्थल में स्थित क्रियाशक्ति से स्थिर होकर भी सकल तत्त्वों के निवास का कारण होने से आधारभूत, चित्तमात्र से जानने योग्य, निवृत्तिमार्गाभिमानी ऐसे कर्म तत्त्व को वेदज्ञ विद्वान् आचारलिङ्ग कहते हैं।

इसप्रकार इन्हीं षड्‌लिङ्गों का परिणाम सृष्टि है। निमित्त कारण शिव ही है। अन्य दर्शनों में लिङ्ग को सूक्ष्म शरीर कहा गया है। अनुभवसूत्र में वर्णित लिङ्ग का भी तात्पर्य सृष्टि से ही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अनुभवसूत्रम्, ८/३
२. अनुभवसूत्रम्, ३/५,६,७
३. अनुभवसूत्रम्, ९/८,९
४. अनुभवसूत्रम्, ३/११
५. अनुभवसूत्रम्, ३/१२

*

लिङ्गतत्त्व-चिन्तनम्

ऐरचेनकोव ओ.एन. अक्षय

वीरशैवमते सर्वेषामुपासानानां लिङ्गतत्त्वोपासनः मुख्यं भवति इति। अत एव अनुभवसूत्रे आचार्येण मायीदेवेनोक्तम्–

शिव एव स्वयं लिङ्गमिति लिङ्गस्य वैभवम्।
नान्यच्चिह्नादिकं लिङ्गं तत्सर्वं कृतकं च यत्।।
लीयते गम्यते यत्र येन सर्वं चराचरम्।
तदेतल्लिङ्गमित्युक्तं लिङ्गतत्त्वपरायणैः।।इति

तस्मात् लिङ्गतत्त्वं परम्ब्रह्मैव भवतीति यथा सिद्धन्तशिखामणौ शिवयोगिना आचार्येणोक्तम्–

चिद्रूपं हि परं तत्त्वं शिवाख्यं विश्वकारणम्।
निरस्तविश्वकालुष्यं निष्कलं निर्विकल्पकम्।।३२।।
सत्तानन्दपरिस्फुर्तिं समुल्लासकलामयम्।
अप्रमेयमनिर्देष्यं मुमुक्षुभिरुपासितम्।।३३।।
परं ब्रह्म महालिङ्गं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।

तत्र लिङ्गतत्त्वम् उपासनीयमिति सर्वशास्त्रप्रामाण्यम्, यथा सिद्धन्तशिखामणौ–

वेदशास्त्रपुराणेषु कामिकाद्यागमेषु च।
लिङ्गधारणमाख्यातं वीरशैवस्य निश्चयात्।।६.६७

अथ ब्रवीमि–

श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु सर्वागमान्तेषु एव च।
सर्वशास्त्रेषु दर्शनेषु लिङ्गतत्त्वं प्रचक्षते।।इति

तस्मात् लिङ्गतत्त्वं न हेतुविशेषः यथा न्यायदर्शने व्याप्तिबलेन यद्यस्य गमकं तत् तस्य लिङ्गमिति तथा च यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमो वह्नेर्लिङ्गमिति। स चैव न लक्षणैव यथा सूत्रे युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति स चैव शब्दसाधुताप्रयोजको धर्मो न भवति इति यथा वैकारणिकाः मन्यन्ते किं तूक्तं श्वेताश्वतरश्रुतौ–

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।।इति

तत्र हि लिङ्गतत्त्वं सूक्ष्मशरीरं न भवति यथा सांख्ययोगमते आचार्येन विज्ञानभिक्षुकेन प्रवक्तव्यम् । अहङ्कारं बुद्धावन्तर्भाव्य सप्तदशतत्त्वेभ्य एव लिङ्गशरीरमुत्पद्यत इत्याह । तत्र प्रमाणञ्च । वासनाभूतसूक्ष्मञ्च कर्मविद्ये तथैव च । दशेन्द्रियं मनो बुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः इति । वस्तुतस्तु स चैव न केवलं बाह्यपूजादौ परमेश्वरस्य चिह्नम्, यत् मृच्छैलधातुरत्नादिमयं षोडशोपचारयागादिपूजार्थं निर्मितं पूजालम्बनं लिङ्गाकारं वा मूर्तिमयं वा वस्त्रपात्रध्वजादौ वा समुल्लिखितचित्रात्मकं वाऽनेकप्रकारकं शिवत्वेन पूज्यं भवति इति विशेषतस्तु तद् नरशिश्नस्य देवताशिश्नस्य वा चिह्नं न भवति इति सर्वागमेषु तु लिङ्गतत्त्वम् परमतत्त्वम् प्रस्तूयते, यथा चन्द्रज्ञाने–

बिन्दुनादात्मकं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
बिन्दुः शक्तिः शिवो नादः शिवशक्त्यात्मकं जगत् ।।
बिन्दुनादात्मकं लिङ्गं जगत्कारणमुच्यते ।इति ३.१३,१६

तथा स्कन्दपुराणे

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका ।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ।।इति

लिङ्गतत्त्वस्य त्रैरूप्यम्

सर्वेषां शैवदर्शनानां लिङ्गतत्त्वरूपं त्रिविधा प्रचक्षते इति एषा स्थूलसूक्ष्मपरेषु च परादिषु विभिद्यन्ते इति वीरशैवमते एतानि रूपाणि बाण-प्राण-इष्टलिङ्गानि उच्यन्ते

अपरिच्छिन्नमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्म सनातनम् ।
उपसनार्थमन्तःस्थं परिच्छिन्नं स्वमायया ।।इति ६।३६

तथा च तत्रैव

लिङ्गं तु त्रिविधं प्रोक्तं स्थूलं सूक्ष्मं परात्परम् ।
इष्टलिङ्गमिदं स्थूलं यद्बाह्ये धार्यते तनौ ।।४९।।
प्राणलिङ्गमिदं सूक्ष्मं यदन्तर्भावनामयम् ।
परात्परं तु यत्प्रोक्तं तृप्तिलिङ्गं तदुच्यते ।।५०।।इति

त्रीकदर्शने उच्चारयोगे लिङ्गतत्त्वं त्रिविधम्–अव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं व्यक्तमिति प्रचक्षते इति । यथा तन्त्रालोके–

देहगाध्वसमुन्मेषे समावेशस्तु यः स्फुटः ।
अहन्ताच्छादितोन्मेषिभावेदं भावयुक् च सः ।।

व्यक्ताव्यक्तमिदं लिङ्गं मन्त्रवीर्यं परात्परम् ।
नरशक्तिसमुन्मेषि शिवरूपाविभेदितम् ।।इति ५।११४-११५

यस्मात् त्रिकदर्शने लिङ्गतत्त्वद्वैतं परमार्थं विश्वोत्पत्तिर्न विश्वोमयम् सत्यं परमशिवादिशब्दैः उच्यते तस्मात् बाह्यपूजाम् उपासनां च न विधीयते यथा पराद्वैतदृष्टिप्रधाने त्रिकशास्त्रे बाह्यलिङ्गपूजाया विधिनिषेधयोरभावः । नात्र लिङ्गपूजावश्यकर्त्तव्या न चापि परिहार्या । तस्याः करणाकरणयोः स्वातन्त्र्यं त्रिकयोगिनः कृते । परं तथापि योगिनः पूर्वाभ्यासतो वा लोक-संग्रहार्थं वा तस्यां कामपि रुचिं प्रायो दर्शयन्त्येव नावहेलनां तस्याः कुर्वन्ति कथमपि । यथा तन्त्रालोके सिद्धान्ते लिङ्गपूजोक्ता विश्वाध्वमयताविदे ।

कुलादिषु निषिद्धासौ देहे विश्वात्मताविदे ।
इह सर्वात्मके कस्मात् तद्विधिप्रतिषेधने ।।४।२५६,५७

यदुक्तं च मालिनीविजये–

मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।।
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ।।१८।४२

अथ सिद्धन्तः

नास्ति देवं परो शिवं नास्ति बलं परोऽस्य शक्तिम् ।
नास्ति धर्मो परो वीरधर्मः नास्ति तत्त्वं परो लिङ्गतत्त्वम् ।।

इति शिवम् ।

*

श्वेताश्वतरोपनिषद् में वीरशैव-धर्म के बीज

पूजा सिंह, शोधछात्रा
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

भारतीय संस्कृति में धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हिन्दू धर्म में हमें वैदिक, अवैदिक तथा जनसाधारण के धार्मिक विश्वासों का समन्वय मिलता है। प्राचीन काल में विभिन्न देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है, जिनसे सम्बन्धित अनेक स्वतन्त्र सम्प्रदायों का हिन्दू धर्म में विकास हुआ। इनमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि प्रमुख सम्प्रदाय हैं, जिनकी उपासना पद्धतियाँ अलग-अलग हैं।

'शिव' को इष्ट मानकर उनकी उपासना से सम्बद्ध धर्म को 'शैव' कहा जाता है। इस धर्म को भारत का प्राचीनतम धर्म माना जा सकता है, क्योंकि भारत में शिव की उपासना प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ होकर निरन्तर विकसित होती रही है। इसी विकास क्रम में शिव-भक्तों के अनेक उपसम्प्रदाय बन गये, जिनके नियम एवं आधार अलग-अलग थे। इनमें पाशुपत, कापालिक, काश्मीरी शैव और लिंगायत सम्प्रदाय प्रमुख हैं। जिस प्रकार वेदान्त में द्वैत, द्वैताद्वैत आदि सम्प्रदाय हैं, उसी प्रकार शैव सम्प्रदायों में भी हैं। जिनमें से द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय वीरशैव मत है।

दक्षिण भारत में शैव धर्म का प्रचार-प्रसार वीरशैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय के रूप में हुआ। इस वीरशैव मत का केन्द्र कर्नाटक प्रदेश रहा है तथा इस सम्प्रदाय के सन्तों ने कन्नड़ भाषा में उपदेश दिये। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कल्याणी के शासक कल्चुरी विज्जल के प्रधानमन्त्री वासवराज एवं उनके भतीजे चिन्नावासव को माना जाता है। वसव पुराण में लिंगायत सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'अल्लमप्रभु' तथा उनके शिष्य वसव को बताया गया है। श्रीपति (११वीं शती) का ब्रह्मसूत्र पर श्रीकरभाष्य और शिवयोगी शिवाचार्य का सिद्धान्तशिखामणि इस मत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वीरशैव सम्प्रदाय के उपासक शिवलिंग की आराधना करते हैं एवं उसे चाँदी के सम्पुट में रखकर अपने गले में धारण करते हैं। ये वेदों और जाति-पाँति का खण्डन करते हैं। यद्यपि वीरशैवमतानुयायी वेदों का खण्डन करते हैं, तथापि भारत में यह परम्परा भी दीर्घ काल से रही है कि वेद ही हमारी समस्त मान्यताओं और विचारधाराओं के उद्गम हैं। अत: किसी प्राचीन देवता को हम शिव का आदि रूप मान सकते हैं, तो वह वैदिक देवता रुद्र ही है। श्री सी. वी. एन. अय्यर ने "Origine and Early History of Shaivism in South India" नामक पुस्तक में शैवमत के विभिन्न रूपों का विकास

वैदिक रुद्र की उपासना से ही माना है। इससे यह कहा जा सकता है कि भले ही वीरशैव सम्प्रदाय बाद में स्थापित हुआ हो, किन्तु उसके बीज हमें वैदिक काल एवं वैदिक साहित्य में ही प्राप्त हो जाते हैं।

वेदों में रुद्र एक प्रमुख देवता के पद की ओर शीघ्रता से बढ़ रहे थे और उनकी उपासना का प्रचार कर्मकाण्डों और बन्धनों से इतर विचारधारा वाले ब्राह्मणों में हो रहा था। इसके बाद वैदिक साहित्य के उपनिषद् ग्रन्थों में श्वेताश्वतरोपनिषद् ही एक ऐसा उपनिषद् है, जिससे उस काल में रुद्र से यह प्रार्थना की गयी है कि आप हमारे पुत्र, प्रपौत्र, पशु तथा योद्धाओं की हिंसा न करें। उपनिषद् काल में रुद्र को सामान्य रूप से ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है। रुद्र के इन सभी नामों में से ईशान बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नाम है–

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/११)

इस विषय पर "A Contractive Survey of Indian Philosophy" नामक पुस्तक में आर. डी. रानाडे ने कहा है कि 'श्वेताश्वतरोपनिषद् शैवमत के हित में ही लिखा गया है अर्थात् यह शैव मत का प्रतिनिधि उपनिषद् है। यहाँ रुद्र को ब्रह्म की उपाधि से विभूषित किया गया है।'

वीरशैव मत में शिव को परम तत्त्व माना जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी अनेक स्थलों पर शिव को मोक्षान्वेषी योगियों के ध्यान के विषय और स्रष्टा, ब्रह्मा तथा परम आत्मा माना गया है–

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/२)

वीरशैव मत की मान्यता है कि शिव की उपासना से समस्त बन्धन छूट जाते हैं और पुनर्जन्म नहीं होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसका उल्लेख भी अनेक श्लोकों में है–

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/१३)

वीरशैव मतानुसार यह जगत् शिव से ही उत्पन्न हुआ है और वे ही इस सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इस तथ्य को निरूपित किया गया है–

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः ।

सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/५)

वीरशैव मतानुयायियों का एक महत्त्वपूर्ण मत यह भी है कि वे निष्काम कर्म में विश्वास करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के छठवें अध्याय में भी समस्त कर्मों को परमात्मा को समर्पित करने का उपदेश किया गया है–

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/४)

वीरशैव मत में गुरु को विशेष स्थान प्राप्त है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी एक स्थान पर गुरु की महिमा इस प्रकार बतायी गयी है–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/२३)

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन के बाद हम कह सकते हैं कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में वीरशैव-धर्म के सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का वर्णन मिलता है। साथ ही इसमें शिव की उपासना का भी विशद वर्णन है। शैव सम्प्रदाय से वीरशैव मत का विकास यद्यपि बाद में हुआ हो, तथापि श्वेताश्वतरोपनिषद् के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसमें वीरशैव-धर्म की मान्यतायें तथा विचार बीज रूप में अवश्य विद्यमान हैं और यही आगे चलकर वीरशैव-धर्म के नियमों का आधार बना।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, एकादश खण्ड-तन्त्रागम–सं. आचार्य बलदेव उपाध्याय, उ.प्र. संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९९७।
२. भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन–चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २०१०।
३. श्वेताश्वतरोपनिषद्–डॉ. तुलसीराम शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९७६।
४. श्वेताश्वतरोपनिषद् : दार्शनिक अध्ययन–डॉ. वेदवती वैदिक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, १९८४।
५. शैवमत–डॉ. यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १०५५।
६. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति–डॉ. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, २००२।
७. ईशादि नौ उपनिषद्–गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१२।

✱

वीरशैव दर्शन में जीवात्मा

रेखा मल्ल
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

शैवागम में वीरशैव और धर्म और दर्शन की विवेचना करने से पहले शैव सिद्धान्त के विषय में ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे देश में शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही प्रचलित है। इसका वर्णन यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय में मिलता है। सम्पूर्ण विश्व को तैत्तरीय आरण्यक में रुद्र रूप में दिखाया गया है।

रुद्र की महिमा का वर्णन उपनिषद्, महाभारत तथा पुराणों में भी मिलता है। शैव सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों को शैवागम कहते हैं। मध्वाचार्य के अनुसार शैवमत के चार सम्प्रदाय हैं। नकुलीश, पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर। यमुनाचार्य के अनुसार दो कापालिक और कालामुख, दक्षिण में शैवमत को वीर शैवमत या लिङ्गायत सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। बल्लभाचार्य के वेदान्त सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत को शैव दर्शन स्वयं को मानता है। काश्मीर शैवमत भी शैवागम के अन्तर्गत है। वेदान्त सम्प्रदायों की भाँति ही शैव सम्प्रदायों में शैव-द्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन-अद्वैतवादी वीरशैवमत-द्वैताद्वैत शैवसिद्धान्त के अट्ठाईस आगमों में १० आगम भगवान् शिव से, १८ आगम भगवान् रुद्र से उपदिष्ट माने जाते हैं। १८ आगमों को दक्षिण के अघोर शिव शिवाचार्य का नाम देते हैं।

क्रान्तिचन्द पाण्डेय के अनुसार–दस द्वैतवादी, १८ रुद्रागम्य द्वैताद्वैत।

''वीरशैव'' संज्ञक सम्प्रदाय का उद्‌गम काफी पीछे हुआ प्रतीत होता है। चौदहवीं शताब्दी में माधव ने ''सर्वदर्शन संग्रह'' में पाशुपत तथा आगामी शैवमतों का उल्लेख किया है। परन्तु उससे यह प्रतीत होता है कि वह शैव के विषय में कुछ नहीं जानते हैं। ८, ९वीं शताब्दी के शंकर, वाचस्पति तथा आनन्द गिरि भी शैवों के विषय में कुछ नहीं जानते थे।

शैवागमों का उल्लेख ''वातुल तंत्र'' की पाण्डुलिपियों के दो संस्करणों में मिलता है। एक षड्स्थल सिद्धान्त तथा दूसरा परिशिष्ट के रूप में। किन्तु यह परिचय भी सन्देहजनक है।

प्राचीन रचनाओं के अवलोकन से हमें यह जानकारी मिलती है कि वीरशैवों के लिङ्गायत द्वारा की गयी लिंगपूजा का सिद्धान्त। वीरशैव सम्प्रदाय के संस्थापक मदिराज तथा मादम्ब के पुत्र ''वसव'' था। बसव मूलतः वागेवड़ी का निवासी था। किन्तु अल्प उम्र में ही बम्बई के निकट कल्याण आ गया। मामा बलदेव के पद त्याग पर बसव बिज्जल के कोष तथा शासनसम्बन्धी कार्यों के मंत्री पद पर नियुक्त हुआ।

वीरशैव शब्द का दार्शनिक निर्वचन वी–शिव और जीव इन दोनों के अभेद की बोधक विद्या है। ''र'' का अर्थ इस विद्या में रमण करनेवाला शिवभक्त है।

धार्मिक निर्वचन में श्री सद्गुरु के दीक्षा द्वारा इष्टलिङ्ग को प्रदान कर उसको यावज्जीवन शरीर पर धारण करने का आदेश देते हुए कहते हैं। गुरु के आदेशानुसार सावधानी से व्यवहार करता हुआ कदाचित् प्रमाद से उस इष्टलिङ्ग का शरीर से वियोग होने पर अपने प्राण का त्याग कर देने के वीरव्रत का परिपालन करता है, वह वीरशैव कहलाता है। कर्नाटक प्रदेश में वीरशैवों को लिंगायत कहा गया है। जिसके जीवन का उत्तरकाल ही लिङ्ग है। वह लिङ्गायत कहलाता है।

जीवात्मा के स्वरूप के विवेचन में शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और जीव इन दोनों में विशेषाद्वैत की व्युत्पत्ति से वि-शब्द से जगत् के कारणीभूत ईश्वर ही सिद्ध होते हैं। यद्यपि ''वि'' का अर्थ पक्षी भी बताया गया है। किन्तु प्रकृत में ''वि'' का अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिए तथा शेष शब्द उसी जीवात्मा से अभिभूत है। अग्निकण के दृष्टान्त से जीवात्मा को परमात्मा का अंश सिद्ध किया गया है। इस प्रकार अंशांशी भाव से जीव और परमात्मा में अद्वैत का बोधन होता है।

सच्चिदानन्दस्वरूप वह परशिव अपने विनोद के लिये स्वयं ही जीव और जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और जीव दोनों में न अत्यन्त भेद माना जाता है और न ही अत्यन्त अभेद, परन्तु भेदाभेद माना गया है। बद्धावस्था में जीव-शिव में भेद और मुक्तावस्था में अभेद मान्य है। जब शिव अपने विनोद के लिये स्वयं जीवात्मा बन जाता है, तब शिव में रहनेवाली वह शक्ति भी अपने स्वरूप को संकुचित करके, उस जीवात्मा में भक्ति के रूप में प्रवेश करती है। यह शक्ति ही क्रमशः जीवात्मा की संकुचित शक्ति को विकसित करती हुई इस जीवात्मा को परशिव के साथ समरस कर देती है।

जीवात्मा की षड्विध भक्ति और षट्स्थल परशिव की वह शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में आश्रित होकर जीव के जीवभाव को हटाकर शिवस्वरूप को प्राप्त कराने में उसका सहायक बनती है। जिसप्रकार जल छः रसों से युक्त होकर षड्रस स्वरूप बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति भी जीवात्मा के भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और ऐक्य नामक षड्विध आध्यात्मिक प्रगति की छः अवस्थाओं के रूप में परिणत हो जाती है।

भक्त—जब जीवात्मा अपने मूलस्वरूप पर शिव के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होकर पूजा, जप आदि में तत्पर हो जाता है, तब उसे भक्त कहते हैं। इसमें रहनेवाली भक्ति ही श्रद्धा-भक्ति कहलाती है। जब जीवात्मा अपने मूलस्वरूप परशिव के प्रति श्रद्धाभक्तियुक्त वह साधक तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान नामक शिव पंचयज्ञ में तत्पर रहता है। यहाँ

शिवपूजा की सामग्री के संपादन में तथा पूजा आदि क्रियाओं में जो शरीर का शोषण होता है, इष्टलिंग का अनन्यभाव से अर्चन करना ही कर्म कहलाता है। पंचाक्षर–मन्त्र, प्रणव मन्त्र अथवा श्रीरुद्र की पुन: पुन: आवृत्ति ही जप है। शैवागमों के वास्तविक अभिप्राय को समझना ही ज्ञान कहलाता है। यही वीरशैवों का शिव-पंचयज्ञ है।

माहेश्वर–श्रद्धा-भक्ति का जब उत्कर्ष हो जाता है, तब वह भक्तिनिष्ठा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। महेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है और वही मुक्तिप्रदायक है, वह स्वयं अनादिमुक्त है, इस प्रकार उसके स्वरूप को जानकर उसमें नितान्त निष्ठा रखनेवाला साधक ही माहेश्वर कहलाता है। अपने उपास्य इष्टलिंग में निष्ठा रखनेवाले उपर्युक्त माहेश्वर के जब सभी पाप ध्वस्त होकर मन अत्यन्त निर्मल व प्रसन्न हो जाता है, तब वह प्रसन्न मन का माहेश्वर 'प्रसादी' कहलाता है। इस प्रसादी में रहनेवाली भक्ति को अवधान भक्ति कहते हैं। अत्यन्त सावधानी को अवधान कहते हैं। साधक का मन भूत और भविष्य का चिन्तन छोड़कर जब वर्तमान काल में रहता है, तभी उसकी एकाग्रता सम्भव है। इस एकाग्रता से की ज़ानेवाली भक्ति ही अवधान भक्ति कहलाती है। सूर्य के उदित होने पर तुषार-कण उसके प्रकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार अपनी चिद्रूप ज्योति में प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। अत: इस प्राणशक्तिविशिष्ट चित् तत्त्व को प्राणलिंग कहते हैं, अपने चिद्रूप के चिन्तन में लगने लगता है। प्राणलिंगरूप शिव का अनुभव होने से पतिव्रता स्त्री जैसे प्रत्येक प्रसंग में अनन्यभाव से अपने पति के ही शरण में जाती है, उसी प्रकार जब साधक अन्यान्य देवताओं में आसक्ति छोड़कर अपने इष्टदेव शिव के प्रति ही अनन्यभाव से शरणागत होता है।

ऐक्य–परशिव का अनन्य शरणागत साधक (शरण) जब शिव के साथ समरस हो जाता है, तब वह 'ऐक्य' कहलाता है। समरस भावना ही समरस भक्ति है। जल में जल तथा अग्नि में अग्नि की तरह अपने मूल स्वरूप में समरस हो जाता है। यह भक्ति की अन्तिम एवं परिपूर्ण अवस्था है। शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में भक्ति के क्रमिक विकास से ही मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है। व्यावहारिक प्रपंच में पुत्र के जन्म के लिये कारणीभूत माता ही उसे अपने पिता का ज्ञान कराती है, वैसे ही वीरशैव दर्शन में वेदों के प्रामाणिकता पुरोहितों द्वारा बनाये गये कर्मकाण्ड नियम विधि निषेध को न मानकर जंगम सम्प्रदाय की स्थापना ऐतिहासिक ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण को परित्याग कर युग के माँग के अनुसार दृष्टिकोण साधारण जीवन परन्तु उद्देश्य परक है।

इस दर्शन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सम्पूर्ण मानवसमाज को सुधारने के विषय में निरूपित है। यह पूरे मानवसमाज के लिए एक श्रेष्ठ वरदान है।

श्लोक

१. सिद्धान्ताख्ये महातंत्रे........................वीरशैव मतं परम् ।। (सि.शि. ५.१४)
२. वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम् कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि ।।
३. वीरशब्देनोच्यते विद्या........................वीर शैवास्तु ते मताः ।। (सि.शि. ५.१६)
४. प्राणवद्धारणीयं........................वियोजय देहतः ।। (६.२६)
५. लिङ्गमायतिर्यस्य स लिङ्गायतः ।
६. शैवी भक्तिः समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते । (सि.शि. ५.२६)
७. पञ्चधा कथ्यते........................ज्ञानं चेत्यनुपूर्वकम् । (सि.शि. ९.२१)
८. भक्तेर्यदा........................स्थिरविवेकवान् । (सि.शि. १०.३)
९. प्राणलिङ्गादियोगेन........................दैक्यवान् भवेत् । (सि.शि. १४.२)

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. भारतीय दर्शन–चन्द्रधर शर्मा
२. भारतीय दर्शन परम्परा–डॉ. हरवंशलाल शर्मा
३. धर्म और दर्शन–विश्वम्भर दयाल अवस्थी
४. भारतीय दर्शन–एस.एन. दास
५. सर्वदर्शन संग्रह–रसेश्वर
६. भारतीय दर्शन–बलदेव उपाध्याय

✶

वीरशैव धर्म के पौराणिक एवं ऐतिहासिक स्रोत एवं उसके सम्प्रदाय

राघवेन्द्र प्रकाश श्रीवास्तव, शोधछात्र
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

भगवान् शिव की पूजा करने वालों को शैव एवं शिव से सम्बन्धित धर्म को शैव धर्म कहा गया है। शैव धर्म से सम्बन्धित प्रथम ऐतिहासिक साक्ष्य मेगस्थनीज की 'इण्डिका' से प्राप्त हुआ। उसके अनुसार सूरसेन (मथुरा के निवासी) डायोनिसियस (शिव) के उपासक थे। शिव-शक्ति के विषय में भारत में सबसे प्राचीनतम साक्ष्य सैंधव सभ्यता के अन्तर्गत मोहनजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मूर्ति है।

ऋग्वेद[1] में शिव के लिए **'रुद्र'** नामक देवता का उल्लेख है। अथर्ववेद[2] में शिव को भव, शर्व, पशुपति, भूपति कहा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र का उल्लेख **'सहस्राक्ष'** एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में मिलता है। श्वेताश्वतर[3] एवं अथर्वशिरस उपनिषद् में भगवान् **'रुद्र'** की महानता का वर्णन मिलता है। लिङ्गपूजा का पहला स्पष्ट वर्णन मत्स्यपुराण में मिलता है। महाभारत[4] के अनुशासन पर्व में भी लिङ्ग पूजा का वर्णन मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य में शिव की मूर्ति बनाकर पूजा करने का विवरण मिलता है। शिव की प्राचीनतम मूर्ति गुडीमल्लम लिङ्ग रेनुगुंटा से मिली है। गुप्त काल में सर्वप्रथम शिव एवं पार्वती की संयुक्त मूर्तियों के निर्मित होने के प्रमाण मिलते हैं।

उत्तर वैदिक काल के तैत्तरीय संहिता में इनका नाम शिव प्राप्त होता है। रुद्र की पत्नी का नाम पार्वती तैत्तरीय आरण्यक में मिलता है। तैत्तरीय आरण्यक में ही अम्बिका का रुद्र की भगिनी के रूप में उल्लेख है। केन उपनिषद् में हिमालय की पुत्री उमा हेमवती का उल्लेख है।

शैव धर्म[5] का सबसे अधिक विकास गुप्तकाल में हुआ। सर्वप्रथम मूर्तिपूजा के रूप में गुप्त काल में ब्रह्मा, विष्णु व महेश की पूजा का उल्लेख मिलता है। **'हरिहर'** के रूप में शिव की विष्णु के साथ सर्वप्रथम मूर्तियाँ गुप्त युग में ही बनायी गयी। कुमारगुप्त प्रथम के समय में करम दंडा एवं खोह में शिवलिङ्ग की स्थापना हुई। इसी काल में भूमरा एवं नचता कुठार में शिव एवं पार्वती के मन्दिरों का निर्माण हुआ। राजपूतों के समय में विशेषकर चन्देलों के युग में खजुराहों में कन्दारिया महादेव मन्दिर का निर्माण हुआ।

उत्तरभारत की तरह दक्षिण भारत में भी शैव धर्म का विकास हुआ। मुख्यतः

चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव एवं चोलों के समय में यह धर्म उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूटों ने किया। दक्षिण में शैव धर्म के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले **'नायनार सन्तों'** ने पल्लव काल में इस धर्म का प्रचार-प्रसार ६३ नायनार सन्तों में अप्पार, तिरुज्ञान, सम्बन्दर, सुन्दर मूर्ति एवं माणिक्यवाचगर आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। चोल शासक राजराज प्रथम ने तंजोर में प्रसिद्ध राजराजेश्वर शिव मन्दिर का निर्माण करवाया। इसी वंश के राजेन्द्र चोल ने बृहदीश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया।

शैवधर्म का पौराणिक ऐतिहासिक स्रोत–शिव का लिङ्ग[६] रूप में भी पूजा का प्रमाण मिलता है। लिङ्ग पूजा का प्रथम उल्लेख मत्स्यपुराण में है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भी लिङ्गपूजा का उल्लेख है। शिव की प्राचीनतम मूर्ति पहली शताब्दी ई. में मद्रास के निकट रेनी गुंटा में प्रसिद्ध गुडिमल्लम लिंग के रूप में प्राप्त हुई है।

रामायण में शिव से सम्बद्ध अनेक कथाएँ जैसे–विषपान, गंगावतरण, मदनदहन, स्कन्दजन्म आदि प्राप्त होती हैं। रामायण में शिव को **'हर'** और **'वृषध्वज'** उपाधियों से विभूषित किया गया। शिव के परिचर नन्दी का भी उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में हुआ है। महाभारत में शिव की उपासना मानवाकार और लिंगाकार दोनों रूपों में होती थी। इनका कापालिक रूप भी महाभारत में वर्णित है। स्कन्दजन्म, त्रिपुरदाह, सागर-मंथन, दक्षयज्ञ आदि कथाओं का उल्लेख भी यह ग्रन्थ करता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के बारे में कहा जाता है कि पाणिनि के १४ सूत्र महादेव के डमरू से उत्पन्न हुए हैं। पतंजलि के महाभाष्य से पता चलता है कि परवर्ती मौर्य सम्राट् शिव एवं स्कन्द की मूर्तियाँ बनाकर बेचते थे।

पौराणिक युग में शिव की महत्ता परब्रह्म के रूप में स्थापित हुई। स्कन्दपुराण में भगवान् शिव कहते हैं कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पहले में ही अकेला ईश्वर था, वर्तमान में मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में मैं ही रहूँगा। शिव स्वयंभू हैं, अत: इनका अवतार नहीं होता है, लेकिन वायुपुराण में उल्लेख है कि शिव ने लकुलीश नामक एक ब्रह्मचारी के रूप में अवतार लिया था। सृजन का अध्यक्ष होने के नाते वह **'अर्धनारीश्वर'** है। वह महादेव अर्थात् महान् देवता है। वह दहर अर्थात् पकड़ने वाला, भैरव अर्थात् भयंकर, भवेश अर्थात् संसार का स्वामी तथा पशुपति अर्थात् पशुओं का स्वामी है।

मौर्योत्तर काल में कुषाण शासक विम कडफिसस की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव और नन्दी के चित्र का अंकन मिलता है तथा पृष्ठ भाग पर महेश्वर अंकित है। यह शैव धर्म से सम्बन्धित प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य है। कुषाण शासक हुविष्क की मुद्राओं में शिवलिंग का चित्रण मिलता है।

संस्कृत के महाकवि कालिदास शैव उपासक थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य **'रघुवंश'** का प्रारम्भ **'पार्वती-परमेश्वर'** की वन्दना के साथ किया है। **'कुमारसम्भव'**

महाकाव्य में कुमार या स्कन्द (शिवपुत्र) के जन्म का वर्णन है। इसी महाकाव्य में शिव और शक्ति के सम्मिलित स्वरूप अर्धनारीश्वर की कल्पना की गई है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का मंत्री वीरसेन शैव धर्म का अनुयायी था। इसने उदयगिरि पर्वत पर शैव अनुयायियों के रहने के लिए एक गुफा का निर्माण करवाया। समुद्रगुप्त के समय की प्रयाग प्रशस्ति में शिव की जटा से गंगा के निकलने का उल्लेख मिलता है।

गुप्तोत्तर काल[७] में महाकवि भारवि की रचना **'किरातार्जुनीयम्'** में किरात वेशधारी शिव और अर्जुन के बीच युद्ध का वर्णन है। हर्षवर्धन के बाँसखेड़ा और मधु की अभिलेखों में उल्लेख मिलता है कि ६१९ ई. से पहले हर्षवर्धन शैवधर्म का अनुयायी था। हर्षवर्धन के समय ह्वेनसांग भारत आया, जिसके अनुसार काशी शैवधर्म का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ पर सौ से अधिक शिव मन्दिर थे। हर्षवर्धन के समकालीन शासकों गौड़ नरेश शशांक और कामरूप के भास्करवर्मा ने भी शैव धर्म को अपनाया।

शैवधर्म के प्रमुख सम्प्रदाय–वामन पुराण[८] में शैव मत के ४ सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है–पशुपति, कापालिक, वीर शैव/लिंगायत व कालामुख।

पाशुपत सम्प्रदाय–यह शैवों का सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है, जिसकी उत्पत्ति ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हुई। वायुपुराण और लिंगपुराण से पता चलता है कि इस सम्प्रदाय का संस्थापक लकुलीश नामक ब्रह्मचारी था। इनका जन्मस्थान कायावरोहण (गुजरात) था। इस सम्प्रदाय के लोग हाथ में एक लगुड या दण्ड धारण करते थे। लकुलीश की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक ग्वालियर के **'तेली-मन्दिर'** में है।

इस सम्प्रदाय का प्राचीनतम अंकन कुषाणशासक हुविष्क की एक मुद्रा पर मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीयकालीन मथुरा लेख में उदिताचार्य नाम एक पाशुपत मतानुयायी का उल्लेख है, जिसने दो लिंगों की स्थापना करवायी थी। महेश्वरकृत **'पाशुपत सूत्र'** तथा वायुपुराण से इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। इसके अन्तर्गत पाँच पदार्थों की सत्ता स्वीकार की गई है–कार्य, कारण, योग, विधि व दुःखान्त। नेपाल के काठमण्डु का पशुपतिनाथ मन्दिर इस मत का प्रमुख केन्द्र है।

कापालिक सम्प्रदाय–यह शैव धर्म का दूसरा प्रमुख सम्प्रदाय है। इसके उपासक भैरव को शिव का अवतार मानकर उनकी उपासना करते हैं। इस मत के अनुयायी सुरा-सुन्दरी का सेवन करते हैं। मांस खाते हैं तथा नरमुण्ड धारण करते हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से इनकी ज्ञान-शक्ति तीक्ष्ण होती है। भवभूति के मालतीमाधव नाटक से स्पष्ट होता है कि श्रीशैल नामक स्थान कापालिकों का प्रमुख केन्द्र था।

कालामुख सम्प्रदाय–इस सम्प्रदाय के अनुयायी कापालिकों के ही वर्ग के थे, पर इस सम्प्रदाय के समर्थक अतिवादी विचारधारा के लोग थे। अतिमार्गी होने के कारण ही शिवपुराण में उन्हें महाव्रतधर कहा गया है। इस सम्प्रदाय के लोग नर-कपाल में ही

भोजन, जल तथा सुरापान करते हैं और साथ ही अपने शरीर पर चिता का भस्म मलते है।

वीरशैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय–वीरशैव, शैव धर्म की एक प्रमुख शाखा होते हुये भी पूरे शैव धर्म में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। शिव के पाँच गण रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण तथा विश्वकर्ण ये पाँच शिवगण शिव के आदेश के अनुसार पाँच शिवलिंगों से अवतार लेकर भूलोक में इस धर्म की स्थापना की। इन पाँच शिवगणों को पंचाचार्य कहते हैं। इस धर्म के पाँच धर्मपीठ है। रंभापुरी में वीरपीठ, उज्जैन में सद्धर्मपीठ, केदार में वैराग्य पीठ, श्रीशैल में सूर्यपीठ और काशी में ज्ञानपीठ। इस धर्म के अनुयायी भक्त पूरे भारत में फैले हुये है। दक्षिण भारत के महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलंगाणा, आन्ध्र, केरला एवं मध्यप्रदेश तथा उत्तर भारत में दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान, पंजाब, गुजरात एवं जम्मू तथा उडिसा में भी वीरशैव धर्म के अनुयायी कहीं अधिक कहीं कम संख्या में निवास करते हैं। वीरशैव धर्म के अनुयायी अपने इष्टलिंग को सदा शरीर पर धारण करते हैं। इसीलिए इनको लिंगायत भी कहते हैं। लिंगायत केवल वीरशैव का पर्याय नाम है महात्मा बसवेश्वर वीरशैव दीक्षा स्वीकार करके वीरशैव धर्म का ही प्रसार किया है बारहवीं शताब्दी में बसवेश्वर चन्नबसवेश्वर अक्कमहादवी आदि अनेक शरणों ने कन्नड भाषा में वचन शास्त्र की रचना की है। वीरशैव धर्म का धर्म ग्रन्थ श्री सिद्धान्त शिखामणि है। यह वेदागमो पर आधारित प्रामाणिक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शैव धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है, जिसका वर्णन हमें ऋग्वेद से ही प्राप्त होने लगता है। शैव धर्म की सबसे अधिक विशेषता इस बात की है कि यह धर्म प्राचीन काल से चलता हुआ आज भी हमारे बीच विद्यमान है। जबकि इसी धर्म के साथ अस्तित्व में आये अनेक धर्म विलुप्तप्राय हो गये। शैव धर्म की मान्यता अधिक होने का प्रमाण अनेक शासकों द्वारा निर्मित कराये गये शिव मन्दिर हैं, जिसका अस्तित्व वर्तमान समय में भी है।

शैव धर्म में उपासना, मंत्रसिद्धि आदि कर्म किये जाते हैं। इस धर्म में ध्यान व साधना पर अधिक बल दिया जाता है। इस धर्म में यह प्रतिपादित किया जाता है कि क्या विहित है और क्या अविहित है। शैव धर्म का वैष्णव धर्म से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि शैव एवं वैष्णव मत दोनों ही ईश्वरवादी और एकेश्वरवादी हैं। लेकिन जहाँ वैष्णव मत व्यक्ति के मानवीय एवं भावात्मक पक्ष को छूता है, वहीं पर शैव दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित है, जिसके कारण यह धर्म हमारे लिए वर्तमान समय में भी उतना ही ग्राह्य व महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. ऋग्वेद–१/११४/९, १/११४/१०
२. अथर्ववेद–१५/५/१-७
३. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३/४/७
४. महाभारत/अनु. पर्व/अ. ३८/४०
५. वैष्णव एवं शैव मत–ले. आर. जी. भण्डारकर, पृ. १५८,१५९
६. ले. डॉ. रामचन्द्र रानाडे–प्राचीन भारतीय साहित्य, भाग-१, खण्ड-२
७. प्राचीन भारतीय साहित्य पृ. २३१, भाग-१, खण्ड-२
८. प्राचीन भारत–एस. के. पाण्डेय
९. यूनीक–यूनीक पब्लिकेशंस

✶

वीरशैव धर्म-दर्शन में शिव-शक्ति का सम्बन्ध

धीरज कुमार शुक्ल
शोधछात्र, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतवर्ष अनेक धार्मिक दर्शनों एवं सम्प्रदायों का देश है। काल एवं परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनों एवं सम्प्रदायों का आविर्भाव विभिन्न प्रदेशों में हुआ। इन्हीं की उपज शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत दक्षिण भारत में वीरशैव मत भी है। शैव-सम्प्रदाय शिव को माननेवाले लोगों का सम्प्रदाय है। शिव या रुद्र की उपासना वेदों के समय से प्रचलित है। यजुर्वेद का 'शतरुद्रीय अध्याय' प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय आरण्यक में इस समस्त विश्व को रुद्र रूप बताया गया है। श्वेताश्वतर आदि कुछ उपनिषदों में, महाभारत में तथा लिङ्ग आदि पुराणों में शिव या रुद्र की महिमा वर्णित है।

जिस प्रकार वेदान्त सम्प्रदायों में अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, ठीक उसी प्रकार शैव सम्प्रदाय में भी शैव-सिद्धान्त द्वैतवादी, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, अद्वैतवादी और वीरशैव मत द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैतवादी सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों का भारत के अलग-अलग राज्यों में प्रचलन था, जैसे शैव-सिद्धान्त का केन्द्र तमिल प्रदेश, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का काश्मीर और वीरशैव मत का केन्द्र कर्णाटक प्रदेश रहा है।

वीरशैव मत के मुख्य प्रचारक वसव (१२वीं शती) हैं। श्रीपति (११वीं शती) का ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकरभाष्य' और श्री शिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्तशिखामणि' इस मत के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इस मत के अनुयायियों को लिङ्गायत या जङ्गम कहते हैं। ये लोग शिव लिङ्ग को अपने गले में धारण करते हैं या शरीर पर रखते हैं।

वीरशैव मत को शक्ति विशिष्टाद्वैत भी कहते हैं। **''शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ शक्तिविशिष्टौ शिवजीवौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि सूक्ष्म चिदचित् शक्तिविशिष्ट शिव और अल्पज्ञत्व, अल्पकर्तृत्व आदि स्थूल चिदचित् शक्तिविशिष्ट जीव, इन दोनों के अभेद को अर्थात् अद्वैत को बताने वाला सिद्धान्त ही शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है। जैसे भ्रमर से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला कीट भ्रमर के निरन्तर ध्यान से भ्रमर बन जाता है, वैसे ही शिव से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला जीव भी शिव का ही निरन्तर ध्यान करते-करते अपनी संकुचित शक्तियों का विकास कर शिवस्वरूप हो जाता है।

वीरशैव सिद्धान्त में परशिव को **'स्थल'** अथवा **'लिङ्ग'** शब्द से अभिहित किया गया है। श्री मायिदेव ने अपने अनुभवसूत्र के निम्न श्लोकों में स्थल एवं लिङ्ग की परिभाषा प्रस्तुत की है–

यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः ।
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः ।।

(अनु.सू. २-४)

लयगत्यर्थयोर्हेतुभूतत्वात् सर्वदेहिनाम् ।
लिङ्गमित्युच्यते साक्षाच्छिवः सकलनिष्कलः ।।

(अनु.सू. ३-४)

अर्थात् सृष्टि से पूर्व यह विश्व परशिव में स्थित है और प्रलयकाल में उसी में इसका विलय हो जाता है। अतएव उसे **'स्थल'** अथवा **'लिङ्ग'** कहा गया है। सगुण और निर्गुण होने के कारण शिव को सकल-निष्कल कहते हैं। शिव अपने शक्ति के संकोच से निर्गुण और शक्ति के विकास से सगुण हो जाता है। जगत्सृष्टि के समय शिव की शक्ति अनेक रूपों में विकसित हो जाती है, अतः शक्तिविशिष्ट शिव सगुण कहलाता है। संहार के समय शिव की शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं, तब वे निर्गुण कहलाते हैं। इस प्रकार शक्ति के विकास से सृष्टि और उसके संकोच से जगत् प्रपंच का संहार होता है। शिव की बाह्य शक्ति शिव में अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है।

शिव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाली वह शक्ति--**'तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा''** (सि.शि. २१२) सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार यह शक्ति सच्चिदानन्दरूपिणी है। **'श्वेताश्वतर उपनिषद्'** में इस शक्ति को 'माया' कहा गया है। यहाँ माया का अर्थ मिथ्या नहीं, किन्तु **''मं शिवम् अयति स्वभावतः प्राप्नोतीति माया''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव में स्वाभाविक रूप से रहने वाली शक्ति माया है। शिव और शक्ति के सम्बन्ध में कुछ लोग तादात्म्य मानते हैं, किन्तु वीरशैव सिद्धान्त में उन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है–

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।
पुष्पगन्धवदन्योन्यं मारुताम्बरयोरिव ।।

(वीरशैवानन्दचन्द्रिका ७)

जिस प्रकार सूर्य में प्रभा, चन्द्र में चन्द्रिका, पुष्प में गन्ध, शर्करा में मिठास आदि अविनाभाव सम्बन्ध से रहते हैं, वैसे ही शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है। इसी अविनाभाव सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध भी कहते हैं। शक्तिविशिष्ट शिव से ही सारे प्रपंच की उत्पत्ति होती है।

शास्त्रों में शिव को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप माना गया है, अर्थात् वह अस्मि, प्रकाश और नन्दामि इन अनुभवों से युक्त है। इस प्रकार का यह अनुभव ही उस शिव की विमर्श शक्ति कहलाती है। शिव में इस अनुभव को न मानने पर वह स्फटिक आदि के समान जड़ हो जायेगा। जिस प्रकार सौन्दर्यविशिष्ट अन्धे को अपने सौन्दर्य का ज्ञान न होने के कारण उसका वह सौन्दर्य व्यर्थ है, ठीक उसी प्रकार अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का विमर्श शिव को न होने पर उसे व्यर्थ मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

परशिव की वह शक्ति वस्तुत: एक होने पर भी सृष्टि के समय स्वस्वातन्त्र्य बल से **चिच्छक्ति, पराशक्ति, आदिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति** एवं **क्रियाशक्ति** के नाम से छ: प्रकार की हो जाती है (अनु.सु. २७, ३.६)।

१. **चिच्छक्ति**—सूक्ष्म कारण रूप प्रपंच की उपादानकारणीभूत शक्ति चिच्छक्ति कहलाती है (शिवाद्वैतमञ्जरी, २७)। इसी को विमर्शशक्ति अथवा परामर्श शक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति बोधरूप है, उससे विशिष्ट होने के कारण ही परशिव को मैं हूँ, मैं प्रकाशमान हूँ, मैं आनन्दरूप हूँ आदि रूपों में अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध होता है।

२. **पराशक्ति**—चिच्छक्ति के सहस्रांश से पराशक्ति का प्रादुर्भाव होता है (वातुलशुद्धाख्य तन्त्र), यह आनन्दस्वरूप है। इसे अनुग्रह शक्ति भी कहते हैं। इस शक्ति से युक्त होकर परशिव योगियों के ऊपर अनुग्रह करता है।

३. **इच्छाशक्ति**—आदिशक्ति के सहस्रांश से इच्छाशक्ति का उदय होता है (वातुलशुद्धाख्य तन्त्र १.२५) प्रपंच की कारणीभूत इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का आदि कारण होने से उसे आदिशक्ति कहते हैं। इस शक्ति से युक्त परशिव प्राणियों का निग्रह करते हैं।

४. **इच्छाशक्ति**—आदिशक्ति के सहस्रांश से इच्छाशक्ति का उदय होता है (वातुलशुद्धाख्य तन्त्र १.२५)। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन दोनों की साम्यावस्था ही इच्छाशक्ति कही जाती है। यह इच्छाशक्ति अपने में विद्यमान ज्ञान और क्रियाशक्तियों के माध्यम से विश्व को उत्पन्न करती है। विश्वसंहार के समय यह विश्व पुन: इच्छाशक्ति में ही विलीन होकर रहता है। इस शक्ति से परशिव प्रपंच का संहार करते हैं।

५. **ज्ञानशक्ति**—इच्छाशक्ति के सहस्रांश से ज्ञानशक्ति की उत्पत्ति होती है (वातुलशुद्धाख्य तन्त्र १.२६)। इस ज्ञानशक्ति के कारण ही शिव सर्वज्ञ कहलाते हैं। इस शक्ति द्वारा शिव को जगत् प्रपंच की उत्पत्ति का निमित्त कारण तथा उत्पत्ति के अनन्तर उसका पालक भी माना गया है।

६. **क्रियाशक्ति**—परशिव की अन्तिम शक्ति के रूप में क्रियाशक्ति को माना गया है। यह शक्ति इस प्रपंच का उपादान कारण है। इसी शक्ति को शिव की कर्त्तव्य शक्ति के रूप में माना गया है।

इस प्रकार परशिव की वह एक ही शक्ति जगत् सृष्टि रूप प्रयोजन से उपर्युक्त छः रूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार स्वर्ण विविध आभूषणों के रूप में परिणत होता है, ठीक उसी प्रकार सृष्टि रचना के समय विमर्शशक्तिविशिष्ट परशिव ही शिवतत्त्व से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों के रूप में परिणत होता है। यह परिणाम अविकृत परिणाम कहा जाता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़े का निमित्त कारण, दण्ड और चक्र सहकारी कारण तथा मिट्टी उपादान कारण है, उसी प्रकार शिव जगत् के निमित्त कारण, उनकी शक्ति सहकारी कारण और माया उपादान कारण है। **'श्रीमद्भागवत महापुराण'** में कहा गया है कि शिव मकड़ी के समान ही अपने स्वरूपभूत शिवशक्ति के रूप में क्रीड़ा करते हुए लीला से ही संसार की रचना, पालन और संहार करते रहते हैं (भा.म.पु., चतुर्थ स्कन्ध, ४३ श्लोक)।

अतः यह सम्पूर्ण जगत् प्रपंच शिवशक्तिमय अर्थात् शिवशक्ति का ही विलास है।

✶

A Glimpse of Sūkṣmāgama

Dr. R. Ghose
Reader and Head, Dept. of Philosophy
Arya Mahila P.G. College, B.H.U. Varanasi

Āgamas and Vedas, the two streams of scriptures are the revelations by the supreme Being for the welfare of mankind and the source and ground of all the philosophical doctrines and religious life of Hinduism in general and Śāktaism and Śaivism, in particular. These treatises enunciate the nature of ultimate Reality as well as the way to achieve it. They are never apart, rather complementary to each other, though having a different approach. Āgamas intensively advocate the ritualistic aspect of religious life and elaborately deal with the spiritual sanctions and regulations of the worships. Āgamas, unlike Vedas, offer the authority of both the principle and practice to all, irrespective of caste, colour, creed and sex. It is to be noted that the adherers of Āgamas aim at invoking ultimate Reality, the pure consciousness–bliss, within one's own self rather reaching Him, by enhancing the power of the body and mind for apprehending the Reality in and through their own being. Emphasis has been bid down on the fact that human body (aṇḍa) consists of the potentiality of the divinity and the supreme power inherent in the whole creation (piṇḍa) Macrocosm is implied in the Microcosm. That implicit power can be awakened by being immersed in the unflinching deep meditation on the particular point of the body (cakras) which are regarded to be the base of the power. Mantras are the potent fire that kindle the consciousness power within; religious rites and duties are the helping processes that prepare the ground and the congenial state to get the ultimate Power manifested within. The underlying principle is worshipping God by becoming 'one with God' (देवो भूत्वा देवं यजेत्).

In The history of the Tantric literature, ten Śaivāgamas

and eighteen Rudrāgamas have been recognised. As per the enumeration made in Kiraṇagama Sūkṣma, Kāmika, Yogaja, Cintya, Kāraṇa, Ajita, Dīpta, Sahasra, Aṁśuṃat, Suprabheda are regarded as Śaivāgamas and Vijaya, Pārameśvara, Nihsvāsa, Protgīta, Mukhabimba, Siddhamat, Santāna, Vārasiṁha, Candrahāsa, Bhadra, Svayambhuva, Viraja, Raurava, Makuṭa, Kiraṇa, Lalita, Āgneya, Parākhya are known as the Rudrāgamas.

Sūkṣmāgama, the seventh in the list, also known as the Sūkṣma Tantra, is in the form of discourse between Goddess Pārvatī and Maheśvara. Ultimate Reality Śiva is eternal, unblemished, transcendental, pure Being and of the nature of existence, consciousness and bliss. This bodiless pure consciousness is effulgent light, inner being of everything, static and is the origin and substratum of 6 Advas i.e. Varṇa, Pada, Mantra, Kalā, Tattva and Bhuvana[1]. It assumes the form of Power such as Parāśakti, Ādiśakti, Īccāśakti, Jñānaśakti and Kriyāśakti. So, non-dual pure Being manifests Itself into five forms and again it assumes the different forms for the worshippers[2]. With the combination of Bindu and Nāda i.e. the Parāśakti and Ādiśakti, five Sādākhyas, namely, Śiva Sādākhya, Amūrtasādākhya, Mūrta Sādākhya, Kartṛsādākhya and Karma Sādākhya. They are also known as Sadāśiva, Īśa, Brahmā, Īśvara, Īśāna respectively. These Śivatattvas are again divided into three forms i.e. gross, subtle and transcendental in accordence with the mode of worship. It is the gross in the form of Liṅga and Image etc., yogī meditates on the subtle form, where as the devotee who proceeds through the channel of Ṣaṭasthalas attains the transcendental state of Being, the unquualified state of the ultimate Reality. Qualified state is named as Sadāśiva, otherwise known as Sādākhya Tattva which are being worshipped[3]. In comparable pure Śiva Sādākhya, endowed with Śāntyātita Kalā is the supreme substratum of all elements. The second one is Amūrta Sādākhya, endowed with Śāntikalā, is of the nature of Liṅga, the pillar of the effulgent

light, may be revealed to the pure heart of the devotee. Mūrta Sādākhya, endowed with the Īcchā Śakti and Vidyākalā is the divine form of fire, the bestower of wellbeing. Fourth manifestation, the Kartṛ Sādākhya is the combination of Jñānaśakti and Pratiṣṭhākalā which ever glows as the crystal. The image of Īśvara, the cause and origin of the world is established within. It assumes the form of having four head four face, and four colours, twelve eyes, eight ear, eight arms and two legs. Trident, Axe, rope-bond, and Abhay posture show his brave and bright nature. Left arms holding the stag, snake, bell and varada posture indicate his benevolent nature. Being endowed with all beautiful parts. It is known as Kartṛ Sādākhya Karma Sādākhya is the abode of all hymns which is the basis of all actions. He is of the colour of Kunda flower, crystal clear, having five heads and faces. All the faces are decorated with the third eye and moon. He is seated on the lotus and adorned with the divine cloths, ornaments and weapons[4]. Thus being endowed with all auspicious qualilties, He is the bestower of Puruṣārthas i.e. Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa and the performer of 25 sports manifestation of His grace and bliss. These twenty five sports are (i) Śaśicūda līlā, (2) Umākānta līlā, (3) Vṛṣātūḍa līlā, (4) Taṇdava līlā, (5) Vaivāha līlā, (6) Bhikṣātan līlā, (7) Kāmasaṁhāra līlā, (8) Kālasaṁhāra līla, (9) Tripura saṁhāra līlā, (10) Jālandhar vadh līla, (11) Brahma darpanivāraṇa līla, (12) Vīrabhadrāvataraṇa līlā, (13) Haridhvaṁsa līlā, (14) Ardhanārīśvara līlā, (15) Kirātākāra dhāraṇa līlā, (16) Kaṅkāladhāraṇa līlā, (17) Caṇḍeśānugraha līlā, (18) Viṣapān līlā, (19) Cakradāna līlā, (20) Vighneśa varadāna līlā, (21) Somaskanda līlā, (22) Ekpāda līlā, (23) Sukhāvaha līlā, (24) Dakṣiṇā mūrti līla, (25) liṅgodbhava līlā. Through these twentyfive expression of bliss Lord of the Lords Mahādeva is ever active in His emanation of the creation. Devotee should contemplate on Him by the observance of eight fold paths of yoga. All the above mentioned episodes are the different expressions of grace on the various occasions of

manifestations. Śiva the ultimate Reality, the controller of all, is to be meditated upon and reallised His grace.[5] Then the heirarchical glory of the hymn has been propagated.

There are seven crores of mantras that purify the world.[6] Out of them some are related to God Viṣṇu, where as other hymns are connected to Śakti and various deities. Six Saḍaṅga hymn and five Brahma hymn including the great Aghora hymn fulfil the desires of the worshippers. But Pañcākṣara hymn is the supreme among the all. All hymns are the auxiliaries of the greatest five syllable hymn and so is called as upamantras. Vedic religion, history, Purāṇas and all Āgama scriptures are inspired by this hymns only and Brahma Viṣṇu, Rudra, Ādityas, nine planets, earth, all spheres of creation, Gandharva, Kinnar, Śiddha and all other species remain existant in all time. This five syllable hymn is the essence of all hymns and the only imparter of liberation. It reveals the real nature of tattvas and causes the supernatural powers of the being. It is the origin of all divine knowledge. As a small sead of the fig tree gives birth to a huge and stout tree, so also the five syllable hymn getting fructified emanates the other eternal hymns. Seekers observe the three process of japa i.e. Vācik, Upanśu and Mānasa in accordance with their hierarchy. Five syllablo hymn prefixed with Praṇava named as sadakṣara is the bestower of all glory and bliss of the life and beyond.

Gradually the scripture proceeds to propound the spiritual relation between the precepter and disciple. Śiva himself assumes the form of Guru. He is the cause of all causes, the abode of everything, supreme self-evident, incomparable divine state. Guru is the only refuge, the bestower of everything liberation is attainable only through Dikṣā.

Reality, in the form Nāda and Śakti tattva in the form of Bindu is the Liṅga and Its base respectively. The word 'Li' denotes the disolution, 'ga' points out to emanation and the bindu in between stands for maintenance. The phenomenal world is

manifested from and again absorbed in the Liṅga. Liṅga is the combined form of Śiva and Śakti and so is the bestower of both 'bhakti and mukti'–the enjoyment and liberation. Iṣṭaliṅga is to be adored with the inner flower, namely, mercy, perseverance, meditation, penance, knowledge and truth etc. and five Yajñyas, viz., Karma-yajñya, Tapa-yajñya, Japa-yajñya, Dhyāna-yajñya and Jñāna-yajñya are to be observed. Deep meditation and incessant worship make one possible to attain the highest state of spiritual life. The ascending order of spiritual life has been determined into six ways by the six status of the Reality, namely. Bhakta sthala, Maheśvara sthala, Prasādī sthala, Prāṇaliṅgī sthala, Śaraṇa sthala and finally Aikyasthala, worshipper is destined to be identified to the Reality by the proper adoption of the process as laid down in the scripture.

So Sūkṣmāgama provides the basis or foundation of the Vīraśaiva philosophy.[8]

With the union of Ādiśakti is of the nature of light both internally and externally, transcends the nature of Puruṣa, only accessible to mind. Such formless principle is known as Caraliṅga.

Śiva hymn is the supreme among all hymns. It removes the fear of birth and death. Out of eleven Śiva-hymns, the hymn of five letters is the supreme. This Aghora hymn (नमः शिवाय) that imparts all the desired and all other eternal and religious scriptures are emanated from and inspired by this great hymn. Brahmā, Viṣṇu, Rudra, Devendra, Gods, Āditya and nine planets etc. all spheres of creation, Gandharba, Kinnnara and all other celestial beings exist eternally by the power of the five syllable hymn. This five syllable hymn consists of few letters but pregnant with ideas. The hymn becomes six syllabled adding the 'praṇava' which has been used bboth in Veda and Āgama. So as a prefix it bestows the same result to both the hymns. Vāmadeva is the sage, Paṅkali is the metre and Lord Śiva is the deity of the hymn. Proper pronunciation putting 'namah' in the

beginnning. Nyāsa is to be observed properly. Firstly by hand, then face, ear, head are to be performed gradually Lord Śiva is to be meditated deeply. Śiva is to be contemplated as the nature of pure crystal, bearer of the crescent moon, adorned of the ornament of gems. He wears the skin of the tiger and adorned with the matted hair and is seated in lotus posture. He is the rider of the bull. Lord of the world possesing ever smiling lotus face. This Śiva is to be meditated upon in the lotus heart of the light of knowledge. Worship is to be done on the bank of the river, before sun, moon, with 'bilva patra', white and yellow flower, with sweet oder, milk and water of Ganges. Among all the hyms five-letter hymn is of most beneficial. Śiva is so kind that He is named as 'Bholenath'. The meaning of Śiva is goodness. Ultimate Roality Śiva manifests Itself in six forms namely (1) Mahāliṅga, (2) Prasādiliṅga, (3) Caraliṅga, (4) Śivaliṅga, (5) Guruliṅga and (6) Ācāraliṅga. This manifestation is for the benefit of the soul, the Aṅga. During the process of worship Aṅga aspires for the union with Liṅga and so Liṅga emanates Itself as per the spiritual necessity of the soul to impart the mercy. As Śiva and Śakti is identical, so Śakti also assumes the forms in accordance with the manifestation of Śiva named as (1) शान्त्यातीतोत्तरा, (2) शान्त्यातीता, (3) शान्ति, (4) इच्छा, (5) प्रतिष्ठा and (6) निवृत्ति. The first one i.e. शान्त्यातीतोत्तरा is also known as चित् शक्ति, second one i.e. शान्त्यातीता as पराशक्ति, third शान्ति is called आदिशक्ति, fourth one i.e. इच्छा is named as विद्याशक्ति, fifth प्रतिष्ठा is termed as ज्ञान-शक्ति and lastly निवृत्ति, the sixth one is indicated as Kriyā-Śakti. Thus one and the same Śakti is manifested as six forms, along with Liṅga, the ultimate Reality, Śiva. Since Śakti is imbibed in Śiva as identical, never apart, so, it is also manifested in six forms.

Śiva endowed with the manifested citśakti is known as Mahāliṅga which is transcendental, beyond the cycle of births (जनममरणादि रहित) and deaths, unblemished (निर्दुष्ट) a complete whole (परिपूर्ण) subtle (सूक्ष्म) devoid of all sufferings of the world (भवरोग

वियुक्त), unapproachable (अगम्य), only known by devotion (भावैक गम्य), of the nature of consciousness.

Śiva when endowed with Parāśakti is of the nature of effulgent light (ज्योतिरूप) eternal (नित्य), undestructible (नाश रहित), unapproachable with the senses (अतीन्द्रिय), only known through the knowledge (ज्ञानैकगम्य), of the nature of nector (अमृत) and the cause of all the manifestations परिणाम बीजम्. This manifestation of Śiva being associated with Parāśakti is devoid of all relativity i.e. irrelational (उपाधि रहितम्), the Sādākhya tattva is known as Prasāda Liṅga.

Manifestation of Śiva has been taken in this process.

There are seven crores of hymns that impart results and purify the worshippers, some hymns are related to Viṣṇu some are to Śakti and other minor deities. These deities provide results and then are fructified gradually. But Sūkṣmāgama asserts that those who worship Śiva hymn remain always sage and free from the fear of birth and death. Eleven hymns among them are very important and great Aghora hymns are the bestower of all boons. Those eleven hymns include six Ṣaḍaṅga hymns and five Brahma hymns. These hymns fulfil all kinds desires. Then Lord Śiva declares to Goddess Pāravatī that five-syllable-hymn (पञ्चाक्षर मन्त्र i.e. नमः शिवाय) is the supreme in all. All other hymns are the subhymns or helper hymns of the main Pañcākṣara hymn. All the deities like Brahmā, Viṣṇu, Rudra, Indra, Āditya etc. nine stars, Bhūh, Bhuvah etc. and the Lords of the various spheres, such as, Gandharva, Kinnar, Siddha and other holy species ever remain present in that hymn. This five syllable hymn is the essence of all hymns, the only cause of liberation. This divine hymn is the donor of all attainments and the revealer of the nature of all elements. It is the origin or the root of all vidyās. Pranava is regarded as the mother of all mantras i.e. all mantras acquir their lustre from this mother hymn letter has been originated from south face, some other letter has been originated from left face and the letter 'ma' has been originated from the

upper face. Thus three letters combining is regarded as Pranava. The letter A is of the nature of prana and will power, letter is Kriyā Śakti and M is (ज्ञान शक्ति) and Nāda is the real Śiva. The A is will power (इच्छा शक्ति), of the colour red, letter U is of the colour of black Nāda is endowed with three qualities A is of the nuture of Brahmā, letter U is of the nature of Viṣṇu letter म is न the nature fo Rudra. ॐ is Śadaśiva and Nāda is of the nature of Paraśiva. Thus Pranava contains five gods. Letter it should be contemplated as the state of waking, letter U as nāda as the state of dream. Letter म as Kala is regarded as the state of susupti, ॐ is to be contemplated as turyāvasthā and Śiva should be thought as Turyātīta state.

Praṇavapañcakopākodhār

Then the first letter अ is attached fifth letter U उ is to be attached and nada should be attached with म and is regarded as 'Sākalya Praṇava'.

अ, उ, म is known as udvūta शाम्भव दक्षिणोद्भवं प्रणव originated from south face.

अकारः पञ्चमोपेतो वर्गान्तो नादसंयुतः ।
चतुर्दशस्वरोपेतं सायुज्यं चोर्ध्वसम्भवम् ।।

Known as सायुज्यं चोर्ध्वसम्भवम्. By this hymn upper face is active.

This hymn is known as Praṇava पञ्चक स्वरूपम्.

प्रणवपञ्चकोद्धारः

आद्यं पञ्चमसंयुक्तं नादो मान्तेन संयुतः ।
साकल्यप्रणवो ज्ञेयः पूर्ववक्त्रसमुद्भवः ।।
अ,उ,म,ह=इति ।

स्वरादिपञ्चमयुतं षष्ठान्तं नादसंयुतम् ।
तृतीयसहितं देवि शाम्भवं दक्षिणोद्भवम् ।।
अ,उ,म,ह,इ=इति ।

वर्गान्तं स्वरवर्णादिपञ्चमं नादसंयुतम् ।
तथा स्वरयुतं सौख्यं पश्चिमाननसम्भवम् ।।
अ,उ,म,ह,इ=इति ।

आद्यं पञ्चमयुक्तं च नादो वर्गान्तसंयुतम् ।
एकादशयुतं प्रोक्तं सावश्यं चोत्तरोद्भवम् ।।
अ,उ,म,ह,ए=इति ।

अकारः पञ्चमोपेतो वर्गान्तो नादसंयुतः ।
चतुर्दशस्वरोपेतं सायुज्यं चोर्ध्वसम्भवम् ।।
अ,उ,म,ह,औ=इति ।

प्रणवपञ्चकस्वरूपम्

साकल्यं रक्तवर्णं च छन्दोऽनुष्टुप् तथा ऋषिः ।
सनत्कुमारो भूतं च पार्थिवं समुदीरितम् ।।
कर्म तत्त्वं तथेशाानः प्रोक्तमस्याधिदैवतम् ।
मात्राचतुष्कसहितं बीजं सर्वार्थसिद्धिदम् ।।
अञ्जनाभं शाम्भवं च त्रिष्टुप् छन्द उदीरितम् ।
भारद्वाज ऋषिर्भूतं सलिलं कर्तृतत्त्वकम् ।।
ईश्वरसत्वधिदैवं च पञ्चमात्रासमन्वितम् ।
सर्वसिद्धिप्रदं देवि साधकानामिदं परम् ।।
सौख्यं गोक्षीरसदृशं बृहतीच्छन्द ईरितम् ।
विश्वामित्र ऋषिश्चैव भूतं तेज उदीरितम् ।।
तत्त्वं समूर्तमाख्यातं ब्रह्मा चास्याधिदैवतम् ।
पञ्चमात्रात्मकं बीजमखिलार्थप्रसाधकम् ।।
कुङ्कुमाभं तु सावश्वं जगतीच्छन्द उच्यते ।
ऋषिर्गौतम इत्युक्तो वायुर्भूतमुदीरितम् ।।
अमूर्तं तत्त्वमाख्यातमीशस्तस्याधिदेवता ।
पञ्चमात्रासमायुक्तं सर्ववश्यकरं शुभम् ।।
सायुज्यं स्फटिकप्रख्यं गायत्रीच्छन्द ईरितम् ।
अगस्त्यो हि ऋषिश्चैव वियद्भूतमुदीरितम् ।।
शिवतत्त्वं समाख्यातमधिदैवं सदाशिवः ।
पञ्चमात्रात्मकं बीजं सायुज्यफलसाधकम् ।।

तस्मादिदं समस्तानामादिबीजमुदीरितम् ।
अनेन सहितो मन्त्रः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ।।

Reference

1. सादाख्यपञ्चकातीतो वेदवेदान्तगोचरः ।
षडध्वकर्ता देवेशः सर्वतत्त्वोपरि स्थितः ।। Sūkṣmāgama. I. 17
2. सृष्ट्यर्थं सर्वतत्त्वानां जगदुत्पत्तिकारणम् ।
योगिनामुपकाराय स्वेच्छयाऽचिन्तयच्छिवः ।। Sūkṣmāgama. I. 19.
3. तदेतत् त्रिविधं ज्ञेयं स्थूलं सूक्ष्मं परं तथा ।
लिङ्गमूर्त्यादिभेदेन दृश्यं स्थूलमिति स्मृतम् ।
योगिभिर्ज्ञानदृष्ट्या यद्ध्येयं तत् सूक्ष्ममुच्यते ।। Sūkṣmāgama. I. 27.
4. Sūkṣmāgama. I. 30-51.
5. आदौ तस्य स्वयं लीलाः पञ्चविंशतिभेदतः ।
सृष्टिस्थित्यन्तकरणास्ताः शृणु क्रमशोऽधुना ।। Sūkṣmāgama. I. 52.
6. सप्तकोटि महामन्त्रा विद्यन्ते लोकपावनाः । Sūkṣmāgama. III. 2.
7. पञ्चाक्षरो महामन्त्रः प्रणवेन युतः शिवे ।
षडक्षर इति प्रोक्तो मन्त्रराजाह्वयः परः ।। Sūkṣmāgama. IV. 35.
8. एवं समरसाद् भावादङ्गषट्स्थलयोगतः ।
यः पूजयति मां देवि वीरशैवः स उच्यते ।। Sūkṣmāgama. VI. 57.

✶

वीरशैव आगम में अष्टावरण

उपेन्द्र मणि
शोधछात्र
दी.द.उ.गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

महादेव, पशुपति, उमापति, सदाशिव, माहेश्वर, केदारेश्वर, आशुतोष, औघड़दानी, भगवान् शिव की महिमा से कौन परिचित नहीं है। शिव से सम्बन्धित धर्म ही शैव धर्म कहलाता है तथा उसके अनुयायियों को शैव कहा जाता है। शिव उत्तरवैदिककालीन नाम है, जो रुद्र से चलकर कल्याणकारी शिव तक तथा इसके आगे तांत्रिक् सम्प्रदाय तक चलता है। शिव, शब्द वश् कान्तों धातु से निष्पन्न है अर्थात् जिसको सब चाहते हैं, वही शिव है। शैव धर्म का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। हड़प्पा से प्राप्त पशुपति शिव की मुहरें तथा लिङ्गों की प्राप्ति इसे विश्व का प्राचीनतम धर्म मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है, यह सत्य, सनातन एवं सर्वव्यापी है। शैव धर्म के विकास के फलस्वरूप उनके अनुयायियों में विभिन्न प्रकार से शिव की आराधना का प्रचलन हुआ, जिसके कारण इसके विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ। शैवागम और वामनपुराण में शैव-मत के चार सम्प्रदायों पाशुपत, शैव, कापालिक और कालामुख का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में एक और नये सम्प्रदाय वीरशैवागम जिसे लिङ्गायत भी कहते हैं, का प्रादुर्भाव हुआ। यह मत २८–शैव आगमों पर आधारित है। वामन पुराण में इस सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आराध्य सम्प्रदाय के ब्राह्मण, मादिराज के पुत्र और कल्याणी के शासक कलचुरि विज्जल के प्रधान मन्त्री वासव को दिया जाता है। शैवागम के प्रमुख आचार्य हैं–एकोराम, पंडिताराध्य, विश्वेश्वराध्य। जो शिव के पाँच शिरों से उत्पन्न हुए थे। श्रीपति ने श्रीकर भाष्य में लिङ्गायत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का मूल उपनिषद् में बताया है। श्री शिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्तशिखामणि' वीर शैवागम का प्रमुख ग्रन्थ है। वीर शैवागम के प्रमुख सिद्धान्तों में पंचाचार अष्टावरण इत्यादि प्रमुख हैं। अष्टावरण आठ प्रकार के आवरण अष्टावरण कहलाते हैं। 'आव्रियते येन तद् आवरणम्' इसके अनुसार आच्छादित करना, ढकना, छुपाना, आश्रय इत्यादि अर्थ हैं। अष्टावरण के दो प्रयोजन हैं– पहला किसी को वस्तु का वास्तविक ज्ञान न होने देना और दूसरा सभी प्रकार की विनाशकारी शक्तियों से रक्षा करना। इस प्रकार आवरण शब्द से स्वरूप का आच्छादन और रक्षा का कवच, ये दोनों अर्थ सिद्ध होते हैं। वेदान्त-शास्त्र में आवरण को स्वरूप के आच्छादन के अर्थ में लिया गया है, किन्तु वीरशैव धर्म-दर्शन में उसे रक्षाकवच के अर्थ में लिया जाता है। चन्द्रज्ञानागम में–

गुरुलिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।।
इमानि शिवभक्तानां भवदोषततेः सदा ।
निवारणैककार्याणि ख्यातान्यावरणाख्यया ।।

इस प्रकार–१. गुरु, २. लिंग, ३. जंगम, ४. पादोदक, ५. प्रसाद, ६. विभूति, ७. रुद्राक्ष और ८. मन्त्र–इन आठों को अष्टावरण की संज्ञा दी गई है। जैसे युद्धभूमि में योद्धा शत्रुओं के शस्त्रप्रहार से अपने शरीर की रक्षा के लिये कवच धारण करता है, उसी प्रकार दीक्षाप्राप्त भक्त की काम, क्रोध आदि वृत्तियों से सुरक्षा इन आठों से होती है, अत: इनको अष्टावरण कहते हैं। ये आठों मोक्ष की प्राप्ति में सहायक बन जाते हैं। इनमें गुरु, लिंग और जंगम ये तीन पूजनीय हैं। विभूति, रुद्राक्ष और मन्त्र ये तीन पूजा के साधन हैं। पादोदक और प्रसाद ये दोनों पूजा के फल हैं। वीरशैव धर्म का रहस्य इसी में छिपा है।

१. श्रीगुरु–उपर्युक्त आठ आवरणों में गुरु ही पहला आवरण है। शिष्य का योगक्षेम गुरु के ऊपर निर्भर होने के कारण गुरु अपने शिष्य के आणव, मायीय तथा कार्मिक नामक त्रिविध मलों को वेधा, मान्त्री एवं क्रिया नामक दीक्षाओं के द्वारा निवारण करके उसके शरीर, मन तथा बुद्धि को परिशुद्ध कर देता है। साथ ही उपासना के लिये इष्टलिंग, प्राणलिंग तथा भावलिंग की उपासना-विधि को भी समझा देता है। भवारण्य में भटकने वाले शिष्य की इस प्रकार काम, क्रोध आदि दुष्ट वृत्तियों से गुरु रक्षा करता है। इस प्रकार गुरु अपनी समस्त शक्तियों से शिष्य के लिए एक सुदृढ़ रक्षा-कवच का निर्माण कर आवरण पदवाच्य होता है।

२. लिंग–सद्‌गुरु से प्राप्त इष्ट, प्राण और भावलिंग साधक का दूसरा आवरण माना जाता है। कोई भी व्यक्ति दुष्ट कार्य को करते समय दूसरों से उसको छिपाने का प्रयत्न करता रहता है। लेकिन वह सर्वव्यापी भगवान् से कुछ नहीं छिपा सकता है। वह सर्वव्यापी भगवान् ही इष्टलिंग के रूप में शरीर में, प्राणलिंग के रूप में मन में तथा भावलिंग के रूप में बुद्धि में गुरु की कृपा से प्रकट हो जाते हैं, अत: शिवदीक्षा-सम्पन्न साधक को प्रतिक्षण अपने शरीर, मन एवं बुद्धि में भगवान् के अस्तित्व का बोध होता रहता है।

वीरशैव धर्म का साधक अपने गुरु के उपदेश से मन और बुद्धि में भगवान् के अस्तित्व को प्राणलिंग तथा भावलिंग के रूप में जानते हुए क्रिया-दीक्षा में प्राप्त इष्टलिंग को अपने स्थूल शरीर के वक्षस्थल में सर्वदा धारण करके स्थूल शरीर से इष्टलिंग की पूजा तथा मन और बुद्धि से प्राणलिंग एवं भावलिंग का अनुसंधान शरीर, वाणी और मन में निरन्तर करता हुआ अपने अन्त:करण को परिशुद्ध कर लेता है। तब इस परिशुद्ध साधक का सांसारिक विषयों के प्रति मोह क्षीण हो जाता है। इस प्रकार ये त्रिविध लिंग उपासना

के माध्यम से साधक को अध:पतन से बचाते हैं, अत: वीरशैव आचार्यों ने इस त्रिविध लिंगों को दूसरा आवरण, अर्थात् रक्षाकवच माना है।

३. जंगम—साधक का तीसरा आवरण जंगम है। जंगम शब्द का अर्थ शिवज्ञानसम्पन्न महापुरुष होता है।

जानन्त्यतिशयाद् ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम् ।
स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिताः ।।

(सि.शि. ११.३६)

सिद्धान्तशिखामणि के इस वचन में जंगम का लक्षण स्पष्ट किया गया है। ऐसे शिवयोगी लोग निरन्तर संचरण करते हुए ज्ञानोपदेश के द्वारा भक्तजनों के अज्ञान को दूर करके सभी को सन्मार्ग में लाने के लिये हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं।

समाज में साधकों को अपने आचरण एवं आत्मज्ञान का बोध कराकर उन्हें पतित होने से बचाने वाले एक महापुरुष की नितान्त आवश्यकता होती है। वीरशैव धर्म में इस आवश्यकता को पूरा करने वाला महापुरुष ही 'जंगम' है। जंगम अपने उपदेशों के द्वारा साधकों को सजग करके सदा उनकी रक्षा करता रहता है। अत: वीरशैव सिद्धान्त में जंगम को तीसरा आवरण माना गया है।

४. भस्म—अष्टावरण में चौथा स्थान भस्म का है। वीरशैव धर्म में आगम और उपनिषदों में बताई गई पद्धति से शुद्ध गोमय से भस्म का निर्माण किया जाता है। इसके निर्माण करने की विधि कल्प, अनुकल्प, उपकल्प तथा अकल्प नाम से चार प्रकार की है (सि.शि. ७.१४.१८७)। इनमें कल्पविधि से तैयार किया गया भस्म सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुखों से उत्पन्न नन्दा, भद्रा, सुरभि, सुशीला तथा सुमना नाम की पाँच प्रकार की गायों के गोमय से सिद्ध किया गया वह भस्म विभूति, भस्म, क्षार एवं रक्षा नामों से व्यवहृत होता है।

अत्यन्त भक्तिभाव से धारण करनेवाले को ऐश्वर्य प्रदान करने के कारण उसे विभूति, परमात्म-तत्त्व को भासित करने के कारण भसित, पापों की भर्त्सना करने के कारण भस्म, तापत्रयों से प्राप्त होने वाली विपत्तियों का क्षय करने के कारण क्षार, तथा भूतप्रेत, पिशाच आदि से सुरक्षा करने के कारण इसे 'रक्षा' कहा गया है।

भस्म भक्तों को बाह्य शारीरिक चर्मरोगों से तथा आन्तरिक विषय की वासनाओं से सुरक्षित करके उसके साधना मार्ग में सहायक होता है। अत: इसको भी आवरण रूप से अंगीकार किया गया है।

५. रुद्राक्ष—आवरणों में रुद्राक्ष पाँचवाँ आवरण माना जाता है। भगवान् रुद्र के अक्ष

(नेत्र) की बूँदों से रुद्राक्ष की उत्पत्ति हुई है। रुद्र के सूर्यनेत्र से कपिल वर्ण के बारह, चन्द्र नेत्र से शुभ्र वर्ण के सोलह और अग्निनेत्र से कृष्ण वर्ग के दस, इस तरह कुल अड़तीस प्रकार के रुद्राक्ष उत्पन्न हुए हैं।

वीरशैवों के लिये अपने इष्टलिंग की पूजा करते समय शिखा के स्थान पर एक मुख का एक रुद्राक्ष, शिर पर दो मुख, तीन मुख और बारह मुख के एक-एक इस प्रकार तीन रुद्राक्ष, सिर के चारों ओर ग्यारह मुख के पैंतीस रुद्राक्ष, दोनों कानों में पाँच मुख, सात मुख और दस मुख के दो-दो इस तरह छः छः रुद्राक्ष, कण्ठ में छः मुख के सोलह और आठ मुख के सोलह, इस तरह बत्तीस रुद्राक्ष, वक्षस्थल पर चार मुख के पचास रुद्राक्ष, दोनों बाहुओं में तेरह मुख के सोलह-सोलह रुद्राक्ष, दोनों मणिबन्धों (कलाईयों) में नौ मुख के बारह-बारह रुद्राक्ष और चौदह मुख के एक सौ आठ रुद्राक्ष यज्ञोपवीत के रूप में धारण करने का विधान है। (सि.शि. ७.५४-८५)। रुद्राक्ष को शरीर पर धारण करने से रक्तचाप, हृदयविकार आदि भयानक रोगों से भी निवृत्त होने का प्रमाण मिलता है। साथ ही रुद्र की पावन सृष्टि के समान रुद्राक्ष के शरीर पर रहने से किसी दुष्ट शक्ति की दृष्टि हमारे ऊपर कोई विपरीत प्रभाव नहीं डाल पाती। इस तरह रुद्राक्ष भी साधक के बाह्य तथा अन्तरंग की परिशुद्धि करके धारक की रक्षा करता है। अतः रुद्राक्ष का भी आवरण कोटि में समावेश किया गया है।

६. मन्त्र–अष्टावरण में छठा आवरण मन्त्र होता है। ''मननात् त्राणधर्मोऽसौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तितः'' संकेतपद्धति के इस वचन के अनुसार जिसके मनन से साधक की रक्षा होती है, वही मन्त्र है। इस तरह के मन्त्र एक या दो ही नहीं हैं, शास्त्रों में उनकी संख्या सात करोड़ बताई गई है। इस आचार्योक्ति के अनुसार उन सात करोड़ मन्त्रों में पंचाक्षर मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। यही वीरशैवों का जप्य मन्त्र है।

इस मन्त्र के मूल, विद्या, शिव, शैवसूत्र तथा पंचाक्षर–ये पाँच नाम हैं (सि.शि. ८.२३)। अन्य सभी मन्त्रों का यही उद्गम स्थान है, अतः इसे 'मूल' यह नाम दिया गया है। इस मन्त्र के मनन से शिव और जीव की एकता की बोधिका शुद्धविद्या का उदय होता है, अतः इसे 'विद्या' कहते हैं। इसके जप से अनेक कल्याण परम्पराओं की प्राप्ति होने से इसे 'शिव' कहा गया है। शिव-सम्बन्धी सभी विषय इन्हीं पाँच अक्षरों में अत्यन्त संक्षेप में प्रतिपादित हैं, अतः इसे 'शैवसूत्र' कहते हैं। 'नमः शिवाय' इन पाँच अक्षरों से युक्त होने के कारण इसे 'पंचाक्षर' कहा गया है। यही मन्त्र जब ऊँकार से युक्त हो जाता है, तब षडक्षर कहलाता है।

वीरशैव सिद्धान्त में मन्त्र का जप वाचिक, उपांशु एवं मानसिक भेद से तीन प्रकार का माना गया है। उसमें मानसिक जप अधिक फलदायी होने से उसे श्रेष्ठ माना गया है

(सि.शि. ८.२७-३२)। गुरुमुख से प्राप्त इस मन्त्र का निरन्तर मानसिक जप करते रहने से मन पवित्र होने के साथ-साथ अन्त में शिव-जीव का ऐक्यभाव प्राप्त होता है। इस तरह जप करने वाले साधक को मन्त्र से भी रक्षा मिलने के कारण मन्त्र भी एक आवरण (रक्षाकवच) है।

७. पादोदक—गुरु, लिंग तथा जंगम के चरणामृत को पादोदक कहते हैं।

पाकारं परमं ज्ञानं दीकारं दीपनाशनम् ।
दकारं दह्यते जन्म ककारं कर्मनाशनम् ।।

पादोदक परम ज्ञान को देने वाला, दोषों का नाश करने वाला, पुनर्जन्म को दग्ध करने वाला तथा सर्वविध दुष्ट कर्मों का नाश करने वाला है।

यह पादोदक गुरु की पादपूजा से प्राप्त होने पर गुरुपादोदक, जंगम के पाद की पूजा से प्राप्त होने पर जंगम-पादोदक और इष्टलिंग की पूजा से प्राप्त होने पर लिंग-पादोदक कहलाता है। इन्हीं को क्रमशः दीक्षा-पादोदक, शिक्षा-पादोदक और ज्ञान-पादोदक भी कहते हैं।

पादतीर्थं सदा पेयं भवबन्धमुमुक्षुभिः ।
गुरोरपीष्टलिङ्गस्य चरस्यापि विशेषतः ।।

(च.ज्ञा.क्रिया. ५.१६)

आगम की इस उक्ति के अनुसार वीरशैव लोग त्रिविध पादोदक का सेवन करते हैं। इस प्रकार पादोदक का सेवन करने वालों के सभी दोषों को हटाकर उन्हें सन्मार्ग में प्रवृत्त कराकर कुमार्ग से साधक की रक्षा करने के कारण 'पादोदक' को भी आवरण माना गया है।

८. प्रसाद—वीरशैव अष्टावरण में अन्तिम आवरण प्रसाद है। अपने इष्टलिंग, गुरु और जंगम को अर्पण करने के बाद अवशिष्ट अन्न को प्रसाद कहते हैं।

भुञ्जीयाद् रुद्रभुक्तान्नं रुद्रपीतं जलं पिबेत् ।
रुद्राघातं सदा जिघ्रेदिति जाबालिकी श्रुतिः ।।
अर्पयित्वा निजे लिङ्गे पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
अन्नाद्यं सर्वभोज्यं च स्वीकुर्याद् भक्तिमान्नरः ।।

(सि.शि. ९.७०-७१)

इस आचार्योक्ति में पदार्थों का उपभोग करने से पहले भगवदर्पित करने को कहा गया है। यह प्रसाद जब गुरु से प्राप्त होता है, तो शुद्ध प्रसाद, इष्टलिंग से प्राप्त होता है, तो सिद्ध प्रसाद और जंगम से प्राप्त होता है, तो प्रसिद्ध प्रसाद कहलाता है। आहार की शुद्धि मन की शुद्धि में कारण बनती है, क्योंकि भुक्त अन्न के सूक्ष्म परिणाम से मन

प्रभावित होता है। मन की शुभ और अशुभ वासनाओं के कारण ही मनुष्य को सद्‌गति तथा दुर्गति मिलती है।

सद्‌गति को पाने की इच्छा वाले व्यक्ति को अपने मन को सद्वासनाओं से संयुक्त कर सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करना चाहिये। उस तरह की प्रसन्नता की प्राप्ति–

नैर्मल्यं मनसो लिङ्गं प्रसाद इति कथ्यते ।
शिवस्य लिङ्गरूपस्य प्रसादादेव सिद्ध्यति ।।

(सि.शि. ११.६)

सिद्धान्तशिखामणि के इस वचन के अनुसार प्रसाद-सेवन से ही सिद्धि मिलती है। अत: साधक को सदा प्रसादभोजी होना चाहिये। इस तरह यह प्रसाद मन की शुद्धि के द्वारा हमारी रक्षा करता है, अत: प्रसाद भी एक आवरण है। इस प्रकार वीरशैव सिद्धान्त में साधक के रक्षाकवच के रूप में माने गये इन आठों आवरणों में मोक्ष को सहकारी साधन माना गया है।

*

वीरशैव धर्म एवं दर्शन में षड्स्थल सिद्धान्त

दीपेश कुमार शुक्ल
शोधछात्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जिस प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय में अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय हैं, उसी प्रकार शैव सम्प्रदाय में भी शैव सिद्धान्त द्वैतवादी, प्रत्यभिज्ञादर्शन अद्वैतवादी और वीरशैव दर्शन द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैतवादी हैं। वीरशैव को शक्तिविशिष्टाद्वैत भी कहते हैं। वीरशैव दर्शन का केन्द्र कर्नाटक प्रदेश रहा है। वीरशैव मत के संस्थापक मादिराज तथा मादम्ब का पुत्र वसव था। इनका काल १२वीं शताब्दी है। श्री शिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्त शिखामणि' तथा श्रीपति का 'ब्रह्मसूत्र' पर 'श्रीकरभाष्य' वीरशैव दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं। वीरशैव धर्म दर्शन का मूल २८ आगमों को ही माना गया है।

'सिद्धान्तशिखामणि' में 'वीर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है।

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ५.१६)

यहाँ 'वी' शब्द का अर्थ शिव तथा जीव इन दोनों के अभेद का बोधक विद्या होता है और 'र' शब्द का अर्थ उस विद्या में रमण करने वाला शिवभक्त है। इस प्रकार शिव और जीव का अभेद बोधन करानेवाली विद्या में रमण करने वाले शिवभक्त ही वीरशैव कहलाते हैं। इस वीरशब्द के निर्वचन पर डॉ. एम.एन. दासगुप्त ने एक आक्षेप उपस्थित करते हैं, जो कि सार्थक प्रतीत नहीं होता है। गुप्त जी के अनुसार 'वीर' शब्द ऐसा कोई विशेष चिह्न नहीं है, जिससे हम वीरशैवों को अन्य धर्मों के अनुयायियों से पृथक् कर सकें। इन्होंने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन का इतिहास' भाग ४ एवं ५ में यह माना है कि वीरशैव अपने मत के अनुमोदन में आक्रमणात्मक या सुरक्षा की प्रवृत्ति के कारण वीर कहलाये।

वीरशैव के अनुसार यह संसार परशिव से उत्पन्न हुआ है, अतः सत्य है–

शिवतत्त्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान् न भिद्यते ।

(सिद्धान्तशिखामणि)

सत्य और नित्य होने के कारण संसार उत्पत्ति विनाशरहित है। उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव तथा संहार का अर्थ तिरोभाव है। जगत् शिव का परिमाण है। वीरशैव मत के

संस्थापक बसव ने 'षड्स्थल सिद्धान्त' के विषय में कुछ नहीं कहा है। षड्स्थल का सम्पूर्ण सिद्धान्त जो कि वीरशैव विचारधारा का सारभूत है, इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा संसार को ईश्वर में स्थित एवं उससे अभिन्न मानना चाहिए। 'षड्स्थल' तथा लिङ्ग धारण के सिद्धान्त 'प्रभुलिङ्ग लीला' के १६वें अध्याय में जहाँ अल्लमप्रभु वसव को शिक्षा दे रहे हैं, वहाँ पर षड्स्थल का उल्लेख है। इसके अनुसार एक जोड़े वाले तीन वर्गों में छः स्थल हैं। इस प्रकार स्थूल से संयोजित दो गाठें 'भक्त' तथा 'माहेश्वर' के नाम से जानी जाती हैं। सूक्ष्म के साथ प्रारम्भ से संयोजित 'प्राण' तथा 'प्रसादलिङ्गस्थल' कहलाते हैं। जो कारण के साथ हैं, वे भावात्मक रूप के हैं तथा 'शरण' एवं 'ऐक्यस्थल' कहलाते हैं। अन्य रचनाओं यथा–बसवराजीय, वीरशैवागम आदि में स्थलों की संख्या १०१ तक पहुँच गयी है। प्रभुलिङ्ग लीला में यह वर्णन मिलता है कि चन्नवसव षड्स्थल का रहस्य जानते थे, किन्तु यह नहीं जानते थे कि वास्तव में वह रहस्य क्या है? इस सम्बन्ध में गुरु, लिङ्ग, चर, प्रसाद तथा पादोदक का भी उल्लेख है। श्रीपति के भाष्य, मयिदेव के 'अभिनवसूत्र' तथा 'प्रभुलिङ्गलीला' एवं 'वसवपुराण' में केवल छः स्थलों का उल्लेख है।

वीरशैव के अनुसार यह संसार परशिव से उत्पन्न हुआ है, अतः सत्य है। परशिव की वह शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में आश्रित होकर जीव के जीवभाव को हटाकर शिवस्वरूप को प्राप्त करने में उसकी सहायक बनती है। जिस प्रकार छः रसों से युक्त होकर षड्रस स्वरूप बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति भी जीवात्मा के भक्त माहेश्वर, प्रसादी प्राणलिङ्गी, शरण और ऐक्य नामक षड्विध आध्यात्मिक प्रगति की छः अवस्थाओं के रूप में परिणत हो जाती है। इसमें षड्विध भक्ति भी क्रमशः–श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द और समरसभक्ति के रूप में समाहित है।

१. भक्त–

शैवी भक्तिः समुत्पन्ना यस्यासौ भक्त उच्यते ।

(सिद्धान्तशिखामणि)

अर्थात् जब जीवात्मा अपने मूलस्वरूप पर शिव के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होकर उसकी पूजा जप आदि में तत्पर हो जाता है, तब उसे भक्त कहते हैं। इसमें रहने वाली भक्ति ही श्रद्धा कहलाती है। श्रद्धाभक्ति युक्त वह साधक तप, कर्म, जप, ध्यान तथा ज्ञान नामक शिव के पंच यज्ञ में तत्पर रहता है।

२. माहेश्वर–सिद्धान्तशिखामणि में माहेश्वर स्थल का वर्णन इस प्रकार है–

भक्तेर्यदा समुत्कर्षो भवेद् वैराग्यगौरवात् ।
तदा माहेश्वरः प्रोक्तो भक्तः स्थिरविवेकवान् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि)

अतः श्रद्धायुक्त भक्ति का जब उत्कर्ष हो जाता है, तब वह भक्ति निष्ठा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस निष्ठाभक्ति से युक्त भक्त ही 'माहेश्वर' कहलाता है। माहेश्वर ही श्रेष्ठ है और मुक्तिप्रदायक है। यह मुक्ति का दूसरा सोपान कहा गया है।

३. प्रसादी–

लिङ्गनिष्ठादिभावेन ध्वस्तपापनिबन्धनः ।
मनःप्रसादयोगेन प्रसादीत्येष कथ्यते ।।

(सिद्धान्तशिखामणि ११.२)

अर्थात् अपने उपास्य इष्टलिङ्ग में निष्ठा रखने वाले माहेश्वर के जब सभी पाप ध्वस्त होकर मन अत्यन्त निर्मल व प्रसन्न हो जाता है, तब वह प्रसन्न मन माहेश्वर 'प्रसादी' कहलाता है। प्रसादी में रहने वाली भक्ति को अवधान भक्ति कहते हैं। अत्यन्त सावधानी को अवधान कहते हैं।

४. प्राणलिङ्गी–

लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्तिः प्राणरूपिणी ।
तद्रूपलिङ्गविज्ञानी प्राणलिङ्गीति कथ्यते ।।

(सिद्धान्तशिखामणि)

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर तुषारकण उसके प्रकाश में विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार अपनी चिद्रूप ज्योति में प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। अतः प्राणशक्तिविशिष्ट चित् तत्त्व को प्राणलिङ्ग कहते हैं। उस प्राणलिङ्ग का उपासक 'प्राणलिङ्गी' कहलाता है। इसे अनुभव भक्ति कहते हैं। अनुभव भक्ति से युक्त प्राणलिङ्गी की यह स्थिति मुक्तिमार्ग में चतुर्थ सोपान है।

५. शरण–

सतीव रमणे यस्तु शिवे भक्तिं विभावयन् ।
तदन्यविमुखः सोऽयं ज्ञातः शरणनामवान् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि)

अर्थात् जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री प्रत्येक प्रसंग में अनन्यभाव से अपने पति की ही शरण में जाती है, उसी प्रकार जब साधक अन्यान्य देवताओं में आशक्ति को छोड़कर अपने इष्टदेव शिव के प्रति ही अनन्यभाव से शरणागत हो जाता है, तब उसे शरण कहते हैं। इस अवस्था में साधक शिवानन्द का अनुभव करता है। अनुभूयमान उस आनन्द को ही आनन्द भक्ति कहते हैं। साधक की यह अवस्था मुक्ति का पंचम सोपान है।

६. ऐक्य–

प्राणलिङ्गादियोगेन सुखातिशयमेयिवान् ।
शरणाख्यः शिवेनैक्यभावनादैक्यवान् भवेत् ।।

(सिद्धान्तशिखामणि)

अर्थात् परशिव का अनन्य शरणागत साधक जब शिव के साथ समरस हो जाता है, तब वह ऐक्य कहलाता है, इनकी समरस भावना ही समरस भक्ति है। जैसे जल में जल तथा अग्नि में अग्नि अपने मूल स्वरूप में समरस हो जाते हैं। यह भक्ति की अन्तिम तथा परिपूर्ण अवस्था है। यह मुक्ति का चरम मार्ग है।

इस प्रकार वीरशैव दर्शन या शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में इन छः स्थलों को भक्ति के छः चरण या मुक्ति के छः सोपान के रूप में देखा जा सकता है। इन षड्स्थलों की परिकल्पना बौद्ध दर्शन के अष्टाङ्गिकमार्ग, योगदर्शन के अष्टांग योग तथा पंचमहाव्रतों आदि से अभिप्रेरित दिखायी पड़ती है। इन षड्स्थलों या षड्विध भक्ति को अपनाकर भक्त जीवन के दु:खों का नाशकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जैसे व्यावहारिक ज्ञान में पुत्र के जन्म के लिए कारणभूत माता ही उसे अपने पिता का ज्ञान करती है, वैसे ही जीवात्मा की उत्पत्ति के लिए कारणभूत शिव की शक्ति ही भक्ति के रूप में जीवात्मा में प्रविष्ट होकर उसकी संकुचित शक्ति का विकास कर अपने मूल स्वरूप शिव का ज्ञान कराती है तथा उसके साथ समरस बना देती है।

अतः वीरशैव दर्शन में षड्स्थल सिद्धान्त एक मुक्तिमार्गी सिद्धान्त के रूप में दिखायी पड़ता है।

✶

About the Book

Siddhānta Śikhāmaṇi is the core book of Vīra Śaiva religion and philosophy. It includes all the philosophical and religious aspects of the Vīra Śaiva culture.

Learned scholars have propagated the teachings from various standpoints. People are not aware that the sect has been spread in Northern India and Tamil Nadu also apart from Karnataka and Maharashtra and Andhra Pradesh. Scholars have also presented that important cultural information of Vīra Śaivism. There are some more articles on different philosophical points.

It is a very happy augury for me that I have been entrusted with the responsibility of compiling the whole thing.

I pray that may God showers his grace to all.

Editor

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
डी. 35/77, जंगमवाडीमठ
वाराणसी-221001

ISBN : 978-93-82639-27-5

Price : Rs. 300.00